राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020 के अनुरूप

चार वर्षीय स्नातक कार्यक्रम (FYUP) के लिए

पाठ्यक्रम

(मुक्त दूरस्थ शिक्षा माध्यम)

हिंदी विभाग

प्रथम सत्र

दूरस्थ शिक्षा संस्थान

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय (केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
रोनो हिल्स, दोइमुख, अरुणाचल प्रदेश- 791112

पाठ्यक्रम अध्ययन समिति के सदस्य :

- प्रो. ओकेन लेगो : विभागाध्यक्ष,हिंदी विभाग एवं अध्यक्ष, पाठ्यक्रम अध्ययन समिति
- प्रो. श्याम शंकर सिंह : भाषासंकयाध्यक्ष, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
- प्रो. असान रेड्डी : निदेशक दूरस्थ शिक्षा केंद्र, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
- प्रो. सुनील बाबूराव कुलकर्णी : निदेशक, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
- प्रो. अखिलेश शंखधर : हिंदी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय
- प्रो. कृष्ण चन्द्र मिश्र : अंग्रेजी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
- डॉ. मियाजी हजाम : सह प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
- डॉ. जोरम यालाम नाबाम : सह प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
- डॉ. सोनम वांङमू : सहायक प्रोफ़ेसर, बी. आ. शा. महाविद्यालय,लेखी
- डॉ. जमुना बीनी : सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
- डॉ. अभिषेक कुमार यादव : सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन :

- डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय : हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय

संपादन सहयोग : डॉ. तुनुंग ताबिन

पाठ लेखक

- **इकाई 1 से 4 के लेखक** : प्रो. अमरेन्द्र त्रिपाठी,
  हिंदी विभाग, इलाहबाद विश्वविद्यालय

मुद्रण प्रस्तुति :

- डॉ. एन. टी. रिकाम : **कुलसचिव,** राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स
  अरुणाचल प्रदेश-791112 वर्ष-2024

- **सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को दूरस्थ शिक्षा केंद्र, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।**

प्रस्तावना

दूरस्थ शिक्षा संस्था, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय द्वारा मुक्त दूरस्थ अध्ययन के अंतर्गत चार वर्षीय हिंदी स्नातक प्रतिष्ठा पाठ्यक्रम के अंतर्गत प्रथम सत्र का पाठ्यक्रम प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020के आलोक में पाठ्यक्रम निर्माण समिति के दिए गए दिशा-निर्देशों के अनुपालन में इस पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया है। इस सम्पूर्ण पाठ्यक्रम की संरचना इस प्रकार की गई है कि इसके अध्ययन के पश्चात हिंदी साहित्य के विद्यार्थी यह जान सकेंगे कि साहित्य का अध्ययन कैसे किया जाए, उसकी समीक्षा कैसे की जाए और दिए गए पाठ को पढ़ने की समझ किस प्रकार विकसित की जाए ताकि विद्यार्थी साहित्य के उद्देश्य से भली-भाँति परिचित हो सके।

इस पाठ्यक्रम के निर्माण के दौरान क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और वैश्विक संदर्भों के अनुरूप विकल्प रखे गए हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020के अनुरूप यह पाठ्यक्रम तैयार किया गया है। इस पाठ्यक्रम में हिंदी साहित्य के सभी कालखंडो, प्रवृत्तियों, लेखकों, विविध विषय-वस्तु और विधागत विभाजन आदि के समायोजन द्वारा पाठ्यक्रम को सर्वसमावेशी बनाया गया है।

इस पत्र का प्रथम इकाई हिंदी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल से सम्बन्धित है । इस पत्र के अध्ययन से विद्यार्थी हिंदी साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल की युगीन परिस्थितियों , प्रवृत्तियों एवं प्रमुख कवियों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

इस पत्र की दूसरी इकाई में चंदबरदाई और अमीर खुसरो की चयनित रचनाओं की व्याख्या , समीक्षा तथादोनों रचनाकारों की काव्यगत विशेषताओं वर्णन किया गया है ।

इस पत्र की तीसरी इकाई कबीर और जायसी की काव्य-रचनाओं पर आधारित है। इसके अध्ययन से विद्यार्थी कबीर और जायसी के काव्य-वैभव से परिचित हो सकेंगे। साथ ही कबीर की भक्ति भावना और पद्मावत के सन्दर्भ में सूफी काव्य-परम्परा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

इस पत्र की चतुर्थ इकाई में विद्यार्थी सूरदास और तुलसीदास की भक्ति ,वात्सल्य ,भावना--समन्वयभावना तथा अन्य काव्यगत विशेषताओं को पढेंगे ।

प्रथम सत्र

IDE-HIN-CC-1110

हिंदी साहित्य आदिकाल से भक्तिकाल :
(इतिहास एवं रचनाएँ)

क्रेडिट	4 :
पूर्णांक	100 :
अभ्यन्तर	:30
सत्रांत परीक्षा	: 70

उद्देश्य : Learning) Objective L(Os

L इस पत्र .1Oके अध्ययन से विद्यार्थी हिंदी साहित्य के आदिकाल की युगीन परिस्थितियों , प्रवृत्तियों एवं प्रमुख कवियों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

Lइस पत्र के अध्ययन से विद्यार्थी चंदबरदाई और अमीर खुसरो की चयनित रचनाओं की .2O रचनाकारों की काव्यगत विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त समीक्षा तथा दोनों ,व्याख्याकर सकेंगे।

L-विद्यार्थी कबीर और जायसी की काव्य .3Oदृष्टि एवं काव्य-वैभव से परिचित हो सकेंगे। साथ ही कबीर की भक्ति भावना और पद्मावत के सन्दर्भ में सूफी काव्य-परम्परा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

L-समन्वय ,वात्सल्य ,भावना- सूरदास और तुलसीदास की भक्तिविद्यार्थी .4Oभावना तथा अन्य काव्यगत विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

उपलब्धियां –Course) OutcomeC(Os

C इस पत्र .1Oके अध्ययन से विद्यार्थियों ने हिंदी साहित्य के आदिकाल की युगीन परिस्थितियों , ख कवियोंप्रवृत्तियों एवं प्रमु के बारे में ज्ञान प्राप्त किया।

Cइस पत्र के अध्ययन से विद्यार्थियों ने चंदबरदाई और अमीर खुसर .2Oो की चयनित रचनाओं की व्याख्या समीक्षा तथा दोनों रचनाकारों की काव्यगत विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त ,किया।

C-विद्यार्थी कबीर और जायसी की काव्य .3Oदृष्टि एवं काव्य-वैभव से परिचित हुए। साथ ही कबीर की भक्ति-भावना और पद्मावत के सन्दर्भ में सूफी काव्य-परम्परा का परिचय प्राप्त किया।

C-समन्वय ,वात्सल्य ,भावना-विद्यार्थी सूरदास और तुलसीदास की भक्ति .4Oभावना तथा अन्य काव्यगत विशेषताओं से परिचित हुए।

इकाई	विषय	अध्ययन अवधि	उपलब्धियाँ (Course Outcome)
1	**आदिकाल:** साहित्य का इतिहास: काल विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण, आदिकालीन साहित्य की परिस्थितियाँ एवं प्रवृत्तियाँ। **भक्तिकालः** भक्तिकाल की पृष्ठभूमि; परिस्थितियाँ; वर्गीकरण तथा सामान्य प्रवृत्तियाँ, निर्गुण एवं सगुण काव्यधाराओं की ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, कृष्णाश्रयी तथा रामाश्रयी काव्यधाराओं का परिचय तथा विशेषताएँ ।	30	C1
2	**क. चन्दबरदाई :** पुस्तक: आदिकालीन काव्य – सं. डॉ. वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन) अथ पद्मावती समय : प्रारंभ से 10 (दस) पद । आलोचना: पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौन्दर्य, रासो की प्रामाणिकता, अथ पद्मावती समय का काव्य-सौन्दर्य। **ख. अमीर खुसरो :** (पाठ्य पुस्तक: अमीर खुसरो: व्यक्तित्व और कृतित्व – परमानन्द पांचाल) • कव्वाली- घ (1) • दोहे :– (1) गोरी सोवे सेज पर (2) खुसरो रैन सुहाग की (3) देख मैं (4) चकवा-चकवी (5) सेज सुनी	30	C2

3	घ पाठ्य-पुस्तकः प्राचीन काव्य संग्रह; सम्पा.- राजदेव सिंह; वाणी प्रकाशन, दिल्ली **क. कबीर :** पाठांश: प्रारम्भ के पाँच सबद आलोचना : कबीर की भक्ति ; सामाजिक चेतना; काव्य रूप **ख. जायसी :** पाठांश : उपसंहार खण्ड आलोचना : सूफी काव्य परम्परा और पद्मावत ; जायसी का काव्य-वैभव	30	C3
4	**क. सूरदासः** पाठ्य पुस्तकः प्राचीन काव्य संग्रह; सम्पा.- राजदेव सिंह; वाणी प्रकाशन, दिल्ली। पाठांश : विनय के पद - 1, 5 तथा भ्रमरगीत प्रसंग- पद संख्या: 3,4,5,6,7 तथा 8 आलोचना : सूर की भक्ति-भावना ; वात्सल्य वर्णन; भ्रमरगीत काव्य परम्परा **ख. तुलसीदास :** पाठ्यपुस्तक : काव्य-वैभव : सं. दूधनाथ सिंह, लोकभारती प्रकाशन पाठांश : समस्त पद । आलोचना : भक्ति-भावना; काव्यगत विशेषताएँ; समन्वय- भावना	30	C4
कुल अध्ययन-अवधि		120	

	PO1	PO2	PO3	PO4	PSO1	PSO2	PSO3	PSO4	PSO5
CO1	3	2	2	-	3	2	2	-	3
CO2	3	3	2	1	3	3	3	1	3
CO3	3	3	2	2	3	3	3	2	3
CO4	3	3	2	2	3	3	3	2	3
Average	3	2.75	2	1.25	3	2.75	2.75	1.25	3

कार्य : पद्धति -दनसम्पा-परामर्श (काउंसलिंग), विचारविमर्श-, समूहचर्चा-, प्रदत्त कार्य लेखन ,(असाइनमेंट)आवधिक मूल्यांकन पीरियाडिक) असेसमेंट(आदि।

निर्देशः

.1इकाई ख्याएक व्या-से एक 4 तथा इकाई 3 ,2 पूछी जायेगी, जिनके विकल्प भी होंगे।

6x3 = 18

.2इस पत्र की प्रत्येक इकाई से एकएक दीर्घउत्तरीय प्रश्न पूछा जायेगा। प्रत्येक प्रश्न के लिए - विकल्प भी होंगे।

13x4= 52

इकाई –एक

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा

1.3 हिन्दी साहित्य का इतिहास: काल विभाजन, सीमा-निर्धारण एवं नामकरण

1.3.1 हिंदी साहित्य के काल विभाजन और नामकरण के कारण एवं आधार

1.3.2 हिन्दी साहित्य के काल विभाजन और नामकरण की परंपरा

1.3.3 आदिकाल का काल विभाजन एवं सीमा-निर्धारण

1.3.4 आदिकाल का नामकरण

1.3.5 भक्तिकाल का काल विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण

1.3.6 रीतिकाल का काल विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण

1.4 आदिकाल

1.4.1 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

1.4.2 आदिकालीन साहित्य की परिस्थितियाँ

1.4.3 आदिकाल की साहित्यिक प्रवृतियाँ

1.5 भक्तिकाल

1.5.1 भक्तिकाल की पृष्ठभूमि

1.5.2 भक्तिकाल कीपरिस्थितियाँ

1.5.3 भक्तिकाल का वर्गीकरण

1.5.4 भक्तिकाल की सामान्य प्रवृतियाँ

1.5.5 ज्ञानाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ

1.5.6 प्रेमाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ

1.5.7 कृष्णाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ

1.5.8 रामाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ

1.6 कठिन शब्द

1.7 सहायक पुस्तकें

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.0 उद्देश्य:

इस इकाई के निम्न उद्देश्य हैं:

- हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की कठिनाइयों को समझना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन और नामकरण के आधारों को पहचानना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन करना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों का उचित नामकरण करना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों का सामान्य परिचय प्राप्त करना।
- आदिकाल और भक्तिकाल की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करना।
- हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की साहित्यिक प्रवृतियों से परिचित होना।

1.1 प्रस्तावना:

हिन्दी भारत के सर्वाधिक जनसमुदाय द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। यह न केवल भारत की राजभाषा है बल्कि समस्त भारत को एकता के सूत्र में बाँधने वाली सम्पर्क भाषा भी है।भारत की आजादी की लड़ाई इसी भाषा के नेतृत्व में लड़ी गयी थी। यह भाषा मुख्यतया भारत के उत्तरी भाग में बोली जाती है। हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, छतीसगढ़, मध्यप्रदेश, झारखंड और बिहार नामक भारत के दस राज्यों को 'हिन्दी प्रदेश' के रूप में जाना जाता है। इन राज्यों के अलावा गोवा, अरुणाचल प्रदेश और अंडमान निकोबार द्वीप समूह की प्रधान भाषा भी हिन्दी ही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' में 'हिन्दी' शब्द का अर्थ इन शब्दों में उद्घाटित किया है:- "हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की साहित्य-भाषा है। राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमांत तक तथा उत्तरप्रदेश के उत्तरी सीमांत से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिंदी कहते आए हैं। इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। सबका भाषा-शास्त्रीय ढाँचा एक-जैसा ही नहीं है, साहित्य में भी किसी एक ही बोली के ढाँचे का सदा व्यवहार नहीं होता था, फ़िर भी हिंदी साहित्य की चर्चा करनेवाले सभी देशी-विदेशी विद्वान इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिंदी कहते रहे हैं। वस्तुत: हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिंदी' शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों में होता रहा है। जिस विशाल भू-भाग को आज हिंदी-भाषा-भाषी क्षेत्र कहा जाता है, उसका कोई एक नाम खोजना कठिन है। परंतु इसके मुख्य भाग को पुराने जमाने से ही मध्य-देश कहते रहे हैं।"

हिन्दी भाषा का विकास भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत से हुआ है। भाषा वैज्ञानिक इस विकास-क्रम को निम्न रूपों में रेखांकित करते हैं-

संस्कृत- 1500 ई. पू से 500 ई.पू तक

पालि- 500 ई.पू से पहली ईसवी तक

प्राकृत- पहली ईसवी से 500 ई. तक

अपभ्रंश- 500 ई. से 1000 ई. तक

हिन्दी- 1000 ई. से आज तक

उपर्युक्त विकास-क्रम से स्पष्ट है कि हिन्दी का विकास सीधे-सीधे अपभ्रंशों से हुआ है। हिन्दी के कुछ विद्वान अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' मानते है और उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल करने का सुझाव देते हैं। हिन्दी प्रदेश के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग अपभ्रंश भाषायें बोली जाती थीं और उनसे भिन्न-भिन्न आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से विभिन्न उपभाषाओं का जन्म इस प्रकार माना जाता है:

अपभ्रंश	**आधुनिक भाषाएं या बोलियाँ**
शौरसेनी	पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती
पैशाची	लहंदा, पंजाबी
व्राचड़	सिंधी
महाराष्ट्री	मराठी
मागधी	बिहारी, बांग्ला, उड़िया, असमिया
अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी

इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दी की प्रमुख उपभाषाओं या बोलियों का विकास अपभ्रंश के शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी रूपों से हुआ है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के आरंभ को लेकर हिन्दी के विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान इसकी शुरुआत सातवीं सदी से मानते हैं तो कुछ ग्यारहवीं सदी से स्वीकार करते हैं। हिन्दी साहित्य के आरंभिक इतिहास लेखकों में से एक शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' में सातवीं सदी के पुष्प

नामक कवि को हिन्दी का पहला कवि घोषित किया और इस प्रकार हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं सदी से माना। सेंगर की यह घोषणा जनश्रुतियों पर आधारित थी जिसे उनके बाद के इतिहासकारों ने स्वीकार नहीं किया। परवर्ती अनुसंधानों से अब स्पष्ट हो गया है कि यह पुष्प कोई और नहीं बल्कि दसवीं शताब्दी में विद्यमान अपभ्रंश का सुप्रसिद्ध कवि पुष्पदंत है।

हिन्दी साहित्य के आरंभ को लेकर जो सबसे बड़ी मुश्किल अपभ्रंश के साथ उसके रिश्ते को लेकरखड़ी होती है। पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' या 'प्राकृताभास हिन्दी' मानकर उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल करने की वकालत करते हैं, लेकिन इसमें सबसे बड़ी समस्या यह आती है कि भाषावैज्ञानिक और व्याकरणिक आधारों पर अपभ्रंश हिन्दी से भिन्न भाषा है।इसीलिए भारत की किसी भी अन्य आधुनिक भाषा में अपभ्रंश की रचनाओं को जगह नहीं मिली है।लेकिन ध्यान देने वाली बात यह है कि उपर्युक्त तमाम विद्वानों ने अपभ्रंश की आरंभिक रचनाओं को नहीं बल्कि सन ईस्वी एक हजार के आसपास अपभ्रंश में लिखी जा रही उन रचनाओं से हिन्दी साहित्य की शुरुआत मानी जिनमें अपभ्रंश से भिन्न देशी भाषाओं के विकास के स्पष्ट चिह्न दिखायी पड़ रहे थे। 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में विश्वनाथ त्रिपाठी इस समस्या का समाधान इस प्रकार करते हैं- "हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ तब हुआ होगा जब हिन्दी में रचना प्रारंभ हुई होगी। भाषा का प्रवाह धारा के प्रवाह के समान होता है। ठोस वस्तुओं की तरह उसका विभाजन संभव नहीं। पूर्ववर्ती भाषा के कुछ ऐसे तत्त्व आ गए होंगे, जिनके कारण वह भाषा, जिसे हम हिन्दी कहते हैं, कुछ विशिष्ट हो गयी होगी। प्रश्न है कि ये विशेषताएँ कौन-सी हैं। विद्वानों ने हिन्दी को विशिष्ट बनानेवाली तीन भाषा-प्रवृतियों की चर्चा की है: 1. क्षतिपूरक दीर्घीकरण, जैसे प्राकृत-अपभ्रंश के कज्ज, कम्म, हत्थ जैसे शब्द हिन्दी में काज, काम हाथ बन गये। 2. परसर्गों की प्रयोग बहुलता, जैसे 'घरहिं' के स्थान पर 'घरहिं माँझ'। और 3. तत्सम शब्दों का प्रचलन।"

स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा जब उपर्युक्त प्रवृतियों से युक्त होने लगी तब ही हिन्दी के विद्वानों ने उसे 'पुरानी हिन्दी', 'प्राकृताभास हिन्दी' और 'देशी भाषा' कहना प्रारंभ किया।

एक खास किस्म के वैचारिक पूर्वग्रह की वजह से आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने नाथों-सिद्धों के साहित्य को 'सांप्रदायिक' कहा जबकि राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान इस तथ्य को नकारते हैं। राहुलजी के अनुसार सिद्ध कवि सरहपा (सन 760) हिन्दी का पहला कवि है और हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं सदी से ही हो जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सातवीं से ग्यारहवीं सदी की तमाम रचनाओं पर विस्तार से विचार किया और उन्हें प्रामाणिक, अर्द्ध प्रामाणिक और संदिग्ध रचनाओं में वर्गीकृत करने के पश्चात हिन्दी की पहली प्रामाणिक रचना के रूप में 'संदेशरासक' की ओर संकेत किया। ग्याहरवीं शती की अपनी रचना 'संदेशरासक' में अब्दुर्रहमान ने लिखा था कि वह एक ऐसी भाषा में अपनी रचना कर रहा है जो आम आदमी को समझ में आने वाली है। 'संदेश रासक' की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है लेकिन उसका झुकाव देशी भाषा की ओर है। 'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह, भरतेश्वर बाहुबलि रास' (रचनाकाल 1184 ई.) के रचयिता शालिभद्र सूरि, अमीर खुसरो, विद्यापति आदि का भी हिन्दी के पहले कवि के रूप में कई इतिहास ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के पहले रचनाकार की प्रामाणिक पहचान कठिन है लेकिन एक बात दावे के साथ कही जा सकती है कि ग्यारहवीं सदी के आरंभ से ही अपभ्रंश से भिन्न देशी भाषाओं में साहित्य लेखन के ठोस और क्रमबद्ध प्रमाण मिलने लगते हैं। इसमें रोड़ाकृत राउलवेल (11वीं शती), आचार्य हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) द्वारा रचित 'प्राकृत व्याकरण', गाहड़वाल नरेश गोविंदचंद्र (1114-1155 ई.) के सभा-पंडित दामोदरकृत 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण', शेख फ़रीदुद्दीन शकरगंजी (1173-1265ई.) का कलाम, चक्रधर स्वामी (1194-1274 ई.) के पद, रेवंतगिरि रास (1231 ई.) आदि उल्लेखनीय हैं।

1.2 हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा :-

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का सचेत प्रयास उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में प्रारंभ होता है। परंतु, इसके बहुत पहले भी हिंदी कवियों के जीवन-वृत्त को प्रस्तुत करने वाली कुछ रचनाएँ मिलती हैं। इनमें गोकुलनाथ द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णन की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन बैष्णवन की वार्ता', नाभादास का 'भक्तमाल', तुलसी 'हरिराय' की रचना 'कविमाला', कालिदास त्रिवेदी की 'कालिदास हजारा' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में इतिहास बोध का अभाव है। ये विभिन्न संप्रदाय के आचार्यों एवं उनसे संबद्ध कवियों की जनश्रुति पर आधारित जीवनियाँ हैं। आधुनिक संदर्भों में हम इन्हें 'इतिहास-ग्रंथ' नहीं मान सकते। इसमें कवियों-आचार्यों के जीवन और कार्य से संदर्भित सूचनाएँ प्रामाणिक और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

गार्सा द तासी द्वारा फ़्रेंच भाषा में लिखित 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' को हिंदी साहित्य का पहला इतिहास होने का गौरव प्राप्त है। यह दो भागों में प्रकाशित हुआ था, जिसमें कुल 358 कवियों और लेखकों का विवरण दिया गया है। इसमें कवियों के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है, जिसका आधार भक्तमालों और वार्ताओं को भी बनाया गया है। इस साहित्येतिहास-ग्रंथ का पहला भाग 1839 ई. में और दूसरा भाग 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसमें काल-विभाजन, नामकरण आदि का कोई स्पष्ट प्रयास देखने को नहीं मिलता है, इसलिए यह कविवृतसंग्रह की तरह की ही एक रचना है। 'मिश्रबंधु विनोद' (1917 ई.) के पहले तक हिंदी कवियों के जीवन और साहित्य की जानकारी प्रदान करने वाला यह एकमात्र ग्रंथ था।

शिवसिंह सेंगर ने 1877 ई. (सं 1933) में प्रकाशित रचना 'शिवसिंह सरोज' में 1003 कवियों का जीवन-परिचय और 836 कवियों की कविताओं का संग्रह किया गया है। कवियों का जीवन-वृत्त हिंदी वर्ण के क्रम के अनुसार रखा गया है। पुस्तक की भूमिका में सेंगर जी ने लिखा है कि 'इस संग्रह के बनाने का कारण केवल कवियों के समय, देश, सन संवत बताना है'। कालविभाजन और नामकरण का प्रयास लेखक ने नहीं किया है। हिंदी भाषा में लिखा गया यह पहला इतिहास-ग्रंथ है।

ग्रियर्सन ने अपने इतिहास-ग्रंथ के लेखन में इसे आधार-ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने सेंगर द्वारा उल्लिखित 886 कवियों का जिक्र अपने ग्रंथ में किया है। उन्होंने आधे से अधिक कवियों के जीवन परिचय को सेंगर से ही लिया है।

सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का इतिहास-ग्रंथ 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ नार्दर्न हिंदुस्तान' 1889 ई. में 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल' से प्रकाशित हुआ। यह एक कदम आगे बढ़ी हुई रचना है। इसमें 952 कवियों का कालक्रमानुसार विवरण के साथ ही, उनकी काव्य-प्रवृत्तियों का भी विवेचन-विश्लेषण है। पहली बार विभिन्न कालों की प्रवृतियों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। लगभग अठारह कवियों पर ग्रियर्सन ने विस्तार से लिखा है। इनमें से चंदवरदायी, विद्यापति, कबीर, जायसी, तुलसीदास, बिहारी जैसे कवियों की साहित्यिक महत्ता को पहचानने और उन्हें हिंदी साहित्य के केंद्र में लाने का श्रेय ग्रियर्सन को ही जाता है। उन्होंने जायसी और तुलसीदास पर अलग अध्याय लिखे हैं। पुस्तक के भूमिका में ग्रियर्सन ने विनम्रतापूर्वक स्वीकार किया है कि यह केवल 'भाषा साहित्य के उन समस्त लेखकों की सूची मात्र से अधिक और कुछ भी नहीं है, जिनक नाम मैं एकत्र कर सका हूँ और जो संख्या में 952 हैं।' उन्होंने पहली बार इस इतिहास-ग्रंथ में कालविभाजन और नामकरण का प्रयास किया। ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं सदी से माना और उसे ग्यारह कालखंडों में विभाजित किया। ग्रियर्सन द्वारा निर्धारित कालखंड हैं-1. चारणकाल 2. पंद्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण 3. मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम कविता 4. ब्रज का कृष्ण संप्रदाय 5. मुगल दरबार 6. तुलसीदास 7. रीतिकाव्य 8. तुलसीदास के अन्य परवर्ती 9. अठारहवीं शताब्दी 10. कंपनी के शासन में हिंदुस्तान 11. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिंदुस्तान।

ग्रियर्सन के बाद हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य मिश्रबंधुओं (पं गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र) ने किया। उनका 'मिश्रबन्धु विनोद' चार भागों में प्रकाशित हुआ, जिसमें कुल 4591 रचनाकारों का जीवन-वृत्त संकलित था।

इसका पहला, दूसरा और तीसरा भाग 1913 ई. में और चौथा भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ था। कालविभाजन और नामकरण का प्रयास करते हुए मिश्र बंधुओं ने हिंदी साहित्य को आरंभिक काल, माध्यमिक काल और आधुनिक काल में विभाजित किया। इस इतिहास-ग्रंथ की सबसे बड़ी महत्ता इसमें बड़ी संख्या में प्रस्तुत कवियों-रचनाकारों से संबंधित सामग्री है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ के लेखन में इसका प्रचुर उपयोग किया। आलोचनात्मक विवेक के अभाव में मिश्र बंधु रचनाकारों की महत्ता का सटीक आकलन नहीं कर पाये और देव-बिहारी विवाद में उलझ गए। इस अधूरे कार्य को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पूरा किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' सन 1929 में प्रकाशित हुआ। यह पहले-पहल सन 1928 में 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका में 'हिंदी साहित्य के विकास' शीर्षक से छपा था। मैनेजर पांडेय के शब्दों में कहें तो आचार्य शुक्ल ने 'आलोचक की ऐतिहासिक चेतना और इतिहासकार की आलोचनात्मक चेतना की विकसनशील एकता से निर्मित साहित्य विवेक' के द्वारा 'हिंदी साहित्य के इतिहास' का लेखन किया, जिस वजह से इसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता आज भी बनी हुई है, और इसका कोई विकल्प आज तक तैयार नहीं हो सका है। आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि के निर्माण में भक्तिकाव्य का जनोन्मुखी नजरिया, भारतेंदु युग की पुनर्जागरणवादी दृष्टि, द्विवेदीयुगीन राष्ट्रवादी चेतना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने साहित्य और समाज के अंत:संबंधों की पड़ताल करते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक और सर्वमान्य कालविभाजन एवं नामकरण किया। आचार्य शुक्ल ने 'प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था' से हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना और संवत 1050 से इसकी शुरुआत मानी। संवत 1050 (993 ई.) से संवत 1984 (1927 ई.) तक के लगभग 900 वर्षों के इतिहास को उन्होंने चार कालों- वीरगाथा अथवा आदिकाल, पूर्वमध्यकाल अथवा भक्तिकाल, उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल एवं आधुनिक काल- में विभाजित किया। आचार्य शुक्ल ने

पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तरह केवल कवियों और साहित्यकारों का जीवनचरित संबंधी इतिवृत्त नहीं दिया बल्कि उनकी रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन भी किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पश्चात श्यामसुंदर दास ने 'हिंदी भाषा एवं साहित्य' (1930 ई.), सूर्यकांत शास्त्री ने 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (1930 ई.), रमाशंकर शुक्ल रसाल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1931 ई.), अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (1931 ई.), धीरेन्द्र वर्मा ने अपने संपादन में 'हिंदी साहित्य' (1933 ई), कृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' (1934 ई.), रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई.) एवं इंद्रनाथ मदान ने 'मॉडर्न हिंदी लिटरेचर' (1939 ई.) नामक इतिहास-ग्रंथों का लेखन किया।

आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का रहा। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (1940 ई.), 'हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास'(1952 ई.) एवं 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' (1952 ई.) के द्वारा हिंदी साहित्य के इतिहास को देखने का नवीन नजरिया, सामग्री और साहित्यिक मूल्य प्रदान किया। द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास को एक जीवंत परंपरा के रूप में देखने का आग्रह किया। प्रोफ़ेसर मैनेजर पांडेय ने द्विवेदी जी के इतिहास-दृष्टि की चार प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं- 1. परंपरा की खोज और उसके रचनात्मक प्रभाव का मूल्यांकन 2. परंपरा को एकांत साहित्यिक परंपरा का अंग न मानकर, उसे सांस्कृतिक एवं सामाजिक परंपरा का ही एक रूप मानना 3. साहित्य के इतिहास को मानव की जययात्रा की विकास कथा के रूप में देखना 4. हिंदी साहित्य के इतिहास को भारतीय साहित्य के इतिहास का अंग स्वीकार करना। आदिकाल के व्यापक साहित्य को हिंदी साहित्य के इतिहास में शामिल करना, भक्ति आंदोलन के उदय संबंधी विवाद को शमित

करना, संत साहित्य को साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान करना, हिंदी साहित्य के समग्र इतिहास को एक साहित्यिक परंपरा के रूप में परिभाषित करना, आचार्य द्विवेदी के इतिहास-लेखन की उपलब्धियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में हाथ आजमाए, लेकिन मौलिक उद्भावनों के अभाव के कारण उनका महज नामोल्लेख ही होता है। इनमें से कुछ उल्लेखनीय इतिहास-ग्रंथ हैं- ब्रजरत्नदास का 'खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास' (1941 ई.), लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (1941 ई.), राहुल सांकृत्यायन का 'हिंदी काव्यधारा' (1944 ई.), शिवदान सिंह चौहान का 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' (1954 ई.) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'हिंदी साहित्य का अतीत' (1960 ई.), सोलह भागों में 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास' (1961 ई.), गणपतिचंद्र गुप्त का 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' (1965 ई.), डॉ नगेन्द्र द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1973 ई.), विश्वनाथ त्रिपाठी का 'हिंदी साहित्य का सरल इतिहास', रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (1986 ई.), बच्चन सिंह का 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' (1996 ई.), सुमन राजे का 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' (2003 ई.), नीलाभ द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास' (2004 ई.) एवं नीरजा माधव का 'हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास' (2013 ई.)।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथों में से कुछ की विशेष रूप से चर्चा होती है। शिवदानसिंह चौहान ने जनपदीय भाषा बनाम हिंदी के नजरिये से अपने इतिहास-ग्रंथ में हिंदी साहित्य के इतिहास को खड़ी बोली का इतिहास बता कर उसे महज अस्सी वर्षों का इतिहास साबित किया। इस स्थापना के कारण हिंदी जगत में 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' पर व्यापक चर्चा हुई। सुमन राजे और नीरजा माधव ने स्त्रीवादी नजरिये से हिंदी साहित्य के समग्र इतिहास को जाँचा-परखा और तमाम स्त्री

रचनाकारों को खोज निकाला, उनके काव्य-कर्म की आलोचना की और स्त्री लेखन की एक विशाल परंपरा को हिंदी के पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। सुमन राजे का इतिहास-ग्रंथ इस मायने में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। गणपतिचंद्र गुप्त ने हिंदी साहित्य के इतिहास को तीन काल खंडों में विभाजित किया- प्रारंभिक काल, मध्यकाल और आधुनिक काल। उन्होंने 'भरतेश्वर बाहुबली रास' (शालिभद्र सूरि) को हिंदी की पहली रचना मानते हुए हिंदी साहित्य का आरंभ 1184 ई. से स्वीकार किया। नगेन्द्र और 'नागरी प्रचारिणी सभा' के इतिहास-ग्रंथ विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं और इनमें हिंदी साहित्य का समग्र इतिहास व्यापकता में प्रस्तुत हुआ है। तथ्यों की उपलब्धता की दृष्टि से ये रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

1.3 हिंदी साहित्य का इतिहास: काल विभाजन, सीमा-निर्धारण एवं नामकरण :-

हिंदी साहित्य का ज्ञात इतिहास कुल हजार वर्षों का है। अध्ययन की सुविधा और हिंदी साहित्य की परंपरा के समग्र बोध के लिए विभिन्न इतिहासकारों ने इसका काल विभाजन, सीमा-निर्धारण एवं नामकरण किया है। यह इतिहास-लेखन का अनिवार्य हिस्सा है।हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा पर विस्तार से विचार करने के पश्चात यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों के सीमांकन के साथ-साथ नामकरण के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस वजह से हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन और नामकरण एक मुश्किल समस्या बन जाता है। आइए हम इस विषय पर विस्तार से विचार कर इस समस्या का हल निकालते हैं।

1.3.1 हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवं नामकरण के कारण एवं आधार :-

हिन्दी भाषा में साहित्य लेखन सन 1000 के आसपास आरंभ हो चुका था। तब से लेकर आज तक यह सिलसिला जारी है। हिन्दी साहित्य लेखन के इतने वृहद इतिहास का अध्ययन एक निरंतरता में करना कठिन है। वैसे इस इतिहास की रचना एक नैरंतर्य में ही हुआ है परंतु उसमें भी कई उतार-चढ़ाव होते रहे हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन और नामकरण उस उतार-

चढ़ाव को पहचानने का ही एक उपक्रम है।इस उपक्रम में हिन्दी साहित्य की गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तनों के बीच के सामंजस्य की तलाश सबसे जरुरी काम है। यह सही है कि साहित्य के इतिहास लेखन का लक्ष्य उसकी अखंड परंपरा का निरूपण है लेकिन समय-समय पर उसमें घटित हो रहे दिशा परिवर्तनों और रूप परिवर्तनों के विकासक्रम की पहचान के बिना यह संभव नहीं है, जैसे किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन उसके आंतरिक-बाह्य व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग विचार किये बिना संभव नहीं है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास एक सीधी-सरल रेखा में विकसित नहीं हुआ है। उसके कई अवांछित और आवंतर प्रसंग भी हैं, इसलिए हिन्दी साहित्य के काल विभाजन और नामकरण में कई कठिनाईयां हैं। इनमें से कुछ निम्न हैं-

1. हिन्दी साहित्य की तमाम आवश्यक सामग्री की अनुपलब्धता और उनके संग्रह का अभाव। उपलब्ध सामग्री के प्रकाशन के लिए किसी उपयुक्त व्यवस्था का न होना।
2. हिन्दी साहित्य की रचनाओं के खोज कार्य का असंगठित और अव्यवस्थित होना।
3. हिन्दी साहित्य और उसकी बोलियों के बीच का जटिल रिश्ता। ब्रज, अवधी, भोजपुरी जैसी बोलियाँ विस्तार और साहित्य भंडार के आधार पर यूरोप की किसी भी स्वतंत्र भाषा से ज्यादा समृद्ध हैं। इनके साहित्य के विस्तृत खोज, अध्ययन और हिन्दी साहित्य में उसके समावेश के बगैर कोई भी कालविभाजन और नामकरण सार्थक नहीं होगा।
4. हिन्दी-उर्दू का रिश्ता। हिन्दी के कई विद्वान उर्दू को स्वतंत्र भाषा न मानकर उसे हिन्दी की एक शैली मानते हैं लेकिन उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में जगह नहीं देते। उर्दू का व्याकरण, भूगोल और इतिहास उसे हिन्दी से स्वतंत्र भाषा मानने की राह में बाधा है लेकिन लिपि, शब्द-भंडार, साहित्य रूप और साहित्यिक परंपरा उसकी स्वतंत्र पहचान को मजबूत आधार प्रदान करता है।

किसी भी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन और नामकरण केवल पद्धतिगत अनिवार्यता न होकर उस इतिहास बोध की तलाश होती है जिसके भीतर मानवीय चेतना और उसके विशिष्ट कला व्यापारों की निर्मिति होती है। इतिहासकार के आलोचनात्मक विवेक के बिना इस इतिहास

बोध का निर्माण नहीं हो सकता। यह विवेक साहित्य और समाज के रिश्ते के साथ-साथ, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में, उसमें आ रहे बदलावों के स्वरूप की भी पहचान करता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन और नामकरण न केवल एक जरुरी काम है बल्कि यह बेहद चुनौतीपूर्ण भी है। कालविभाजन और नामकरण के लिए किसी भी सर्वमान्य पद्धति की खोज और निर्धारण नामुमकिन है क्योंकि राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या भाषा वैज्ञानिक विकास से जुड़े होने के बावजूद साहित्य का विकास स्वतंत्र होता है। इनके मध्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भाव नहीं होता। डॉक्टर नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कालविभाजन और नामकरण के कुछ विशिष्ट आधारों का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं:-

1. ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार: आदिकाल, मध्यकाल, संक्रांतिकाल, आधुनिककाल आदि।
2. शासक और उसके शासनकाल के अनुसार: एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठाकाल आदि।
3. लोकनायक और उसके प्रभावकाल के अनुसार: चैतन्यकाल (बांग्ला), गांधीयुग (गुजराती) आदि।
4. साहित्य-नेता एवं उसकी प्रभाव-परिधि के आधार पर: रवींद्रयुग, भारतेंदुयुग आदि।
5. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के आधार पर: भक्तिकाल, पुनर्जागरणकाल, सुधारकाल, युद्धोत्तरकाल (प्रथम महायुद्ध के बाद का कालखंड), स्वातंत्र्योत्तर काल आदि।
6. साहित्यिक प्रवृत्ति के नाम पर: रोमानीयुग, रीतिकाल, छायावाद आदि।

वास्तव में, इन सारी पद्धतियाँ में से कोई भी एक हिन्दी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण में समग्रतया सटीक नहीं हैऔर इन सब का प्रयोग व्यवहार्य नहीं है, फ़िर हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन और नामकरण में इन सब से प्रभाव ग्रहण किया गया है। राजनीतिक और सामाजिक इतिहास का कालविभाजन और नामकरण सामान्यतया किसी दूरगामी प्रभाव वाली घटना को आधार बनाकर कर दिया जाता है, जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल का आरंभ 1857 की क्रांति से मानने की परंपरा है। कभी किसी शासक का व्यक्तित्व इतना

प्रभावी होता है कि उसके सत्तासीन होने के वर्ष से ही नये युग की शुरुआत मान ली जाती है, जैसे अकबर का युग। इसी प्रवृति का पालन करते हुए हिन्दी में भी भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर युगों का निर्धारण किया गया है। हिन्दी में स्वातंत्र्योत्तर युग की परिकल्पना ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर किया गया है। परंतु कालविभाजन की इन समस्त कोशिशों में साहित्य की आत्मा के असुरक्षित हो जाने का खतरा रहता है।डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण से संबंधित निम्न सुझाव दिए हैं:-

1. काल-विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर होना चाहिए।
2. युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य-चेतना को आधार मान कर साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए, किंतु जहां ऐसा नहीं हो सकता, वहां राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है या फ़िर कभी-कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकारा जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।
3. युगों का सीमांकन मूल प्रवृतियों के आरंभ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहां साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना में परिवर्तन लक्षित हो और नये स्वर एवं चेतना का उदय हो, वहां युग की पूर्व सीमा और जहां वह समाप्त होने लगे, वहां उत्तर सीमा माननी चाहिए।

1.3.2 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण की परंपरा :-

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक लेखक गार्सा द तॉसी और शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास ग्रंथों में हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन नहीं किया था। काल-विभाजन का पहला प्रयास फ़्रेंच विद्वान जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास-ग्रंथ **'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर एंदुई ए ऐंदुस्तानी' (1882)** में किया। उनका काल-विभाजन क्रम निम्न है- क) चारण काल (700-1300 ई.), ख) पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण, ग) जायसी की प्रेम कविता, घ) ब्रज का कृष्ण

सम्प्रदाय, च) मुगल दरबार, छ) तुलसीदास, ज) रीति काव्य, झ) तुलसीदास के अन्य परवर्ती, त) अट्ठारहवीं शताब्दी, थ) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान, द) विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान।

जार्ज ग्रियर्सन के काल-विभाजन में ऐतिहासिक चेतना के अभाव के साथ-साथ किसी स्पष्ट तार्किक आधार की भी कमी है। इसमें कालक्रम की निरन्तरता को भी ध्यान में नहीं रखा गया है। कुछ कालों का नामकरण साहित्यिक प्रवृतियों के आधार पर किया गया है तो कुछ का राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर। दरअसल यह काल-विभाजन न होकर हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्यायों में वर्गीकरण मात्र है।ग्रियर्सन की तुलना में मिश्रबंधुओं ने अपने इतिहास-ग्रंथ **'मिश्र-बंधुविनोद'** (1913 ई.) में अपेक्षाकृत अधिक तार्किक और व्यवस्थित काल-विभाजन किया है। उन्होंने इसका आधार हिन्दी भाषा के विकास-क्रम को बनाया। उनका काल-विभाजन निम्नवत है-

१. आरंभिक काल- क) पूर्वारम्भिक काल (700-1343 वि.)

ख) उत्तरारम्भिक काल (1344-1444 वि.)

२. माध्यमिक काल- क) पूर्व माध्यमिक काल (1445-1560 वि.)

ख) प्रौढ़ माध्यमिक काल (1561-1680 वि.)

३. अलंकृत काल- क) पूर्वालंकृत काल (1681-1790 वि.)

ख) उत्तरालंकृत काल (1791-1889 वि.)

४. परिवर्तन काल (1890- 1925 वि.)

५. वर्तमान काल (1926 वि. से आद्यावधि)

सीमाएँ :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा मिश्रबंधुओं के कालविभाजन पर निम्न शब्दों में आपत्ति दर्ज की गयी- " सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथ राशि सामने लगी हुई थी, पर ऐसी निर्दिष्ट सारणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिसके अनुसार सुगमता से इस प्रभुत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न-भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल कालक्रम से गुथी उपर्युक्त वृतमालाएँ साहित्य के इतिहास में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थी? सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, उत्तर इत्यादि खण्डों में आंख मूंद कर बांट देना- यह भी न देखना कि खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं, किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।"
2. साहित्य के इतिहास को समग्रता में धारण नहीं करता। इसमें न रचनाकारों का क्रम निश्चित है और न हीं नामकरण में निश्चयात्मकता है।
3. 700 से 1300 ई. के बीच के समय को भी हिन्दी साहित्य में शामिल कर देना जबकि इस समय हिन्दी प्रदेश में साहित्य लेखन हिन्दी में न हो कर हिन्दी के पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश में हो रहा था।
4. माध्यमिक काल के कुल दो सौ वर्षों के समय को पूर्व और प्रौढ़ में विभाजित करना उपयुक्त नहीं क्योंकि साहित्य के स्वरूप में इतना तीव्र परिवर्तन संभव नहीं होता।
5. वर्तमान काल के पहले के कुल पैंतीस वर्षों के समय को 'परिवर्तन काल' के रूप में रेखांकित करना अतार्किक है क्योंकि प्रत्येक नये युग के पहले परिवर्तन का समय आता है।

इन सीमाओं के बावजूद 'मिश्रबंधुविनोद' की सबसे बड़ी खासियत यह है कि इसमें पहली बार हिन्दी साहित्य की विपुल सामग्री का संचयन कर उसे एक निश्चित प्रारूप में वर्गीकृत किया गया। भले ही इसे इतिहास न मानकर केवल 'कवि वृत संग्रह' माना जाता हो परंतु हिन्दी का यह पहला इतिहास-ग्रंथ है जिसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास की झलक मिलती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'मिश्रबंधु विनोद' के ढांचे को ही संस्कारित कर अपने इतिहास-ग्रंथ की रचना की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** (1929 ई.) में हिन्दी साहित्य के इतिहास का सर्वमान्य काल-विभाजन किया, जो निम्न प्रकार है:

१. वीरगाथा काल (1050-1375)

२. भक्तिकाल (1375- 1700)

३. रीतिकाल (1700-1900)

४. गद्यकाल (1900- से अबतक)

पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कालविभाजन और नामकरण अधिक व्यवस्थित, तार्किक, वैज्ञानिक और संक्षिप्त है। उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ में इस वर्गीकरण के आधारों का स्पष्टीकरण भी दिया है, संक्षेप में वे निम्न हैं-

1. जिस कालविभाग के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है, उसे शुक्लजी ने एक अलग काल माना है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया है। इन रचनाओं के आधार पर उन्होंने युग विशेष के सामान्य लक्षणों को चिह्नित करने की भी कोशिश की। उन्होंने चारों कालों का नामकरण इन्हीं आधारों पर किया है। आगे चलकर जिस 'वीरगाथा काल' और 'गद्य काल' पर सर्वाधिक विवाद हुआ और उसको अस्वीकृत भी किया गया उसके नामकरण के पीछे भी यही तर्क काम कर रहा था।
2. रचनाओं की प्रचुरता के साथ-साथ शुक्लजी ने उनकी प्रसिद्धि को भी कालविभाजन और नामकरण का आधार बनाया। संभव है कि किसी कालविशेष में किसी खास प्रवृति की बहुत सारी रचनाएँ उपलब्ध हों लेकिन वे सब अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की हों, जबकि दूसरी प्रवृति की रचनाएँ संख्या में कम हों तब भी उनकी लोकप्रियता बहुत अधिक हो, तब ऐसे में दूसरे ढंग की रचनाओं के आधार पर उस काल का नामकरण किया जाना चाहिए। शुक्लजी का मानना है कि रचनाओं की प्रसिद्धि लोकप्रवृति की प्रतिध्वनि होती है।

3. एक ही काल के भीतर यदि भिन्न-भिन्न प्रकार की परंपराएँ चल रही हैं तो शुक्लजी ने उनका आंतरिक विभाजन भी किया है, जैसे 'भक्तिकाल' को उन्होंने सगुण और निर्गुण में विभाजित किया तो 'रीतिकाल' को रीतिबध्द, रीतिसिध्द और रीतिमुक्त में।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की मौलिक, वैज्ञानिक, तार्किक और सर्वमान्य पद्धति की खोज की और उसके आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन और नामकरण का एक ऐसा ढाँचा खड़ा किया जिसका विकल्प आज तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। वैसे शुक्लजी के बाद के इतिहासकारों ने इसमें फ़ेरबदल की छोटी-बड़ी कोशिशें जरुर की हैं लेकिन उसके आधार को बदल पाने में कोई भी सफ़ल नहीं हो सका है। आचार्य शुक्ल के कालविभाजन में तो कोई खास बदलाव संभव नहीं हो पाया है लेकिन उनके द्वारा किये गये नामकरण में जरुर थोड़ा बहुत हेरफ़ेर किया गया है। रामचंद्र शुक्ल ने 'आदिकाल' का नाम 'वीरगाथा काल' प्रस्तावित किया था क्योंकि उन्हें सिद्धों-नाथों की रचनाएँ सांप्रदायिक लगती थीं। वैसे उन्हें इस काल का नाम 'आदिकाल' रखने में कोई आपत्ति नहीं थी और अपने इतिहास-ग्रंथ में स्थान-स्थान पर उन्होंने इस काल के लिए 'आदिकाल' शब्द का ही प्रयोग किया है। आगे चलकर हिन्दी के आरंभिक काल के लिए 'आदिकाल' नाम ही सर्वस्वीकृत हुआ। हिन्दी के आधुनिक काल के लिए शुक्लजी ने 'गद्य काल' नाम प्रस्तावित किया क्योंकि उन्हें इस युग में गद्य का प्रादुर्भाव एक ऐतिहासिक घटना प्रतीत हुई थी। परंतु इस युग विशेष को 'आधुनिक काल' के नाम से पुकारे जाने से भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। आज इस युग को हम 'आधुनिक काल' के नाम से ही जानते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद 'हिन्दी साहित्य' नामक पुस्तक में डॉ. श्याम सुन्दर दास ने कालविभाजन और नामकरण का प्रयास किया लेकिन उसमें जरा भी नवीनता का अंश नहीं मिलता। आचार्य शुक्ल के पूर्णतया अनुसरण करते हुए श्याम सुन्दर दास ने उसमें महज इतना ही बदलाव किया है कि 'काल' के शब्द के स्थान पर 'युग' शब्द का प्रयोग कर दिया है, जैसे 'आदिकाल' की जगह 'आदियुग'। इतिहास की विकासवादी अवधारण को अपनाते हुए रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी साहित्य के इतिहास को

आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल नामक तीन युगों में विभाजित किया और इसे हिन्दी साहित्य की बाल्यावस्था, किशोरावस्था और युवावस्था कहा। इस वर्गीकरण में नवीनता तो है लेकिन तार्किकता नहीं क्योंकि यदि साहित्य के इतिहास को हम मनुष्य के जीवन के विकास-क्रम के अनुरूप देखने की कोशिश करेंगे तो युवावस्था के बाद हमें उसके वृद्धावस्था और फ़िर उसकी मृत्यु की कल्पना भी करनी पड़ेगी, जो हास्यास्पद होगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938 ई.) में हिन्दी साहित्य के इतिहास केकालविभाजन और नामकरण का एक गंभीर प्रयास किया। डॉ वर्मा ने अधिकांश तो शुक्लजी से ही ग्रहण किया है लेकिन उसमें इतना बदलाव किया है कि नाथों-सिद्धों की रचनाओं को 'सांप्रदायिक' न मानकर उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में जगह दे दी है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास की शुरुआत विक्रम संवत 750 से ही हो जाती है, पर ऐतिहासिक प्रमाणों और चली आ रही मान्यताओं के आधार पर सहज स्वीकार्य नहीं है। फ़िर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ढाँचे को तोड़ने का तार्किक और साहसिक काम पहली बार डॉ. वर्मा ने ही किया।उनका काल-विभाजन इस प्रकार है:-

1. संधिकाल- संवत 750-1000
2. चारणकाल- संवत 1000-1375
3. भक्तिकाल- संवत 1375-1700
4. रीतिकाल- संवत 1700-1900
5. आधुनिककाल संवत 1902-अबतक

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940ई.), 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'(1952 ई.) और 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' (1952ई.) शीर्षक तीन पुस्तकों के माध्यम से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ही सर्वाधिक सक्षम और सार्थक हस्तक्षेप किया। नाथों-सिद्धों, भक्तिकाल के उद्भव, कबीर आदि के बारे में आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये संकुचित विश्लेषण का द्विवेदीजी ने न केवल प्रतिवाद किया बल्कि उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा भी की। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में ऐतिहासिक-सामाजिक प्रभाव की जगह साहित्यिक परंपरा पर ज्यादा जोर दिया। उन्होंने कालविभाजन और नामकरण में कोई मौलिक बदलाव न करते हुए उसकी चली आ रही परंपरा को ही व्यवस्थित आधार प्रदान किया। आचार्य द्विवेदी का वर्गीकरण काफ़ी उदार है-

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल:- 1000 ई.- 1400 ई.
2. भक्तिकाल का आविर्भाव:-1400- 1650
3. रीतिकाव्य:- 1650 ई.- 1850 ई.
4. आधुनिक काल:- 1800 ई.- 1952 ई.

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काल-विभाजन और नामकरण में कोई कठोरता नहीं बरती जिससे हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन और नामकरण का कोई ठोस प्रारुप दे पाने में असफ़ल रहे।

1.3.3 आदिकाल का काल-विभाजन एवं सीमा-निर्धारण :-

हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल के नामकरण से लेकर सीमांकन तक को लेकर विद्वानों में सर्वाधिक मतभेद है। सबसे पहले हम इसकी समय सीमा पर विचार करते हैं। हिन्दी साहित्य के आरंभ को लेकर मुख्यतया दो मुद्दों पर विवाद है। पहला यह कि अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जाय या नहीं, और दूसरा नाथों-सिद्धों के साहित्य को शुद्ध साहित्य की श्रेणी में रखा जाय या नहीं। अपभ्रंश के साहित्य के स्वीकार-अस्वीकार के विषय में चले विवाद पर ऊपर विचार किया जा चुका है, जिसमें लगभग सभी विद्वान अंतत: इस बात पर एकमत हैं कि अपभ्रंश के परवर्ती काल में रचित उन रचनाओं को हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जाना चाहिए जिनमें देशी भाषाओं की ओर झुकाव की प्रवृत्ति है। इस आधार पर हिन्दी साहित्य के

इतिहास का आरंभ 1000 ई. से मानना ज्यादा उचित है। नाथों-सिद्धों के साहित्य के स्वीकार-अस्वीकार के मसले पर हिन्दी के विद्वान दो पक्षों में विभाजित हैं- पहला पक्ष राहुल सांकृत्यायन और रामकुमार वर्मा जैसे विद्वानों का है जो आदिकाल में नाथों-सिद्धों के साहित्य को शामिल करने के पक्षधर हैं और इस वजह से इस काल का आरंभ सातवीं सदी से मानते हैं। दूसरा पक्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्लका है जो नाथों-सिद्धों के साहित्य को सांप्रदायिक मानकर उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल नहीं करते और हिन्दी साहित्य का आरम्भ 1000 ई. से ही मानते हैं। फ़िर भी उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में नाथों-सिद्धों पर पर्याप्त चर्चा की है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथों-सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य की श्रेणी में परिगणित करने के बावजूद हिन्दी साहित्य के आदिकाल का आरंभ 1000 ई. से ही स्वीकारा है, जबकि अपरोक्ष रूप से वे भी आदिकाल का आरंभ सातवीं सदी से ही मानते हैं।

तात्पर्य यह कि विद्वानों का बहुमत और ऐतिहासिक-साहित्यिक प्रमाण हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरंभ सातवीं सदी से मानने के पक्ष में है लेकिन हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों की प्रचलित परिपाटी के अनुसार आदिकाल का आरंभ 1000 ई. से ही माना जाता है। अत: हम भी हिन्दी साहित्य के आदिकाल का आरंभ 1000 ई. से ही मानेंगे।

आदिकाल के आरंभ की तरह ही उसकी अंतिम सीमा भी विवादास्पद है। ग्रियर्सन इसकी अंतिम सीमा 1400 ई., मिश्रबंधु 1389 ई., आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 1318 ई., आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 1400 ई. और गणपति चन्द्र गुप्त 1350 ई. मानते हैं। विद्यापति (रचनाकाल- 1375-1418ई.) को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल के भीतर परिगणित किया है जबकि इनका रचनाकाल उसकी समय-सीमा के बाहर पड़ती है। इस वजह से आदिकाल के अंत को लेकर समस्या पैदा हो जाती है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि भले ही शुक्लजी ने विद्यापति को आदिकाल का कवि माना हो लेकिन उनके साहित्य में पायी जाने वाली प्रवृतियाँ भक्तिकाल की हैं।

अत: यदि उन्हें भक्तिकाल का कवि मान लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। इस प्रकार आदिकाल का अंत चौदहवीं सदी का मध्य अर्थात 1350 ई. मानना चाहिए।

1.3.4 आदिकाल का नामकरण :-

आदिकाल के नामकरण को लेकर भी विद्वानों के भीतर मतभेद है। विभिन्न विद्वानों ने आदिकाल के निम्न नाम सुझाये :-

चारण काल: ग्रियर्सन

प्रारंभिक काल: मिश्र बंधु

वीरगाथा काल: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आदिकाल:आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

चारणकाल: रामकुमार वर्मा

सिद्ध-सामन्त युग: राहुल सांकृत्यायन

बीजवपन काल: आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

वीरकाल- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हिन्दी के आरंभिक काल का सबसे पहला नामकरण ग्रियर्सन ने किया और उसका नाम रखा 'चारण काल'। इस काल का आरंभ वे 643 ई. से मानते हैं जबकि उस समय में लिखित चारण-साहित्य का वे कोई उल्लेख नहीं करते। 'चारण' शब्द में साहित्य-रचना की ध्वनि न होकर प्रशस्ति-लेखन का संकेत मिलता है जो हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल में हुई साहित्यिक कोशिशों का अवमूल्यन करता है। अत: यह नाम सर्वथा अनुपयुक्त है। मिश्रबंधुओं द्वारा दिये गये नाम 'प्रारंभिक काल'में काल विशेष की किसी भी प्रवृत्ति का संकेत न होकर महज एक सामान्य संज्ञा होना उसे अनुपयुक्त ही बनाता है।

हिन्दी साहित्य का पहला सुव्यवस्थित इतिहास लिखने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल को 'वीरगाथा काल' नाम दिया। इसके पक्ष में उन्होंने निम्न तर्क दिये-

1. इस काल में रासो ग्रन्थों की प्रचुरता है जिनकी प्रधान प्रवृति वीरगाथात्मकता है। साहित्य के रूप में हम इन्हीं रचनाओं को स्वीकार कर सकते हैं, शेष धार्मिक साहित्य है।
2. रासो ग्रन्थों के अलावा इस काल में नाथों-सिद्धों की रचनायें भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं लेकिन इन्हें शुद्ध साहित्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये धार्मिक साहित्य हैं और सम्प्रदाय विशेष की मान्यताओं के प्रचार के लिए लिखी गयीं थीं। यही स्थिति इस युग में मिलने वाली जैन रचनाओं की भी है।
3. इसके अलावा इस युग में बड़ी मात्रा में फ़ुटकर दोहे भी मिलते हैं लेकिन इनमें किसी खास साहित्यिक प्रवृति का दर्शन नहीं होता जिसके आधार पर इस युग का नामकरण हो सके।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सुझाया गया नाम ग्रियर्सन द्वारा सुझाये गये नाम का ही परिष्कृत रूप है। यह आदिकाल की एक खास प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर तय किया गया है। इसके विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं:-

1. जिन रासो ग्रंथों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल का नामकरण किया है उनमें से अधिकांश अप्रमाणिक हैं जिसे स्वयं शुक्लजी ने ही स्वीकारा है। परवर्ती अनुसंधानों से न केवल इस तथ्य की पुष्टि हुई है बल्कि यह भी पता चला है कि उनमें से कई सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में लिखी गयी हैं।
2. अमीर खुसरो जैसे देशीभाषा के लेखक इस नामकरण के दायरे से बाहर हो जाते हैं।
3. नाथों-सिद्धों की जिन रचनाओं को शुक्लजी ने साम्प्रदायिक कहकर नकार दिया था, बाद के इतिहासकारों ने उसे हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना।

अत: रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया गया नामकरण बाद के विद्वानों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। राहुलजी द्वारा दिया गया नाम 'सिद्ध-सामंत काल' केवल दो साहित्यिक प्रवृतियों की ओर संकेत करता है लेकिन इस वजह से ही नाथपंथी, हठयोगी और अमीर खुसरो (रचनाकाल- 1283-

1324ई.) जैसे फ़ुटकर साहित्य लिखने वाले रचनाकारों की काव्य प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं हो पाता। 'वीरकाल' और 'बीजवपन काल' जैसे नाम तो अपनी नवीनता से केवल चौंकाते भर हैं, इनमें न कोई तथ्य है और न ही कोई विचार।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल को विभिन्न प्रकार की साहित्यिक प्रवृतियों की प्रधानता वाला काल माना। 'आदिकाल' नाम में उपस्थित प्राचीनता के गंध से इत्तेफ़ाक न रखते हुए भी उन्होंने इस युग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त नाम 'आदिकाल' ही स्वीकार किया जो अब लगभग सर्वमान्य हो गया है। इस विषय में द्विवेदीजी का कहना है- "वस्तुत: हिन्दी साहित्य का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिमुक्त काव्यरूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेत कवियों का काल है।.....यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहे तो यह नाम बुरा नहीं है।"

असल में 'आदिकाल' ही वह नाम है जिसे सभी इतिहासकारों ने जाने-अनजाने स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने भले ही इस काल का नाम 'वीरगाथा काल' रखा हो लेकिन अपने इतिहास-ग्रंथ में विश्लेषण के क्रम में अक्सर वे 'आदिकाल' ही लिखते हैं। 'आदिकाल' नाम से हमें हिन्दी साहित्य की उस व्यापक पृष्ठभूमि का भी बोध होता है जिस पर आगे चलकर हिन्दी साहित्य का विशाल महल खड़ा हुआ। भाषा की दृष्टि से इसमें हिन्दी का आदि रूप मिलता है तो भाव की दृष्टि से भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज मिल जाते हैं। अत: इस युग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त एवं व्यापक नाम 'आदिकाल' ही है।

1.3.5 भक्तिकाल का काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण :-

यदि आदिकाल का अंत हम 1350 ई. से मानते हैं तो स्वाभाविक तौर पर भक्तिकाल का आरंभ हमें इसी समय से मानना होगा। भक्तिकाल के अंत को लेकर विद्वानों में थोड़ा मतभेद है इसकी मूलवजह भक्तिकाल के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि तुलसीदास और रीतिकाल के आरंभिक कवि

केशवदास (1555 ई.- 1617 ई.) का समकालीन होना है। रामचन्द्र शुक्ल ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी भक्तिकाल का अंत 1643 ई. माना है जिस वजह से केशवदास भक्तिकाल के कवि ठहरते हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में केशवदास को भक्तिकाल की सगुण धारा के फुटकल रचनाकारों के अंतर्गत ही शामिल भी किया है पर उनकी साहित्यिक चेतना और अभिव्यक्ति शैली रीतिकालीन है। आश्रयदाताओं की प्रशंसा, लक्षण ग्रंथों की रचना, अलंकारों की बहुलता, चमत्कार प्रियता, छंदों की विविधता जैसी रीतिकालीन विशेषताएँ केशवदास की रचनाओं में आसानी से मिल जाती हैं। इस संबंध में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि केशवदास जिस वक्त ऐसी रचनाओं का सृजन कर रहे थे उस समय ऐसा करने वाले रचनाकारों की संख्या बेहद कम थी, जबकि भक्तिकाल का शीर्षस्थ कवि तुलसीदास उस वक्त सृजनरत था। लगभग चालीस-पचास वर्षों के बाद यह हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति बनी। तब केशवदास को संक्रांतिकाल का कवि स्वीकार करते हुए हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का अंत 1650 ई. स्वीकार करना ही ज्यादा उचित होगा।

तमाम इतिहासकारों द्वारा भक्तिकालके दो नाम सुझाये गये हैं- भक्तिकाल और पूर्वमध्यकाल। 'भक्तिकाल' नाम जहाँ तत्कालीन साहित्य के आंतरिक भाव को अभिव्यंजित करता है वहीं 'पूर्वमध्यकाल' कालबोधक है। इतिहासकारों के बीच इन दोनों नामों को लेकर कुछ ज्यादा मतभेद नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने तो इन दोनों नामों का एक साथ सहजता से प्रयोग किया है। भक्तिकाल प्रवृत्तिगत एकता की अद्‌भुत मिसाल प्रस्तुत करता है। इस युग में हिन्दी प्रदेश के अलग-अलग हिस्सों में रहने वाले रचनाकारों ने अपनी-अपनी मातृभाषाओं के साथ-साथ तत्कालीन समय की केंद्रीय साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा और अवधी में भगवान की भक्ति के माध्यम से मानवीय संवेदना की जैसी अभिव्यक्ति की है वह हिन्दी ही नहीं भारतीय साहित्य में भी विरल है। भक्ति साहित्य ने जीवन के प्रश्न को कविता का प्रश्न बनाया, सामंती व्यवस्था की अमानवीयता के प्रति विद्रोह का स्वर बुलंद किया, समाज के सभी वर्गों को वाणी प्रदान की, एक वैकल्पिक व्यवस्था की अवधारणा प्रस्तुत की; और यह सब भक्ति के आवरण में किया। उन्हें यह सब करने का साहस भी भगवान की भक्ति ने ही प्रदान किया। इसलिए इस काल के लिए 'भक्तिकाल' से ज्यादा उपयुक्त नाम कोई और हो ही नहीं सकता।

1.3.6 रीतिकाल का कालविभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण :-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल की समय-सीमा 1643 ई. से 1843 ई. तक स्वीकार की है। इसे अधिकांश विद्वानों ने मान्यता दी है। रीतिकाल के आरंभ को लेकर ऊपर चर्चा हो चुकी है। अब सवाल यह है कि इसका अंत 1843 ई. से ही क्यों माना जाए? इस संबंध में पहली बात तो यह है कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन विक्रम संवत में किया है जो ईस्वी सन से 57 वर्ष आगे चलता है। इस वजह से उन्होंने रीतिकाल का अंत संवत 1900 माना, जो ईस्वी सन में 1843 हो गया। बाद के इतिहासकारों ने इसे सम अंकों में बदलते हुए रीतिकाल का अंत 1850 ई. स्वीकार किया।

1850 ई. से रीतिकाल का अंत और आधुनिकाल का आरंभ मानने के दो बेहद मजबूत तर्क हैं। पहला, सन 1857 में भारत की पहली जनक्रांति का होना और दूसरा हिन्दी के आधुनिक साहित्य के निर्माता भारतेंदु हरिश्चन्द्र का 1850 ई. में जन्म लेना। कुछ विद्वान यह आपत्ति करते हैं कि भारत की पहली जनक्रांति और भारतेंदु का लेखन दोनों सन 50 के लगभग दस वर्षों बाद शुरु होता है फ़िर हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का अंत 1850 ई. से ही क्यों माना जाए? इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसा कहने वाले इतिहासकारों की इतिहास-दृष्टि बेहद जड़ है। साहित्य के इतिहास में कोई भी परिवर्तन अचानक नहीं होता। उस बदलाव की जमीन बहुत पहले से तैयार हो रही होती है। सन 1857 की जनक्रांति भी एकाएक नहीं हो गयी। यह सत्ता-परिवर्तन नहीं था जो किसी राजा के वध के साथ ही रातोंरात संभव हो गया। किसी भी जनक्रांति के लिए जमीन तैयार करने में वर्षों लगते हैं। यह सामूहिक चेतना में बदलाव के बिना संभव नहीं हो सकता। भारतेंदु हरिश्चन्द्र और उनके युग के लेखकों की चेतना के निर्माण में भी सन 1857 की क्रांति की बड़ी भूमिका है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि सन 1857 की क्रांति का नेतृत्व

आमजन ने किया था जबकि सामंती शक्तियों ने अंग्रेजों का साथ दिया था। यह उस आधुनिक चेतना की ओर संकेत करता है जो सामंतवाद के खिलाफ़ निर्मित हो रहा था। अत: सामंतवाद के पोषक'रीतिकाल' के अंत और स्वाधीनता आन्दोलन की ओर पैर बढ़ा रहे 'आधुनिक काल' का आरंभ सन 1850 से मानना सर्वथा उपयुक्त है।

'आदिकाल' के बाद 'रीतिकाल' के नामकरण पर भी बहुत विवाद हुआ। इस काल का विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया नामकरण निम्न है:

अलंकृत काल- मिश्रबन्धु

रीतिकाल- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

कलाकाल- डॉ. रामकुमार वर्मा

काव्यकला काल- डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'

शृंगार काल- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

उत्तर मध्यकाल- गणपतिचन्द्र गुप्त

'अलंकृत काल', 'कलाकाल' और 'काव्यकला काल' जैसे नाम उस युग की मूल संवेदना में विद्यमान कलात्मक गौरव को रेखांकित करने के लिए रखे गये हैं लेकिन इनकी व्याप्ति बेहद सीमित है। 'अलंकृत' शब्द से केवल उस युग की कविता की बाह्य विशेषता ही उभर कर आती है, जबकि उस युग में नीतिपरक दोहे लिखने वाले रहीम और हृदयगत अनुभूतियों से संचालित होने वाले घनानन्द जैसे कवि भी हुए। इस नाम से 'लक्षण ग्रंथों' की परंपरा का भी पता नहीं चलता। 'कलाकाल' और 'काव्यकला काल' नाम से साहित्य की सामूहिक विशेषता का संकेत तो मिलता है लेकिन उस काल विशेष की किसी खास प्रवृत्ति का कोई पता नहीं चलता। 'कलाकाल' नाम से तो कला मात्र के विभिन्न रूपों का बोध होता है जिसका साहित्य से सीधा संबंध नहीं है। 'काव्यकला काल' में इस कमी की भरपायी की गयी है लेकिन बेहद सरलीकृत तरीके से। 'उत्तर मध्यकाल' काल को सूचित करने वाला नाम है जिससे किसी भी इतिहासकार को कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन चूंकि

यह उस काल की किसी खास साहित्यिक प्रवृत्ति का निर्देश नहीं करता अत: यह सर्वमान्य नहीं हो सका।

रीतिकाल के नामकरण को लेकर मुख्य विवाद 'रीतिकाल' और 'शृंगार काल' नामक दो नामों में है। इसको लेकर आचार्य शुक्ल के भीतर भी दुविधा थी इसीलिए उन्होंने एक जगह लिखा है कि यदि रस का विचार करके कोई इस काल को शृंगारकाल भी कहे तो कोई दिक्कत नहीं है। 'शृंगार काल' कहने से उसमें इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति कासमावेश हो जाता है। भक्तिकाल के बाद हिन्दी साहित्य की संवेदना में आये बदलाव को व्यंजित करने में भी यह नाम समर्थ है। इससे रीतिकालीन साहित्य की अनुभूति और प्रवृत्ति का दिशा-निर्देश भी हो जाता है। इन सब के बावजूद इस नाम में अव्याप्ति दोष है। इस नाम में लक्षण-ग्रंथों और वीर, भक्ति तथा शृंगारेतर रसों पर आधारित रचनाओं का समावेश नहीं हो पाता। लक्षण-ग्रंथ तो रीतिकालीन साहित्य की मुख्य पहचान है।

'रीति' का शाब्दिक अर्थ मार्ग या पद्धति है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्यरचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। हिन्दी में 'रीतिग्रंथ' उन रचनाओं को कहा जाता है जिनमें काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया गया हो। रीतिकाल में 'लक्षण-ग्रंथ' लिखने की परंपरा थी जिसमें काव्य के विभिन्न अंगों की विशेषताएँ बताते हुए उसके उदाहरण के रूप में कविता रचने का चलन था।इन लक्षण ग्रंथों में सर्वाधिक विचार अलंकारों और छंदों पर हुआ और उनके अधिकांश उदाहरण रति-प्रसंगों से निर्मित किये गये हैं। रसों में भी सर्वाधिक चर्चा शृंगार रस की हुई जिससे 'रीति' शब्द अपने परंपरागत अर्थ मार्ग या पद्धति को बनाये रखते हुए भी काव्य के साथ जुड़कर शृंगार का अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार 'रीतिकाल' नाम से शृंगारिक साहित्य के साथ-साथ पद्धति, कौशल, नायिका भेद, कलात्मकता आदि का अर्थ भी ध्वनित होता है। 'रीतिकाल' नाम के भीतर घनानन्द, बोधा, आलम जैसे रीतिमुक्त कवियों और भूषण जैसे वीर रस के कवियों का समाहित न होना मुश्किल खड़ी करता है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि रीतिकाल जैसे वैविध्यपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तियों वाले युग को किसी एक नाम में बाँध पाना कठिन है। 'रीतिकाल' नाम के पक्ष में जो सबसे बड़ी बात है

वह यह कि इससे साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ उस युग की सोच और उसके मानसिक ढाँचे का भी प्रतिपादन होता है जबकि 'शृंगार काल' नाम साहित्य की सीमाओं से आगे नहीं जा पाता। अत: 1650 ई. से लेकर 1850 ई. तक फ़ैले युग के लिए 'रीतिकाल' नाम सब प्रकार से उचित है।

1.4 आदिकाल

आदिकाल हिंदी साहित्य का आरंभिक काल है। इस युग के साहित्य की खोज अब भी जारी है। इस युग में विविधता से भरे साहित्य का निर्माण हुआ। आदिकाल (सन 1000-1350 ई.) के कालविभाजन और नामकरण के क्रम में हम इस युग से परिचित हो चुके हैं। आदिकाल संक्रांति का काल है। इसे 'संधिकाल' कहना अनुचित नहीं होगा। इस युग में हिन्दी भाषा अपभ्रंश के केंचुल से निकलकर पहचान बनाने की कोशिश कर रही थी। भाषा, साहित्य, संस्कृति, राजनीति और समाज हर क्षेत्र में परस्पर विरोधी प्रवृतियों का प्राधान्य था। इस युग की किसी भी सामान्य विशेषता की पहचान करना कठिन है। आइए अब हम युग पर विस्तार से विचार करते हैं।

1.4.1 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि :-

छठी सदी के महान शासक हर्षवर्द्धन के बाद उत्तर भारत में दूसरा कोई शक्तिशाली शासक नहीं हुआ। इस कारण केंद्रीय सत्ता का अभाव रहा। साम्राज्य छोटे-छोटे राजाओं के बीच बिखरा हुआ था। भाषा के स्तर पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के साथ-साथ तमाम स्थानीय भाषाओं में लोग आपसी संवाद करते थे। मुसलमानों के आक्रमण के बाद अरबी-फ़ारसी का भी प्रभाव बढ़ा। धार्मिक स्तर पर किसी एक धर्म का वर्चस्व नहीं था। लोग अनेकानेक संप्रदायों में विभाजित और भ्रमित थे। नाथ, सिद्ध, जैन, वैष्णव, शाक्त आदि कई मतों को मानने वाले लोग थे, जिनके बीच का मतभेद चरम पर था।इन सब वजहों से 'आदिकाल' में साहित्य के क्षेत्र में भी कई प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आदिकाल' में मिलने वाले 'रासो काव्य' को ही केवल साहित्य माना और आदिकाल का नामकरण 'वीरगाथा काल' रख दिया। बौद्ध और जैन साहित्य को साम्प्रदायिक मानकर उन्होंने उन्हें हिन्दी साहित्य से बाहर का रास्ता दिखा दिया। लेकिन, बाद के इतिहासकारों

ने आदिकाल में पायी जाने वाली अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्वीकार किया और उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में जगह दी।आइये अब हम आदिकाल की विभिन्न साहित्यिक धाराओं और उनकी रचनाओं का सामान्य परिचय प्राप्त करते हैं।

सिद्ध साहित्य :- बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा से संबंधित साधकों को 'सिद्ध' कहा जाता है। इनके यहाँ तंत्र-मंत्र की साधना का प्राधान्य था। आठवीं सदी के सरहपा को पहला सिद्ध माना जाता है। सिद्धों की कुल संख्या चौरासी बतायी गयी है। इन्होंने आम जनता की भाषा में पर्याप्त साहित्य लिखा, जिसमें सहज-योग की सैद्धांतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा और वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोर आलोचना है। इन्होंने संधा भाषा में गूढ़ विचारों को प्रस्तुत करने वाली रचनाएँ भी लिखीं जिसका प्रभाव कबीर की उलटवाँसियों में मिलता है। कबीर के खंडन-मंडन की प्रवृत्ति पर भी सिद्धों का प्रभाव है। सिद्धों ने दोहा और पद नामक दो काव्य रूपों में अपनी रचनाएँ की जो आगे चलकर हिन्दी के कवियों का सर्वाधिक प्रिय काव्यरूप बना। सिद्ध कवियों के दोहों का संकलन 'दोहा कोष' और उनके द्वारा रचित पदों का संकलन 'चर्यापद' या 'चर्यागीत' नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी में कुल चौदह सिद्धों की रचनाएँ मिलती हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्ध कवि सरहपा की 32 रचनाओं का जिक्र मिलता है जिसमें सर्वाधिक प्रमुख रचनाएँ हैं- 'कायाकोश', 'दोहाकोष', 'सरहपादगीतिका'। सरहपाद के शिष्य शबरपा की सोलह रचनाओं का उल्लेख मिलता है जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध 'चर्यापद' है। डोम्भिपा नामक सिद्ध ने 21 ग्रंथ लिखे, जिसमें 'डोम्बि-गीतिका' प्रमुख है। इसमें गुरु की महत्ता का प्रतिपादन है। कण्हपा ने 74 ग्रंथ लिखे पर 'कण्हपादगीतिका' और 'दोहाकोश' को ही प्रसिद्धि मिली। इनके अलावा लुइपा, शान्तिपा आदि सिद्ध कवियों का जिक्र मिलता है।

नाथ साहित्य :- नाथपंथ के संस्थापक आचार्य गोरखनाथ हैं जिन्हें शिव का अवतार माना जाता है। ये शैव थे और दसवीं सदी में सक्रिय थे। नाथ संप्रदाय को योग सम्प्रदाय, सिद्ध मत, अवधूत पंथ आदि कई नामों से जाना जाता है। नाथ पंथ सिद्धों की ही परंपरा का विकसित रूप है। कई सिद्धों का जिक्र नाथ योगियों के रूप में भी मिलता है। गोरखनाथ ने पतंजलि के योग को विकसित कर हठयोग का प्रवर्तन किया। इसमें शरीर की कठोर साधना के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग बताया

गया है। बाह्य संसार से नाता तोड़कर नाथ पंथी गुरु के मार्गदर्शन में कुंडलिनी का जागरण कर परम आनन्द की प्राप्ति करते हैं। गोरखनाथ ने ब्रह्मचर्य के पालन, मांस और शराब के सेवन पर रोक, मन और शरीर की शुद्धि, आचरण की पवित्रता पर बहुत जोर दिया। नाथों के साहित्य में भी कर्मकांडों का विरोध और वर्णाश्रम की आलोचना मिलती है। भक्तिकाल के निर्गुण कवियों पर नाथपंथी रचनाकारों का गहरा असर है। कबीर ने हठयोग की साधना से संबंधित शब्दावली का खूब प्रयोग किया है। नाथ योगियों की कुल संख्या सिद्धों की तरह ही चौरासी बतायी जाती है। इनमें से प्रमुख नाथ योगी हैं- नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, जलंधर और मलयार्जुन। गोरखनाथ की अनेक रचनाएँ हिन्दीमें मिलती हैं। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने उनकी कुछ रचनाओं का प्रकाशन 'गोरखबानी' नाम से किया है।'सबदी' और 'गोरखबोध' भी इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

जैन साहित्य :- जैन शब्द 'जिन' से बना है जिसका मतलब 'विजय पाने वाला' है। जैन धर्म के प्रवर्तक श्री महावीर स्वामी हैं जो बुद्ध से पहले के माने जाते हैं। आदिकाल में जैनों का प्रचुर साहित्य मिलता है। इसके दो रूप हैं- क) नाथों और सिद्धों की तरह दोहा छंद में रचित साहित्य, जिनमें मन और शरीर की शुद्धि और कर्मकांडों का खंडन मिलता है। ख) सांप्रदायिक साहित्य, जिसमें जैन धर्म के सिद्धांत और जैन साधुओं के जीवन के प्रेरक प्रसंग उपलब्ध है। हिन्दी साहित्य के अंतर्गत पहले तरह की रचनाओं को ही शामिल किया जा सकता है। जैन आचार्य हेमचन्द्र (बारहवीं शती) की रचना 'प्राकृत व्याकरण' को हिन्दी का प्रमुख जैन साहित्य कहा जा सकता है। इसमें हेमचन्द्र के अलावा लोक में प्रचलित अन्य व्यक्तियों की रचनाएँ भी शामिल हैं। जैन साहित्य में जैन धर्म की महत्ता और प्रचार, सदाचार का उपदेश, कर्मकांडों की आलोचना और रहस्य-साधना से संबंधित पदों की प्रधानता थी। स्वयंभु का 'पउम चरिउ', पुष्पदंत (दसवीं शती) का 'णायकुमार चरिउ', मेरुतंग (तेरहवीं सदी) का 'प्रबंध-चिंतामणि', मुनि रामसिंह का 'पाहुड़ दोहा', धनपाल का 'भविसत्त कहा' जैन साहित्य की प्रमुख कृतियाँ हैं।

रासो साहित्य :- अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी की वीरगाथात्मक रचनाओं को रासो साहित्य कहा जाता है। इसे वीरगाथात्मक काव्य और चारण काव्य भी कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने

जिन बारह रचनाओं की प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखकर आदिकाल का नाम 'वीरगाथा काल' रखा था उनमें से अधिकांश रासो काव्य हैं। आचार्य शुक्ल ने इन्हें ही आदिकाल का प्रधान साहित्य माना था। रासो काव्यों की सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि इनमें से अधिकांश अप्रमाणिक हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध 'पृथ्वीराज रासो' को स्वयं शुक्लजी ही अप्रमाणिक बता गये हैं। आदिकाल के प्रमुख रासो काव्य हैं- नरपति नाल्ह की रचना 'बीसलदेव रासो', जगनिक की रचना 'परमाल रासो', नल्लसिंह की रचना 'विजयपाल रासो', दलपति विजय की रचना 'खुमाण रासो', भट्ट केदार की रचना 'जयचंद प्रकाश', मधुकर कवि की रचना 'जयमयंक जस चंद्रिका' आदि। इन रासो काव्यों को 'चारण काव्य' इसलिए कहा जाता था कि क्योंकि यह किसी राजा के आश्रित कवि द्वारा अपने आश्रय दाता की प्रशंसा में लिखा जाता था। इसमें राजा के विभिन्न युद्धों और विवाहों का वर्णन होता था। नायिका का नख-शिख वर्णन, युद्ध के चित्र, सेना के गमन के चित्र, बारह महीनों की प्रकृति का मनोरम वर्णन इसका प्रधान विषय था। वीर और शृंगार रसों की प्रधानता होती थी। एक कथा के भीतर कई उपकथाएँ रहती थीं। महाकाव्य प्रिय काव्य रूप और छप्पय चारण कवियों का प्रिय छंद था।

लौकिक साहित्य :- आदिकाल में कई ऐसे कवि और उनकी रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें उपर्युक्त किसी धारा में स्थान नहीं दिया जा सकता। ऐसे रचनाकारों में अमीर खुसरो(14 वींशती) और विद्यापति (14 वीं शती)प्रमुखहैं। अमीर खुसरो को हिन्दी का पहला कवि भी कहा जाता है। इनके दोहों, मुकरियों और पहेलियों में अपभ्रंश से भिन्न खड़ी बोली हिन्दी का स्पष्ट रूप मिलता है। इनकी भाषा में आधुनिक काव्य-भाषा के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। खुसरो मूलत: फ़ारसी के रचनाकार थे और बहुत सारी विद्याओं में निपुण थे। खड़ी बोली हिन्दी में लिखी इनकी रचनाएँ अपने समय में बहुत लोकप्रिय थीं। विद्यापति मिथिला के राजा शिव सिंह के आश्रय में रहते थे। संस्कृत में इनकी ग्यारह और हिन्दी में कुल तीन रचनाओं का पता चलता है। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चरितकाव्य हैं जबकि विद्यापति की प्रसिद्धि काआधार स्तम्भ 'विद्यापति की पदावली' शृंगारिक तथा भक्तिपरक रचना है। विद्यापति ने अपनी पदावली में राधा-कृष्ण के ईश्वरीय रूप को त्यागकर लौकिक मनुष्य के रूप में उनके बीच विकसित हो रही प्रेम-भावना का बेहद अंतरंग चित्र खिंचा है। 'पदावली' में

युवा अवस्था की ओर बढ़ रहे किशोरों के मन में सक्रिय प्रेम के मनोवैज्ञानिक पक्ष का दुर्लभ चित्रण है।

1.4.2 आदिकालीन साहित्य की परिस्थितियाँ :- साहित्य और समाज के बीच अटूट संबंध होता है। समाज ही साहित्य की प्रेरक शक्ति है और सृजित होने के बाद साहित्य सदियों तक समाज को प्रभावित करता रहता है। किसी भी साहित्यिक रचना का अध्ययन उसके समय और समाज से अलग होकर नहीं किया जा सकता। किसी युग के साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को समझना आवश्यक है। आदिकाल का समय उलझनों से भरा समय था। समाज के किसी भी क्षेत्र में किसी एक प्रवृत्ति का प्राधान्य नहीं था। राजनीतिक स्तर पर कोई केंद्रीय शक्ति नहीं थी। लगातार हो रहे बाहरी और आंतरिक आक्रमणों ने सामाजिक तानेबाने को छिन्न-भिन्न कर दिया था। केंद्रीय सत्ता के कमजोर हो जाने की वजह से असहाय हो गये लोग अनेकानेक धर्मों और सम्प्रदायों में भटकने के लिए बाध्य थे।

राजनीतिक परिस्थितियाँ :- आदिकाल (1000-1350 ई.) का राजनीतिक इतिहास बाहरी आक्रमणों से तबाह हो रहे भारत का इतिहास है। भारत पर यवनों का आक्रमण तो भारत के अंतिम ताकतवर शासक और कनौज के राजा हर्षवर्द्धन (606-647 ई.) के समय से ही होने लगा था लेकिन उन्हें सफ़लता नहीं मिली। उसकी मृत्यु के बाद मुहम्मद बिन कासिम सन 710-11 ई. में पहली बार सिंध का क्षेत्र जीत पाने में सफ़ल हुआ। लेकिन इसके लम्बे समय बाद तक मुसलमान सिंध से आगे नहीं बढ़ पाये। दसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में गजनी के शासक महमूद गजनवी ने भारत के उत्तर पश्चिमी हिस्से पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। सन 1000ई. से 1026ई. के बीच उसने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये और पंजाब से लेकर गुजरात तक के इलाके को जीत कर अपार सम्पत्ति एकत्रित किया। उसकी रुचि भारत के धन में थी, उसकी भूमि में नहीं। अत: उसके जाते ही फ़िर भारतीय रजवाड़े खड़े हो उठते थे। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के दौरान उत्तर भारत में छोटे-छोटे राजपूत राजाओं का आधिपत्य रहा, जिनमें आपस में अक्सर जमीन और स्त्री के लिए संघर्ष होते रहते थे। बारहवीं सदी में दिल्ली और अजमेर के राजा पृथ्वीराज चौहान (1179-

1193 ई.) और कनौज के राजा जयचंद (1170-93 ई.) उत्तर भारत के अंतिम ताकतवर हिन्दूशासक थे। इनके बीच आपसी मतभेद बहुत ज्यादा था। जिसका फ़ायदा उठाकर मुहम्मद गोरी ने जयचंद की सहायता से तराइन के युद्ध में सन 1192 में पृथ्वीराज चौहान को और फ़िर 1193 ई. में जयचंद को पराजित कर भारत में मुस्लिम शासन की नींव रखी। गोरी आरम्भ से ही भारत में अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता था, इसलिए अपनी हर विजय के बाद वह विजित प्रदेशों का एक प्रशासक नियुक्त करता था। मरने (1206 ई.) के पहले उसने दिल्ली का गवर्नर कुतुबुद्दीन ऐबक को नियुक्त कर दिया था। गोरी की मृत्यु के बाद ऐबक ने खुद को स्वतंत्र घोषित कर दिया और दिल्ली में गुलाम वंश (1206-1290 ई.) की नींव रखी। इसके पश्चात अंग्रेजों के आगमन तक दिल्ली यानी भारत पर तुर्कों-मुगलों का शासन रहा। आदिकाल के दौरान दिल्ली पर गुलाम वंश के अलावा खिलजी वंश, तुगलक वंश का शासन रहा। तुर्क शासकों ने भारत को राजनीतिक अस्थिरता से मुक्त किया और उसे एक शासन के अधीन करने की कोशिश की। पर जब-जब दिल्ली की सत्ता किसी कमजोर शासक के हाथों में गयी तब-तब राजनीतिक अस्थिरता के साथ-साथ बाहरी आक्रमण भी हुए। चंगेज खान और तैमुर लंग (1369 ई.) के आक्रमणों ने भारतीय जनता को असीम कष्ट पहुँचाये। इल्तुतमीश, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद बिन तुगलक और फ़िरोज तुगलक दिल्ली सल्तनत के प्रसिद्ध शासक रहे।

सामाजिक परिस्थितियाँ :- मुसलमानों के आक्रमण के बहुत पहले से ही भारतीय समाज वर्णों और जातियों में विभाजित था। यह उनके आगमन के बाद भी जारी रहा। यह विभाजन इतना सख्त था कि भारतीय समाज की बहुसंख्यक आबादी जाति के नाम पर मुख्य धारा से अलग थी। राजपूतों और ब्राह्मणों का समाज में प्रभुत्व था। लगातार हो रहे बाहरी आक्रमणों के चलते व्यापार के हालात बुरे थे, इसकारण वैश्यों की स्थिति खराब थी। शूद्रों का जीवन गुलामों से भी बदतर था। हिन्दू समाज में उनकी स्थिति तो खराब थी ही आक्रमणकारी भी उनके साथ बुरा वर्ताव ही करते थे। वे उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए मजबूर करते थे या गुलाम बनाकर बेच देते थे। युद्धों के कारण लोगों की आर्थिक स्थिति बदतर हो गयी थी। समाज का आर्थिक विभाजन बहुत अधिक था। सामंत

और सत्ताधारी वर्ग के पास ऐश्वर्य के सभी साधन थे जबकि आम जनता भोजन तक लिए तरसती थी। मजबूरी में स्त्रियाँ और निम्न वर्ण के लोग अपने शरीर और श्रम का विक्रय करते थे। गरीबी में पीस रही जनता अपने जीवन के सुधार के लिए धर्म की शरण में जाती थी, लेकिन वहाँ भी उन्हें विभिन्न कर्मकांडों, रीति-रिवाजों और अंधविश्वासों का ही शिकार होना पड़ता था। तुर्कों के विजय के कारण ये हालात और भी अधिक बुरे हो गये। आक्रमणकारियों के लिए विजित भारतीयोंके जीवन का कोई मूल्य नहीं था। तुर्कों ने इस्लाम के नाम पर बहुसंख्यक हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार किये। उन्हें इस्लाम में धर्मांतरित होने के लिए मजबूर किया। उनकी स्त्रियों का अपहरण किया और उनकी संपत्ति छीन ली। कुल मिलाकर आदिकालीन भारतीय समाज एक विशृंखल समाज था।

धार्मिक परिस्थितियाँ :- उत्तर भारत का अंतिम ताकतवर शासक हर्षवर्धन बौद्ध धर्म का अनुयायी था। इसके समय तक उत्तर भारत में राज्याश्रय में बौद्ध धर्म फ़ल-फ़ूल रहा था और आम जनता के बीच ब्राह्मण और शैव धर्म का प्रभाव था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद जो छोटे-छोटे सामंत उभरे उनमें से अधिकांश राजपूत थे और ब्राह्मण धर्म को मानते थे। सन 1000 के आसपास तक उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व बढ़ने लगा और बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव कम होने लगा। वैसे बौद्ध धर्म राज्याश्रय से बाहर निकलकर बदले हुए रूप में आमजन के बीच फ़ैल रहा था। नाथों और सिद्धों का प्रभाव इसे प्रमाणित करता है। इस समय बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का बहुत प्रभाव था जिसमें तंत्र-मंत्र की प्रधानता थी। वज्रयानी बौद्ध जहाँ एक ओर तंत्र-मंत्र के द्वारा आम जनता को अंधविश्वासों की दलदल में ले जा रहे थे, वहीं हिन्दू धर्म के कर्मकांड और वर्णाश्रम व्यवस्था पर चोट पहुँचाकर आम जन को जातिगत क्रूरता से बाहर निकालने का प्रगतिशील काम भी कर रहे थे। बारहवीं सदी तक आते-आते धार्मिक स्तर पर दो बड़े बदलाव हुए- पहला विदेशी धर्म इस्लाम का आगमन और सातवीं-आठवीं सदी में दक्षिण में शुरु हुई वैष्णव धर्म का इस क्षेत्र में फ़ैलना। फ़िर भी वैष्णव धर्म का जन-जन के बीच विस्तार तो भक्तिकालीन दौर में ही हुआ। इस्लाम के आगमन ने भारतीय साधना पद्धतियों में फ़ैले तमाम भेदभावों को दूर कर इस्लाम के समक्ष एकजूट होने का विकल्प प्रस्तुत किया। बौद्ध और जैन धर्म को छोड़कर हिन्दुओं के बीच लोकप्रिय अन्य अनेक साधना पद्धतियाँ हिन्दू धर्म की पताका के तले आदिकाल के अंतिम दौर में एकजुट होने लगीं। इन

सब के बीच यह भी सत्य था कि तमाम भारतीय धर्म अपने मूल स्वरूप को खोकर महज कर्मकांड होकर रह गये थे। धर्म की आत्मा मर गयी थी। भक्तिकालीन साहित्य ने उस मरी हुई आत्मा में पुनर्जीवन का समावेश किया।

1.4.3 आदिकाल की साहित्यिक प्रवृतियाँ:

आदिकालके सामान्य परिचय के क्रम में हमने देखा कि इस काल का साहित्य स्पष्ट रूप से दो धाराओं में विभाजित था- एक तरफ़ सिद्धों-नाथों द्वारा धार्मिक साहित्य लिखा जा रहा था तो दूसरी तरफ़ रासो साहित्य का वर्चस्व था। इन दोनों धाराओं में भाव से लेकर भाषा तक में किसी प्रकार की समानता की खोज करना मुश्किल है। आदिकाल की किसी सामान्य प्रवृत्ति की खोज संभव नहीं है। अत: इस काल की प्रमुख साहित्य धाराओं पर अलग से विचार कर हम इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे।

सिद्ध साहित्य :- सिद्ध साहित्य का संबंध बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा से है। ये मंत्रों और कठिन साधना द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग बतलाते थे। इनकी कुल संख्या 84 बतायी जाती है जिनमें 21 सिद्धों की रचनाएँ मिलती हैं। इनका समय संवत 797 से संवत 1257 के मध्य था। सिद्ध प्राय: निम्न जाति और अशिक्षित वर्ग से संबंधित थे। इन्होंने जन भाषा में साहित्य रचा। इनकी रचनाएँ अर्द्ध मागधी अपभ्रंश में मिलती हैं। इनकी भाषा को 'संध्या भाषा' भी कहा गया। इनका साहित्य शांत और शृंगार रस प्रधान है। दोहा, चौपाई, चर्यागीत आदि छंदों को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इनको ही जाता है। विषय के आधार पर सिद्ध साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है- क) नीति और आचरण से संबंधित साहित्य, ख) साधना संबंधी साहित्य, ग) उपदेशात्मक साहित्य।

सरहपा को पहले सिद्ध और इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। ये जाति के ब्राह्मण थे और बत्तीस ग्रंथों की रचना की थी। 'दोहाकोश' इनकी सर्वाधिक प्रमुख रचना है। सरहपा के साहित्य में गुरु की महत्ता पर बहुत बल दिया गया है। इन्होंने धार्मिक पाखंड और आडंबर का प्रबल विरोध किया है।इनकी रचनाओं में रहस्यवाद, वाह्याचारों का खंडन-मंडन, सहज मार्ग पर बल, शरीर की

प्रधानता, सहज साधना और संयम की महत्ता, भोग के माध्यम से ही योग कर ब्रह्म की प्राप्ति का संदेश है। कबीर की वाणियों पर सरहपा का बहुत अधिक प्रभाव है। सरहपा ने परमात्मा से वियोग से संबंधित कई भावुक दोहे लिखे हैं। गुरु की महानता को बताते हुए सरहपा एक दोहे में लिखते हैं कि उसकी वाणी में सहजामृत का वास है। अस्थिर चित वाले व्यक्तियों को मरुस्थल में न भटककर, शून्य में न विचरकर, मीन, पतंग, भ्रमर, हिरण की तरह विषयासक्ति में न पड़कर केवल अपने गुरु की अमृतमय वाणी का पान करना चाहिए:-

गुरु-उवएसे अमिय-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।

वहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहिँ, तिसिए मरिअउ तेहि॥

हिन्दी के अन्य सिद्ध कवियों ने सरहपा के ही विचारों का विस्तार किया है। उनकी कविताओं का स्वर प्राय: एक जैसा ही है। सिद्धों की कविताओं की दो विशेषताएँ रेखांकित करने योग्य हैं- जगत के प्रति सकारात्मक एवं स्वीकारात्मक दृष्टिकोण और निर्भिकता। सिद्ध कवियों ने घर को छोड़कर बन जाने और अपने शरीर को नश्वर मानकर उसकी उपेक्षा करने का विरोध किया। सरहपा ने '*घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण*' लिखकर कहा कि मोक्ष की प्राप्ति घर में ही हो सकती है उसके लिए वन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। सिद्धों ने बहुत ही साहस के साथ समाज में विद्यमान बुराइयों का विरोध किया। वेदों और पुराणों के ज्ञान को निरर्थक बताया। मूर्तिपूजा का खंडन किया और पंडितों-पुजारियों के पीछे भागने वाले लोगों को जमकर फ़टकारा। पंडितों की आलोचना करते हुए प्रसिद्ध सिद्ध कण्हपा ने लिखा कि पंडित उस भौरे की तरह होते हैं जो केवल पके हुए श्रीफ़ल के बाहर ही चक्कर लगाते है, उसके भीतर के फ़ल का स्वाद कभी चख नहीं पाते। पंडित आगम, वेद, पुराण के बीच ही चक्कर लगाता रह जाता है कभी भी परमात्मा के पास पहुँच ही नहीं पाता। कण्हपा ने लिखा:-

आगम वेअ पुराणेहिँ पण्डिअ माण वहन्ति।

पक्क सिरीफ़लेँ अलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति॥

सिद्धों की कविता का अधिकांश अपने पंथ के प्रचार-प्रसार के लिए लिखा गया है इसलिए रामचन्द्र शुक्ल जैसे आचार्य इसे 'साम्प्रदायिक' रचना मानते हैं। मूर्तिपूजा और कर्मकांडों का विरोध भी इन्होंने एक खास दृष्टि से किया है। फ़िर भी इनकी रचनाओं में संवेदना का पक्ष बहुत अधिक प्रबल है जो इसे साहित्य की श्रेणी में ले आता है। आम जनता के बीच इनके पदों की लोकप्रियता बहुत अधिक थी। सिद्धों ने दोहा छंद और चर्यापद में कविता कर हिन्दी कविता को इन छंदों से परिचित कराया।आगे चलकर भक्तिकाल में यही दोनों छंद हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय छंद बने।इन्होंने अधिकांशत: मुक्तक काव्यों की रचना की।

नाथ साहित्य :- बौद्ध धर्म की सहजयान शाखा से नाथ पंथ का जन्म हुआ। यह सिद्ध संप्रदाय का ही विकसित रूप है।नाथ पंथ ने पूर्ववर्ती तमाम साधना पद्धतियों का मेल अपने भीतर कर लिया था। इसका आम जन पर व्यापक प्रभाव था। चौदहवीं सदी के मध्य तक उत्तर भारत की जनता पर इसका असर रहा, लेकिन उसके बाद कर्मकांडों का विरोध करने वाले इस पंथ में अनेक विकृतियों का जन्म हो गया। नाथपंथी रहस्यमयी कर्मकांडों द्वारा आम आदमी को भयभीत करने लगे। चौरासी सिद्धों की तरह चौरासी नाथों की भी चर्चा होती है लेकिन उनमें से नवनाथों को ही मान्यता प्राप्त है। हिन्दी के नाथ कवियों में गोरखनाथ सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी रचनाओं में इस धारा का प्रतिनिधि स्वर आसानी से पाया जा सकता है। गोरखनाथ का मूल स्थान उत्तर प्रदेश का गोरखपुर नामक जगह है लेकिन उनके मत का अधिक प्रचार प्रसार पंजाब और राजस्थान के इलाके में हुआ। गोरखनाथ की कई रचनाओं का उल्लेख मिलता है लेकिन उसमें 'गोरखवाणी' का प्रमुख स्थान है। गोरखनाथ के अलावा इस धारा में चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ और भरथरी का प्रमुख स्थान है।

नाथसाहित्य का सैद्धांतिक आधार शैवमत से ग्रहण किया गया है। इसकी साधना पद्धति हठयोग के काफ़ी करीब है। हठयोग के द्वारा कायाशुद्धि कर प्राणायाम द्वारा कुडलिनी जागरण करना हर नाथपंथी योगी का प्रधान लक्ष्य होता है। कुंडलिनी जागरण से ब्रह्मरंध में अनाहत नाद की निरंतर घोषणा होती रहती है जिससे परमात्मा के मिलन का आनन्द मिलता है। नाथपंथी कायाशुद्धि को ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र मार्ग स्वीकार करते हैं और बाह्य साधना को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

इनके पदों में इसीलिए हठयोग की सैद्धांतिक मान्यताओं का विस्तार से वर्णन और इसके साथ ही मूर्तिपूजा या तीर्थ भ्रमण जैसे बाह्याचारों का जबरदस्त विरोध भी मिलता है। इन्होंने जगह-जगह पर इसी कारण शास्त्र आधारित ज्ञान का मजाक भी उड़ाया है।

सिद्धों की तरह नाथ साहित्य में भी गुरु की मुक्त कंठ से तारीफ़ की गयी है। इनका मानना है कि गुरु के बिना ईश्वर तक पहुँचना कठिन है। उसके अभाव में मनुष्य के पथभ्रष्ट हो जाने का बहुत खतरा है। नाथों ने भारतीय समाज में विद्यमान वर्णाश्रम की व्यवस्था की मुखर आलोचना की। इस कारण भारत की निम्न जनता के बीच इन्हें अपार लोकप्रियता हासिल थी। इनका प्रभाव हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों पर समान रूप से था। उन्होंने एकेश्वरवाद की स्थापना की। नाथों ने अहंकार को परमात्म प्राप्ति की राह की एक कठिनाई के रूप में देखा और दिखाया।

नाथ साहित्य का अधिकांश अपने मत के प्रचार के लिए लिखा गया है। उन्होंने शून्य की साधना पर बल दिया। ईश्वर की प्राप्ति के लिए सहज-समाधि को सर्वाधिक सरल रास्ता बताया। आचारशुद्धि और कायाशुद्धि के बिना ईश्वर की राह पर एक कदम भी नहीं बढ़ा जा सकता। नाथ हठयोग के साधक और समर्थक थे जिसके लिए शरीर और मन दोनों का शुद्ध होना आवश्यक है। वे ईश्वर के अमूर्त रूप के आराधक थे। उन्होंने रहस्यवादी तरीके से अपनी बातें भी कहीं हैं। ईश्वर की जगत में उपस्थिति के विषय में गोरखनाथ ने लिखा है कि इस मूर्त जगत में ही वह अमूर्त रूप में रहता है। उसका सच्चा साधक ही उसकी उपस्थिति का अहसास कर सकता है। गोरखनाथ ने लिखा:-

अंजन मांहि निरंजन भेट्या, तिल मुख भेट्या तेलं।

मूरती मांहि अमूरति परस्या, भया निरंतर खेलं।

नाथपंथियों का संबंध हिन्दी प्रदेश के पूर्वी अंचल से था इसलिए उनकी भाषा पर इस अंचल की जनपदीय भाषाओं अवधी, भोजपुरी, मैथिली और बंगला का प्रभाव है। इनकी भाषा में फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। ये योगी घुमंतू किस्म के होते थे और अपने पंथ के प्रचार के क्रम में पंजाब और महाराष्ट्र तक गये थे। इस कारण इनके पदों में इन भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं।

विभिन्न प्रांतों की भाषा के शब्दों के मेल से बनने के कारण नाथ साहित्य की भाषा को 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा गया। आम जन को चमत्कृत करने के लिए इन्होंने रहस्यमयी भाषा का प्रयोग किया इसलिए इनकी भाषा को 'संध्या भाषा' भी कहा गया। इनका साहित्य 'साखी', 'सबदी', 'दोहा', 'सोरठा' और 'चौपाई' में मिलता है।

जैन साहित्य :-

भारत के पूर्वी प्रांत में नाथ-सिद्ध कवियों का प्रभाव था और उसके पश्चिमी प्रांत में महावीर स्वामी के पंथ के अनुयायी जैन कवियों का। इन्होंने अपने धर्म के प्रचार के लिए साहित्य की रचना की। जैन धर्म हिन्दू धर्म के काफ़ी निकट है। जैन धर्म में आचार-विचार की पवित्रता और अहिंसा, करुणा, त्याग एवं दया आदि भावों के प्रति लगाव को प्रमुखता दी गयी है। इस धर्म में अत्यधिक सहिष्णु बनने के लिए उपवास, गृह त्याग, कठोर व्रत आदि विधियों का प्रचलन है। इसमें कर्मकांड की आलोचना और समस्त मनुष्य को एक मानने की भावना पर जोर दिया गया है। हिन्दी के आदिकाल में अनेक प्रसिद्ध जैन कवियों और उनकी रचनाओं का पता चलता है। जहाँ सिद्धों-नाथों ने मुक्तक काव्यों की रचना की है वहीं जैन कवियों ने अधिकांशत: प्रबंध काव्य ही लिखे हैं। स्वयंभू जैन साहित्य के सर्वश्रेष्ठ और प्रतिनिधि कवि हैं। ये आठवीं सदी में सक्रिय थे। इनकी सर्वाधिक प्रमुख रचना 'पउमचरिउ' है जो एक प्रबंध काव्य है। इसके अलावा 'पंचमीचरिउ' 'रिट्ठणेमिचरिउ' और 'स्वयंभूछन्दस' को भी इनकी रचनाओं में शामिल किया जाता है। 'पउमचरिउ' में राम की कथा का विस्तृत वर्णन है। लेकिन इस कथा में जैन सिद्धांतों के अनुसार काफ़ी फ़ेरबदल किया गया है। दसवीं सदी के कवि पुष्पदंत भी इस धारा के एक प्रमुख कवि हैं। 'णयकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। 'हेमचन्द्रानुशासन' के लेखक हेमचंद्र इस धारा के सर्वाधिक प्रभावशाली रचनाकार हैं। इनकी रचनाओं में जैन धर्म के सिद्धांत निरुपण के साथ-साथ अन्य विषयों का भी समावेश हुआ है। 'श्रावकाचार' के लेखक आचार्य देवसेन, 'भरतेश्वरबाहुबलीरास' के रचनाकार शालिभद्र सूरि, 'कुमारपालप्रतिबोध' के लेखक सोमप्रभ सूरि और 'प्रबंधचिंतामणि' के रचनाकार मेरुतुंगइस धारा के अन्य प्रमुख रचनाकार हैं।

जैन साहित्य मूलत: धर्म प्रचार का साहित्य है। लेकिन इसमें साहित्यिकता का अंश भी मिलता है। जैन कवियों ने कुछ व्याकरण ग्रंथों की भी रचना की है और उसमें तत्कालीन समाज का भी सजीव चित्रण मिलता है। इस मामले में 'हेमचन्द्रानुशासन' जैन साहित्य की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना है। भारतीय समाज में लोकप्रिय रामकथा को जैन सिद्धांतों के अनुकूल कर प्रबंध काव्य लिखने की मात्रा जैन साहित्य में बहुत अधिक देखने को मिलती है। जैन कवियों ने कुछ चरित-काव्यों का लेखन भी किया है। ऐतिहासिक पात्रों पर लिखे गये काव्यों में वीर और शृंगार रस का प्रयोग हुआ है। वैसे इनकी रचनाओं में शान्त रस की प्रमुखता है। इन्होंने मुक्तक काव्य भी लिखे हैं लेकिन प्रधानता प्रबंध काव्यों की ही है। जैन कवियों ने लोक में प्रचलित तमाम साहित्यिक शैलियों का अपने साहित्य में उपयोग किया है। उन्होंने आचार, रास, फ़ागु, चरित आदि अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। जैन तीर्थंकरों के जीवन चरित के लेखन के लिए 'रास'का बहुत ज्यादा प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है।

रासो साहित्य :- आदिकाल की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति रासो साहित्य है। रासो साहित्य के अलावा आदिकाल में जितनी तरह का साहित्य रचा गया उसका लक्ष्य शुद्ध साहित्य की रचना करना नहीं था। सिद्ध-नाथ और जैन साहित्य का लेखन अपने पंथ के प्रचार के उद्देश्य से किया गया था जबकि रासो ग्रंथों का मुख्य उद्देश्य पाठक का मनोरंजन था। आदिकालीन कवियों द्वारा बड़ी संख्या में वीरगाथात्मक साहित्य का लेखन हुआ जिसको ध्यान में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग का नाम वीरगाथाकाल रखा था। रासो साहित्य का प्रधान विषय अपने आश्रयदाता राजाओं के चरित का गान और उनकी प्रशंसा थी। इन चरित काव्यों में राजा के वीरतापूर्वक कारनामों और उसकी प्रेमगाथाओं का रसात्मक और अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन होता था। दलपति विजय कृत 'खुमाणरासो', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो', जगनिक कृत 'परमाल रासो', चंदबरदायी कृत 'पृथ्वीराजरासो' इस युग के प्रधान रासो काव्य हैं। इन रासो काव्यों के साथ सबसे बड़ी मुश्किल यह कि इनमें से अधिकांश का पाठ प्रामाणिक नहीं है। कुछ रासो काव्यों का तो केवल नामोल्लेख ही मिलता है।

आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन के दौरान हमने देखा कि केंद्रीय सत्ता के कमजोर हो जाने के कारण इस युग में भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था। प्रत्येक राजा अपनी स्वतंत्र सत्ता और अस्मिता को लेकर बहुत अधिक सचेत था। उसके दरबारी कवि उसकी वीरता के गीत लिखते थे। इसलिए रासो साहित्य के मूल में आश्रयदाताओं की प्रशंसा का भाव था। इस प्रशंसा में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ काफ़ी तोड़-फ़ोड़ की जाती थी। रचना को प्रमाणिक साबित करने के लिए लेखक अनेक छद्म रचता था। 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक चंदबरदायी ने अपनी रचना में अनेक स्थलों पर लिखा कि वह पृथ्वीराज का समकालीन था जबकि उसके द्वारा प्रस्तुत तथ्य ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्टि नहीं होते। उसकी भाषा भी परवर्ती युग की है। इस वजह से अनेक रासो काव्य संदिग्ध हो गये। उनकी प्रामाणिकता सवालों के घेरे में आ गयी।

रासो काव्यों में आश्रयदाताओं की प्रशंसा के क्रम में कुछ रुढ़ियों का पालन किया जाता था। अधिकांश रासो काव्यों में आश्रयदाता की वीरता के अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन के साथ ही उसके अनेक विवाहों का भी वर्णन होता था। इसमे स्वयंबर के दृश्य, राजकुमारियों के उद्धार, अनेक विजयों और आखेट के दृश्यों का भी चित्रण होता था। राजा के परदेश गमन पर रानियों के वियोग वर्णन की ओर भी कवि का ध्यान बना रहता था।रासो काव्य का प्रधान रस वीर और शृंगार रस था। रासो कवियों ने युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव किया था इसलिए उनके काव्य में युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है। इन रचनाकारों की रुचि प्रेम प्रसंगों में भी थी। चंदबरदायी ने पृथ्वीराज और शशिव्रता के प्रेम प्रसंग का बहुत ही मनोहर चित्रण किया है।

रासो काव्य में इतिहास की तुलना में कल्पना की अधिक प्रधानता है। काव्य होने की वजह से ऐसा करना अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। इसमें तथ्य और कल्पना का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। वीरगाथाओं में संक्षिष्टता की जगह वर्णन को अधिक महत्व दिया गया है। वस्तुओं की सूची, राजा की सेना के एक-एक अंग का विस्तार से वर्णन, नायक की अपरिमित शक्ति के प्रदर्शन के लिए उसके विजयों की लम्बी सूची जैसे वर्णन सभी रासो काव्यों में मिलते हैं। रासो काव्य में प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों का चित्रण मिलता है। नदी, नगर, पर्वत आदि का शोभायुक्त वर्णन भी इसमें किया गया है।

रासो साहित्य प्रबंध काव्य के रूप में ही लिखे गये हैं लेकिन कुछ मुक्तक रचनाएँ भी मिलती हैं। 'बीसलदेवरासो' वीरगीतों के रूप में उपलब्ध है। वीरगाथाओं में विविध छंदों का उपयोग है। रासो कवियों ने सोरठा, तोमर, गाथा, आर्या, रोला, उल्लाला, कुंडलिया आदि अनेक छंदों का प्रयोग किया है। वीरगाथाओं में महाकाव्य की पद्धति का समुचित प्रयोग दिखायी पड़ता है। इन रचनाओं की मुख्य भाषा डिंगल है। यह अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी होती थी। इसमें लिखित रचनाओं को लोक गायक सुर में बाँधकर सुनाते थे।

1.5 भक्तिकाल :

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग है। इसमें भारत के अधिकांश हिस्सों और समाज के विभिन्न वर्गों से निकलकर आये रचनाकारों ने साहित्य रचा। भक्तिकाल जैसा जन-साहित्य न उसके पहले लिखा गया था न ही उसके बाद ही लिखा गया। यही कारण है कि आज भी भारतीय जनता के बीच जैसी लोकप्रियता और सम्मान भक्तिकालीन कवियों को मिला वैसा किसी अन्य युग के कवियों को नहीं। इन कवियों का साध्य साहित्य नहीं था, वह तो मात्र साधन था भगवान की प्राप्ति का। इसके बावजूद इनकी कविता में जितनी सरसता, और मानवीय संवेदना की जैसी अभिव्यक्ति है वह अद्वितीय है। भक्तिकाल के सभी कवि अंतत: भक्त थे, लेकिन उनकी भक्ति का स्वरूप अलग-अलग था।

1.5.1 भक्तिकाल की पृष्ठभूमि :-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल का समय संवत 1375 से संवत 1700 निर्धारित किया है। इसे मुख्यतया दो भागों में बाँटा जाता है-सगुण काव्यधारा और निर्गुण काव्यधारा। इस काल के साहित्य में भक्ति की प्रधानता के कारण इसको 'भक्तिकाल' कहा गया। कबीर के उदय के साथ ही उत्तरभारत में भक्तिकाव्य की एक विशाल परंपरा का सूत्रपात होता है, जिस कारण विभिन्न विद्वानों ने इसे 'भक्ति आंदोलन' कहा और इसके उदय के कारणों पर विचार किया। इन कारणों पर विचार करते हुए हमें भक्तिकाल की पृष्ठभूमि का अनुमान होता है।

भक्तिकाल को एक आंदोलन के रूप में सबसे पहले ग्रियर्सन ने पहचाना। उन्होंने कहा, "हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आंदोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा था। बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चित नहीं कर सकता।" भक्ति-आंदोलन के उदय के कारणों के अज्ञात होने की आशंका के बावजूद ग्रियर्सन ने यह अनुमान लगाया कि दूसरी-तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत में आए नेस्टोरियन ईसाईयों के दल के आगमन के साथ भक्ति पहले दक्षिण में उपजी और फ़िर वही विकसित होकर उत्तर भारत में एक आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया। ग्रियर्सन के इस अनुमान का कोई साहित्यिक आधार नहीं है, क्योंकि ईसाईयों के भारत आगमन के बहुत पहले से भारत में भक्ति की भावना उपस्थित थी।

भक्ति-आंदोलन के उदय के कारणों पर विचार के क्रम में उसकी पृष्ठभूमि पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विस्तार से विचार किया। भक्ति-आंदोलन के उदय के संबंध में उनका मत है, "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्त्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफ़ेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" आचार्य शुक्ल का मानना है कि मुसलमानी शासन की स्थापना से पैदा नैराश्य-भाव की पृष्ठभूमि में, दक्षिण भारत से भक्ति का जो सोता धीरे-धीरे बहता आ रहा था वह उत्तर-भारत में तीव्र हो गया; फ़लत: भक्ति-आंदोलन का जन्म हुआ। परंतु इस राजनीतिक पृष्ठभूमि के अलावा भक्तिकाल की धार्मिक और दार्शिक पृष्ठभूमि भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। भक्तिकाल के पहले भारते के पूर्वी हिस्से में वज्रयानी सिद्धों एवं कापालिकों तथा पश्चिमी हिस्से में नाथपंथी योगियों का खासा प्रभाव था। इनके चमत्कारों के कारण सामान्य जनता के

भीतर से धर्म-भावना का लोप हो गया था। धर्मशून्य कर्मकांडों का बोलबाला था और पौराणिक काल से चली आ रही धर्म की भावात्मक अनुभूति का लोप हो गया था। शुक्ल जी का मानना है कि, "जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। प्रतिवर्तन के लिए बहुत कड़े धक्के की आवश्यकता थी।"बारहवीं से पंद्रहवीं सदी के दौरान उत्तर भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में सक्रिय अनेक आचार्यों और भक्तों ने विविध गतिविधियों द्वारा भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य (संवत 1254-1333) ने, पूर्वी भाग में जयदेव और विद्यापति ने, मध्य भारत में रामानुजाचार्य के शिष्य रामानंद और ब्रज-प्रदेश में वल्लभाचार्य ने भक्ति के विभिन्न संप्रदायों का सूत्रपात किया, जिससे 'सगुण भक्ति' की नींव तैयार हुई। सिद्धों और नाथों के 'हृदय पक्ष शून्य साधना' को नामदेव (सं1328-1408) ने प्रेमतत्व से युक्त कर 'निर्गुण पंथ' की जमीन तैयार की।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल को भारतीय मनीषा का स्वाभाविक विकास कहा।उनका मानना था कि भक्तिकाव्य की साहित्यिक चेतना को भारतीय जाति की स्वाभाविक चेतना के विकास के रूप में देखा जाना चाहिए। उनका मत है, "भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था। प्रोफ़ेसर हेवेल ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ़ आर्यन रुल' में लिखा है कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिंदू राजकाज से अलग कर दिये गये इसलिये दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिये एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। यह गलत व्याख्या है। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगे के सहस्त्राब्द की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें, अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं। अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविक भाव से बाधाग्रस्त और विकृत है, उसे मैं भूल जाने को नहीं कहता। पर

हिंदी साहित्य के अध्ययन से उन्हें विश्वास हो सकेगा कि यह सारा सहस्त्राब्द का साहित्य भावी इतिहास में बौद्ध या अन्य किसी भी काल के इतिहास से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।"

आचार्य द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' पुस्तक में बहुत विस्तार से भक्तिकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि पर विचार किया है।हिंदी साहित्य के आरंभ पर बात करते हुए द्विवेदी जी ने बताया कि राज्याश्रय के अभाव में आठवीं सदी के आसपास बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा और बौद्ध और शैव मत के योग से नाथ पंथ का उदभव हुआ, जिसके तहत हिंदी साहित्य का आरंभिक साहित्य रचा गया। इन नाथपंथियों के प्रभाव में ही भक्तिकाल का आरंभिक निर्गुण और सूफ़ी साहित्य सृजित हुआ। उनका मानना है कि बौद्ध तत्ववाद का हिंदी के 'संत मत' पर स्पष्ट प्रभाव है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा धीरे-धीरे लुप्त होती हुई उत्तर भारत के लोकमत में प्रविष्ट हो गई, और अवसर पाकर भक्तिकाव्य में प्रकट हुई। बौद्ध धर्म की विपरीत सनातन धर्म लोकमत से विमुख होकर शास्त्र की ओर उन्मुख हो रहा था। वेद, उपनिषद, पुराण, गीता, बादरायण के ब्रह्मसूत्र की टीका पर टीका लिखी जा रही थी। ग्यारहवीं सदी तक यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गई थी। इन ग्रंथों के माध्यम से प्राचीन काल से विशृंखलित सनातन धर्म का पंड़ितों ने नियमन एवं व्यवस्थापन किया। लेकिन इन पंड़ितों ने लोकमत की उपेक्षा नहीं की। द्विवेदी जी का मानना है कि भक्तिकाल के पहले-पहल तक बौद्ध और स्मार्त दोनों धर्म लोकमत का प्राधान्य स्वीकार कर चुका था। उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि, "भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था। प्रोफ़ेसर हेवेल ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ़ आर्यन रुल' में लिखा है कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिंदू राजकाज से अलग कर दिये गये इस लिये दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिये एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। यह गलत व्याख्या है। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगे के सहस्त्राब्द की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें, अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं। अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविक भाव से बाधाग्रस्त

और विकृत है, उसे मैं भूल जाने को नहीं कहता। पर हिंदी साहित्य के अध्ययन से उन्हें विश्वास हो सकेगा कि यह सारा सहस्त्राब्द का साहित्य भावी इतिहास में बौद्ध या अन्य किसी भी काल के इतिहास से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।" आचार्य द्विवेदी ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि भक्तिकाल हिंदी साहित्य की चली आ रही परंपरा का ही विकास है, उस पर किसी बाह्य प्रभाव को देखना-दिखाना अनुचित है। भक्तिकाव्य की लगभग सभी धाराएँ 'अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं।' उनका मानना है कि'निर्गुणमतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छंद और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन हैं। इसी तरह वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप ग्रहण करता है पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाज को ये भक्तगण सुधारना चाहते थे उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य भी नहीं किया था।' इस प्रकार द्विवेदी जी ने विविध साक्ष्यों और सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा यह सिद्ध किया कि भक्ति-आंदोलन के उदय की पृष्ठभूमि भारतीय चिंतन-धारा के भीतर हिंदी साहित्य के उदय के साथ ही बनने लगी थी।

1.5.2 भक्तिकाल की परिस्थितियाँ :-

आदिकाल की तुलना में भक्तिकालीन समय (1350-1650 ई.) शांति और समृद्धि का समय था। दिल्ली की गद्दी पर मुसलमानों को राज करते हुए लगभग डेढ़ सौ वर्ष हो गये थे। अब वे बाहरी आक्रमणकारी नहीं रह गये थे।भारत उनकी जन्मभूमि थी और वे इससे प्यार करते थे। मुहम्मद बिन तुगलक, सिकन्दर लोदी, बाबर, हुमायूँ, शेरशाह और अकबर जैसे शासकों ने भारत के अधिकांश हिस्से को जीतकर प्रशासनिक रूप से उसे मजबूत कर दिया था जिससे व्यापार का काफ़ी विकास हुआ और समाज में समृद्धि आयी। फ़िर भी इस समय में भी धार्मिक अत्याचार हो रहे थे और सामान्य जनता की स्थिति खराब ही थी।

राजनीतिक परिस्थितियाँ :- मुहम्मदबिन तुगलक (1325-1351ई.) के शासन के अंतिम वर्षों से भक्तिकाल का राजनीतिक इतिहास आरंभ होता है। मुहम्मदबिन तुगलक एक उदार और साहित्य-संगीत को सम्मान देने वाला शासक था। लेकिन इसका उत्तराधिकारी फ़िरोज तुगलक एक क्रूर

शासक था। उसने हिन्दू जनता के ऊपर बहुत जुल्म ढ़ाये। फ़िरोज तुगलक के बाद तुगलक वंश के अधिकांश शासक कमजोर और कठपुतली थे।1412 ई. में खिज्र खाँ ने तुगलक वंश के अंतिम शासक को हटाकर दिल्ली की सत्ता अपने हाथ में ले ली और सैय्यदवंश की स्थापना की। इस वंश की सत्ता 1451ई. तक रही और इस दौरान चार शासकों ने शासन किया लेकिन उनका भारतीय इतिहास में कोई खास नाम नहीं है। 1451ई. में अफ़गान सरदार बहलोल लोदी ने दिल्ली पर कब्जा किया और लोदी वंश की स्थापना की। इस वंश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शासक सिकन्दर लोदी (1489- 1517ई.) था जिसने गुजरात तक का इलाका जीत लिया था। सिकन्दर लोदी ने ही अपने विजय अभियान के दौरान पूर्वी राजस्थान से व्यापारिक संबंध स्थापित करने के लिए आगरा शहर की नींव डाली थी जो आगे चलकर बड़ा व्यापारिक केंद्र हुआ। इसी आगरे के बाजार में हिन्दी भाषा का विकास हुआ। लोदी वंश का अंतिम शासक इब्राहीम लोदी (1517-1526ई.) था जिसने अपना विशाल साम्राज्य खड़ा करने के लिए अफ़गानों और राजपूतों से दुश्मनी मोल ली। इनके बुलावे पर ही बाबर भारत आया और 1526ई. में बाबर और इब्राहीम लोदी के बीच पानीपत की ऐतिहासिक लड़ाई हुई जिसमें इब्राहीम लोदी मारा गया और दिल्ली की सत्ता आगामी तीन सौ वर्षों के लिए मुगलों के हाथ में आ गयी। सन 1526 में बाबर दिल्ली की गद्दी पर बैठा और मुगल सल्तनत की स्थापना की। अपने कुल चार वर्षों के छोटे कार्यकाल में ही बाबर ने सारा राजस्थान जीत लिया। सन 1530ई. में बाबर की मृत्यु के बाद उसका बेटा हुमायूँ राजा बना। हुमायूँ ने आरंभ में कई लड़ाइयाँ जीतीं लेकिन सन 1540ई. में शेरशाह सूरी के हाथों पराजित होकर दिल्ली की सत्ता गवाँ बैठा। सन1540 से लेकर सन1555 तक दिल्ली पर शेरशाह और उसके उत्तराधिकारियों का शासन रहा। पंद्रह वर्षों के निर्वासन के बाद 1555 ई. में हुमायूँ पुन: दिल्ली पर आधिपत्य जमा पाने में सफ़ल हुआ लेकिन कुछ ही दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मौत के बाद कुल तेरह वर्ष की उम्र में उसका बेटा अकबर सन 1556ई. में दिल्ली की गद्दी पर

बैठा जो भारतीय इतिहास के सर्वाधिक महान शासकों में से एक था। अकबर (1556-1605ई.) ने अपने शासन काल के दौरान अपनी सीमाओं को अफ़गानिस्तान से लेकर असम तक और कश्मीर से लेकर अहमद नगर तक फ़ैला दिया। अकबर अकेला मुस्लिम शासक था जिसके भीतर सभी धर्मों के प्रति समान भाव था। इसके शासन काल में धार्मिक अत्याचार की घटनाएँ नहीं के बराबर हुईं। इसने साहित्य, संगीत, कला, स्थापत्य सभी विधाओं को विकास का समुचित अवसर प्रदान किया। भक्तिकाल की समय सीमा के भीतर अकबर के बाद उसके दो अन्य योग्य उत्तराधिकारियों जहाँगीर (1605-1627ई.) और शाहजहाँ ने भी भारत पर शासन किया। इन्होंने अकबर की बनायी व्यवस्था का ही विकास किया। शाहजहाँ ने ही अपनी पत्नी की याद में प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण करवाया था।

सामाजिक परिस्थितियाँ :- प्रशासनिक स्तर पर समूचे भक्तिकाल के दौरान भारत में एक केंद्रीय शासन व्यवस्था कायम रही। कभी-कभी कमजोर शासकों के आने की वजह से छोटे-छोटे सामंत आजाद हो जाते थे लेकिन आगामी ताकतवर राजा फ़िर उन्हें अपने नियंत्रण में कर लेता था । तुर्कों ने सुचारू शासन व्यवस्था के लिए केंद्रीय और स्थानीय स्तर पर बड़ी संख्या में प्रशासकों की नियुक्ति की थी । ये कृषि व्यवस्था से लेकर व्यापारिक गतिविधियों तक पर कड़ा नियंत्रण रखते थे । कर की उचित दरें थीं जिसके बदले में राज्य की ओर से व्यापारियों को अनेक प्रकार की सुविधायें प्रदान की जाती थीं । इस कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का काफ़ी विकास हुआ ।तमाम छोटे और मझोले स्तर के व्यापारी समाज में सम्मानजनक जीवन जीने लगे ।

मुसलमानों की शासन व्यवस्था की उल्लेखनीय उपलब्धि थी दिल्ली, आगरा, पटना, इलाहाबाद जैसे शहरों का उदय ।इन शहरों ने भारत में तकनीकी विकास की नींव रखी ।तुर्कों द्वारा लायी गयी अनेक तकनीकों के द्वारा उद्योग और व्यापार का काफ़ी विकास हुआ ।चरखे के आने से भारतीय वस्त्र उद्योग अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक फ़ैल गया ।यह अनायास नहीं है कि हिन्दी के पहले बड़ेभक्तिकालीन कवि कबीर जाति से जुलाहा थे ।इसदौरान परिवहन व्यवस्था में भी काफ़ी सुधार हुआ ।शेरशाहसूरी ने दिल्ली से कलकत्ता तक लम्बी सड़क बनवायी ।मुगल शासकों ने यात्रियों और व्यापारियों के ठहरने के लिए बड़ी संख्या में सराय बनवाये ।मुगल शासक स्वयं

व्यापार कर तेथे ।लेकिन इन सबके बावजूद भारतीय ग्रामीण जीवन में सुधार न के बराबर हुआ ।अकाल, बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं के अतिरिक्त उन्हें जमींदारों के शोषण का भी शिकार होना पड़ता था ।तुलसी ने 'रामचरितमानस' के उत्तरकांड में इनकी दारुण परिस्थिति का मार्मिक चित्रण किया है।

भक्तिकाल के दौरान भी भारतीय समाज में जनता की पहचान का प्राथमिक आधार उसकी जाति ही थी।इस्लाम को माननेवाले जातियों में विभाजित नहीं थे ।भारत में उनके आने से इस बात की संभावना थी कि भारतीय समाज से इस कुप्रथा की समाप्ति हो जाय लेकिन हुआ इसके उल्टा ही ।हिन्दू समाज में पवित्रता की भावना और प्रबल हो गयी ।गाय का माँस खाने वाले मुसलमानों से हिन्दुओं ने एक दूरी बना ली और जो हिन्दू मुसलमानों के संसर्ग में रहता था उसे धर्म से बहिष्कृत किया जाने लगा ।इसका दूसरा उल्टा प्रभाव यह हुआ कि मुसलमानों के भीतर भी ऊंच-नीच और जातिप्रथा का चलन आरंभ हो गया ।हिन्दुओं के बीच से जिस व्यक्ति ने इस्लाम स्वीकार किया वह मुसलमान तो हो गया लेकिन उसकी जातिगत पहचान नहीं मिट सकी ।व्यापार का विकास होने से विभिन्न प्रकार के नवीन पेशों काउद्भव हुआ। आगे चलकर इसने जाति का रूप धारण कर लिया। तो इस काल में भारतीय समाज में कई नयी जातियों का जन्म हुआ। व्यापारिक विकास ने इन जातियों को आर्थिक रूप से सशक्त किया। इससे उनमें शक्ति आयी और उन्होंने वर्णाश्रम के भीतर अपने खिलाफ़ हो रहे अत्याचारों का विरोध करना आरंभ कर दिया। भक्तिकाल के अधिकांश निर्गुण संतों का संबंध तथा कथित निम्न जातियों से था।

स्त्रियों की स्थिति इस काल में भी खराब रही। मुसलमानों की उपस्थिति से इनके शोषण में और अधिक वृद्धि हुई। एक तरफ़ मुसलमान गाहे-बगाहे हिन्दू स्त्रियों का अपहरण कर लेते थे, दूसरी तरफ़ हिन्दू अपनी स्त्रियों के कौमार्य की रक्षा के लिए उनका बाल-विवाह करने लगे। मुसलमान स्त्रियों से प्रेरित होकर, और अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए हिन्दुओं में भी पर्दा प्रथा का चलन बढ़ा। सती प्रथा, विधवा समस्या, अशिक्षा, बहुविवाह जैसी कुरीतियों में बढ़ोतरी के कारण भारतीय स्त्रियों का जीवन नरक के समान हो गया था। तुलसीदास ने 'कतविधि सृजी नारी जग माहीं, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' कहकर उनकी इसी पीड़ा की ओर संकेत किया है।

धार्मिक परिस्थितियाँ :- भारत में प्राचीन काल से विदेशी आक्रांताओं का आगमन होता रहा था। शक, हूण, कुषाण, यवन, कम्बोज आदि न जाने कितनी जातियाँ आयीं और भारतीय समाज में विलीन हो गयीं। लेकिन तुर्क और मुगल शासकों ने अपनी अलग पहचान को सायास बनाये रखा। तीन सौ वर्षों के लम्बे समय के बाद भी भारतीय समाज धर्म के नाम पर हिन्दू और मुसलमान नामक दो वर्गों में विभाजित रहा। इस बीच इतना जरूर हुआ कि मूर्तिपूजा करने वाले और वर्णाश्रम में आस्था रखने वाला हिन्दू समाज, जो कई संप्रदायों में विभाजित था वह एक धर्म के झंडे के तले आ गया। इस नवीन संगठित धर्म, जिसके संगठन की प्रेरक और प्रेणादायी शक्ति इस्लाम थी, ने अपने लिए 'हिन्दू' संज्ञा धारण की जो खुद मुसलमानों ने उन्हें दिया था। आदिकाल के दो विशाल धर्म जैन और बौद्ध धर्म वैष्णव आन्दोलन के आगे टीक नहीं पाये और भारत के कुछ समुदायों तक सीमित हो गये या हिन्दू धर्म में विलीन हो गये।

मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दू जनता पर किया जाने वाला धार्मिक अत्याचार इस काल में भी जारी रहा। हिन्दुओं को इस्लाम ग्रहण करने के लिए मजबूर किया जाता था। उनके धर्म-स्थलों को उनकी आंखों के सामने तोड़ा जाता था। गैर-मुसलमानों द्वारा पूजा-स्थलों के निर्माण पर भी प्रतिबंध था। उन्हें हिन्दू या बौद्ध धर्म को मानने के लिए राजा को जजिया जैसा कर देना पड़ता था। सत्ता में उनकी भागीदारी बहुत कम थी। लेकिन इन सब के बीच हिन्दू और मुसलमानों के बीच साथ रहते-रहते सदभाव की भावना भी विकसित हो रही थी। भक्तिकाल के दौरान सूफ़ी कवियों ने मुसलमान होते हुए भी हिन्दू घरों की कहानियों को अपने काव्य का विषय बनाया। कबीर, रहीम, बखना, बाजिंद जैसे अनेक मुस्लिम रचनाकारों ने हिन्दू देवी-देवताओं के प्रति अपनी आस्था प्रकट की।

1.5.3 भक्तिकाल का वर्गीकरण :-

भक्तिकाल को मुख्य रूप सगुण और निर्गुण नामक दो धाराओं में विभाजित किया जाता है। निर्गुण धारा के दो और भागों में विभाजित किया गया- ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा। इसी प्रकार सगुण धारा को भी दो और भागों में विभाजित किया गया- कृष्णभक्ति शाखा और रामभक्ति शाखा। इन शाखाओं का संक्षिप्त परिचय भक्तिकाल को समझने में आपकी मदद करेगा।

ज्ञानाश्रयी निर्गुण धारा- इस धारा के प्रतिनिधि कवि कबीर हैं।निर्गुण ईश्वर की आराधना के कारण इन्हें निर्गुण धारा कहा गया। निर्गुण का मतलब होता है गुणों से परे होना। इस धारा के रचनाकारों का मानना है कि ईश्वर का कोई रूप नहीं होता। जिसने इस संसार को रचा है उसे सांसारिक मापदंडों के आधार पर कैसे व्याख्यायित किया जा सकता है। ईश्वर प्राप्ति मेंज्ञान को सहायक मानने के कारण इन्हें 'ज्ञानाश्रयी' भी कहा गया। अधिकांश निर्गुण कवि तथाकथित निम्न जातियों से संबंधित हैं। इनके साहित्य में मूर्तिपूजा और वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोर आलोचना मिलती है। भगवान का नाम ही इनकी भक्ति का आधार है। ये श्रमजीवी थे और गृह-त्याग की आलोचना करते थे। अनुभव से प्राप्त ज्ञान द्वारा शास्त्रीय ज्ञान को चुनौती देना इनका प्रिय विषय था। इन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा भारत की बहुसंख्यक जनता को सम्मानजनक जीवन जीने का मौका दिया। इस धारा के प्रमुख कवि हैं- कबीर, रैदास, दादू, रज्जब, सूंदरदास आदि।

प्रेमाश्रयी निर्गुण धारा:- हिन्दी के सूफ़ी कवियों को इस धारा के अंतर्गत रखा जाता है। सूफ़ी मत इस्लाम से ही पैदा हुआ था, लेकिन इस पर भारतीय अद्वैतवाद और इस्लाम की गुह्य साधना का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इस धारा के कवियों ने प्रेम के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति की वकालत की। लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की अवधारणा को आधार बना कर सूफ़ी कवियों ने मसनवी शैली में अनेक प्रबंध-काव्यों की रचना की। इन काव्यों के नायक हिन्दू घरों से आते थे। इन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का महान प्रयास किया। इस धारा के प्रतिनिधि कवि 'पद्मावत' के रचयिता जायसी हैं। 'चंदायन' के लेखक मुल्ला दाउद, 'मृगावती' के लेखक कुतुबन, 'मधुमालती' के लेखक मंझन, 'चित्रावली' के लेखक उसमान इस धारा के अन्य प्रमुख कवि हैं।

कृष्णभक्ति सगुण धारा:- इस धारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास हैं। ये कृष्ण के सगुण रूप के आराधक हैं। कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण के वृंदावन-विहारी रूप का गान ज्यादा किया है। इनके काव्य के मूल में कृष्ण का बाल रूप और राधा-कृष्ण का रूप है। सूरदास की रचना 'सूरसागर' इस धारा की सर्वाधिक प्रतिष्ठित रचना है। पुष्टिमार्ग के अंतर्गत 'अष्टछाप' के कवियों ने कृष्णभक्ति-साहित्य में अनेक ग्रंथों की रचनाएँ की। अष्टछाप के कवि निम्न हैं- कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास,

छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास। इनके अलावा रहीम, मीरा, गंग आदि कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा इस धारा को समृद्ध किया।

रामभक्ति सगुण धारा :- 'रामचरितमानस' के लेखक तुलसीदास इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। अयोध्या के राजा राम रामभक्ति धारा के कवियों के आराध्य हैं। वाल्मीकि से चली आ रही रामकाव्य की परंपरा को इस धारा के कवियों ने आगे बढ़ाया। तुलसीदास के पूर्व हिन्दी के किसी बड़े कवि ने राम को अपने काव्य का नायक नहीं बनाया। ईश्वरदास ने 'भरतमिलाप' और 'अंगद पैज', अग्रदास ने 'रामाष्टयाम' और 'रामध्यान मंजरी' और नाभादास ने 'अष्टयाम' नामक रचनाओं के माध्यम से रामभक्ति धारा का विकास किया। रामभक्त कवि राम के मर्यादावादी स्वरूप के पोषक हैं। उन्होंने अधिकांशत: प्रबंध-काव्यों का ही सृजन किया।

1.5.4. भक्तिकाल की सामान्य प्रवृतियाँ :-

भक्तिकाल में भारत के अधिकांश हिस्से से आये रचनाकारों ने अपनी लेखनी से योगदान किया। इनकी रचनाओं की मूल विशेषता थी अपने अराध्य ईश्वर के प्रति अटूट आस्था से पैदा हुई भक्ति की उपस्थिति। परंतु इनकी भक्ति ऐकांतिक नहीं थी। ये दिन-दुनिया से बेखबर होकर केवल अपनी मुक्ति के लिए ईश्वर के सामने मस्तक नहीं झुकाते थे, बल्कि इनकी भक्ति के केंद्र में था उनका समाज,जिसमें परिवर्तन की विराट चेष्टा इनके साहित्य में मिलती है। भक्तिकाल की सभी धारा के कवियों ने अपने समय और समाज की समस्याओं को समझा और उसके समाधान की उचित राह भी बतायी। एक ओर जहाँ उन्होंने तमाम धार्मिक-सामाजिक कुरीतियों की कठोर आलोचना की वहीं समाज में विद्यमान भेदभाव के अनेक आधारों में सुधार कर समन्वय की व्यापक कोशिश भी की। भक्तिकाल के कवियों में भक्ति के स्वरूप से लेकर सामाजिक सवालों पर पर्याप्त मतभेद हैं लेकिन उनके साहित्य में कुछ सामान्य विशेषताएँ भी हैं जिन पर आगे विचार किया जा रहा है।

भक्ति-भावना का प्राधान्य :- भक्तिकाल के सभी कवि जिस एक बिन्दु पर एकमत हैं वह है ईश्वर की भक्ति। कबीर निर्गुण राम की आराधना करते हैं और तुलसी सगुण राम की, लेकिन दोनों का मानना है कि भगवान की भक्ति ही सांसारिक संकटों से मुक्ति का एकमात्र सहारा है। सूफ़ी कवियों

को छोड़कर अन्य सभी कवियों ने नवधा भक्ति को ही भगवान की आराधना का आधार बनाया है। नाम-स्मरण, कीर्तन, सद्आचरण, संत की संगति, दैन्य भावना, गुरु की महिमा जैसे विचारों की अभिव्यक्ति भक्ति-काव्य की केन्द्र में है। भक्ति की चली आ रही परंपरा से भिन्न भक्त-कवियों में ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम दिखायी पड़ता है। निर्गुण कबीर, सूफ़ी जायसी, कृष्ण भक्त सूर एवं मीरा और रामभक्त तुलसी जिस एक जगह पर आकर मिलते हैं वह है अपने ईश्वर से अटूट प्रेम। ये सभी अपने भगवान के अनन्य भक्त हैं और उनकी शरणागति के आकांक्षी है। इनमे से किसी को जीवन-मरण से मुक्ति नहीं चाहिए, ये तो बस अपने राम-कृष्ण की शरण चाहते हैं। उनके साथ के अभाव और उनसे अलगाव के अहसास के कारण इनके भीतर गहरी विरह भावना व्याप्त रहती है। मीरा कहती हैं- *हे री मैं तो दरद दिवानी मेरा दरद न जाने कोई* सूर भी मीन और चातक के उदाहरण द्वारा हरि के दर्शन की भूख को प्रस्तुत करते हैं- *तलफ़त रहति मीन चातक ज्यों, जल बिनु तृषानु छीजै/ अंखिया हरि दर्शन की भूखी।* भक्ति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा माया की आलोचना भी इनकी भक्ति की प्रधान विशेषता है। माया की आलोचना के क्रम में इन्होंने नारी की आलोचना भी की है जो इनकी संकुचित दृष्टि का परिचायक है।

गुरु की महिमा :- सभी धारा के भक्त कवियों के भीतर गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा मिलती है। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिल सकता और ज्ञान के बिना ईश्वर की प्राप्ति असंभव है। अधिकांश भक्त कवियों ने प्रसिद्ध गुरुओं से दीक्षा ली थी। कबीर तो रामानन्द से दीक्षा प्राप्त करने के लिए गंगा की सीढ़ियों पर सो गये थे। वल्लभाचार्य के कहने पर सूरदास ने कृष्ण की लीला के पद गाना आरंभ किया। सूफ़ियों के यहाँ गुरु ही साधक को राह दिखाता है। 'पद्मावत' में जायसी ने लिखा है कि, '*गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।*' सभी निर्गुण संतों की वाणी में 'गुरु को अंग' अनिवार्य रूप से मिलता है। गुरु का स्थान उनके यहाँ सर्वोपरि है। वही अपने शिष्य का एकमात्र हितैषी और सच्चा पथ-प्रदर्शक है। कबीर ने तो लिखा है कि परमात्मा की नाराजगी के बाद भी संसार में रहा जा सकता है लेकिन गुरु के गुस्सा हो जाने पर तो दुनिया में कहीं भी जगह नहीं मिल सकती- '*हरि रूँठै गुरु ठौर हैं गुरु रूँठे नहिं ठौर।*' तुलसीदास ने '*बंदउ गुरु पद पदुम परागा, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।*' कहकर अपने गुरु की वंदना की है।

नाम-जाप और सहज साधना पर जोर :-भक्त कवियों ने देखा कि संस्थागत धर्मों में ईश्वर की आराधना बेहद जटिल है और उस पर भी एक खास वर्ग का आधिपत्य है। नाथों और योगियों की साधना ने तो उसे विकृत भी कर दिया था। वे पंच मकारो की साधना करते थे और आम जन में आतंक फ़ैलाकर उनका शोषण करते थे। बड़ी संख्या में लोग उनके प्रभाव में आकर घर परिवार को छोड़कर सन्यासी हो जाते थे। ऐसी परिस्थिति में भक्त कवियों ने भगवान की अराधना का सहज मार्ग निकाला। उनका मानना था कि ईश्वर के केवल नाम के ध्यान से भी उनका साहचर्य प्राप्त हो सकता है। तुलसीदास ने जोर देकर कहा कि *'सदा राम जपु, राम जपु, राम जपु, राम जपु, राम जपु, मूढ़ मन बारं बार'*। उन्होंने ने तो कई स्थानों पर राम के नाम को राम से भी ज्यादा शक्तिशाली बताया है। '*रे मनु कृस्न नाम कहि लिजे', 'अब तुम नाम गहौ मन नागर'* कहकर सूरदास ने भी कृष्ण के नाम के स्मरण को ही भक्ति का आधार बताया। नाम-जप को इतनी अधिक महत्ता देने का मूल कारण यह था कि इससे मनुष्य सहजता से ईश्वर का स्मरण कर सकता था। कबीर ने योग की कठिन साधना के बरक्स सहज साधना की बात भी इसीलिए कही। '*घर में जोग, भोग घर ही में/ घर तजि बन नहीं जाओ'* कहकर कबीर ने सन्यास का जबरदस्त विरोध किया। अधिकांश भक्त कवि गृहस्थ थे या गृहस्थ धर्म के समर्थक थे। किसी भी भक्तिकालीन कवि ने गृह-त्याग और कर्मकांड से भरे भक्ति के मार्ग का समर्थन नहीं किया है। दरअसल वे भगवान का द्वार सबके लिए खोलना चाहते थे और उसका मार्ग सरल बनाना चाहते जिससे उस पर सभी चल पायें।

अहंकार का त्याग और दैन्य भाव की अभिव्यक्ति :- कबीर ने लिखा कि *'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं'* अर्थात जब मेरे भीतर मैं यानी अहंकार था तब मेरे पास भगवान नहीं थे लेकिन अब मेरे भीतर का अहंकार समाप्त हो गया है और वहाँ हरि का निवास हो गया है। भक्तिकालीन कवि मानते थे कि अहंकार के त्याग के बिना ईश्वर की सच्ची भक्ति संभव नहीं है। अहंकार के त्याग के बाद ईश्वर के विराट स्वरूप के समक्ष भक्तों की दीनता का प्रकट हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए भक्तिकाल के सभी कवियों में अहंकार के त्याग और दीनता का भाव समान रूप से मिलता है। कबीर तो अपने राम के सामने कुत्ता तक बन जाते हैं और सूरदास को लगता है कि मैं दुनिया का सर्वाधिक पतित व्यक्ति हूँ। कबीर अपने राम के समक्ष निवेदन करते हैं कि *'कबीर कुत्ता राम का'* और सूरदास अपने प्रभु से कहते हैं- '*प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ*'।

बाह्याचारों का खंडन और सामाजिक समन्वय पर बल :- कबीर, रैदास आदि निर्गुण संतों ने विभिन्न धर्मों में विद्यमान कर्मकांडों और बाह्याचारों का पुरजोर विरोध किया। हिन्दू, मुसलमान, नाथ-योगी आदि धर्मों में अलग-अलग प्रकार के रीति-रिवाज थे जो जनता का व्यापक स्तर पर शोषण करते थे। मूर्तिपूजा का विरोध करते हुए कबीर ने कहा कि यदि पत्थर पूजने से भगवान मिल जायेंगे तो मैं पहाड़ ही पूज दूंगा, ऐसा करने से और जल्दी भगवान को मिल जाना चाहिए- '*पाथर पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहाड़*'। कबीर आगे कहते हैं कि पत्थर की मूर्ति से घर की चक्की अच्छी है क्योंकि उससे पीसे गये आटे को खाकर सारा संसार जीवित है। कबीर आदि संत कवि बाह्याचारों का खंडन कर किसी को आहत नहीं करना चाहते थे बल्कि अलग-अलग समुदायों में व्याप्त कट्टरता को खत्म कर वे उनके बीच समन्वय की चेष्टा कर रहे थे। जात-पाँत के आधार पर समाज में व्याप्त विभाजन का सूर-तुलसी सहित तमाम कवियों ने आलोचना की। भक्तिकाल के सभी कवियों का मूल मंत्र था- *'जाति-पाँति पूछै न कोई/ हरि को भजै सो हरि का होई'* उनकी सैद्धांतिक मान्यता थी कि कण-कण में ईश्वर है, तो फ़िर सामाजिक स्तर पर विभाजन का क्या मतलब, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार तो प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का वास है। ब्राह्मण-शूद्र, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, शिया-सुन्नी, हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष जैसे अनेकानेक सामाजिक विभेदों के प्रत्येक रूप का कड़ा विरोध करते हुए भक्तिकालीन संतों ने मानव-मानव के बीच प्रेम का रिश्ता विकसित करने का प्रयास किया और उसमें बहुत हद तक वे सफ़ल भी रहे। वे विश्वबंधुत्व और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास रखते थे।

शास्त्रीय ज्ञान का खंडन और अनुभवजन्य ज्ञान पर बल :- भक्तिकालीन कवियों ने शास्त्रीय ज्ञान का खंडन किया और अपने अनुभवों से प्राप्त ज्ञान पर बल दिया। यह प्रवृत्ति उनके विचारों से लेकर उसकी अभिव्यक्ति तक में दिखायी देती है। कबीर से लेकर तुलसी तक ने शास्त्रीय भाषा संस्कृत और उसमें उपलब्ध ज्ञान परंपरा को नकारा या परिवर्तित किया। तत्कालीन समाज के अनुरूप उन्होंने भाव और भाषा दोनों का चयन किया। कबीर ने स्पष्ट कहा कि *'तू कहता है कागद लेखी, मैं कहता हूँ आखिंन देखी'।* तत्कालीन विद्वत समाज को ललकारते हुए कबीर ने कहा कि तुम्हारा ज्ञान किताबों में लिखे तक सीमित है जबकि मैं किताबें जिस सांसारिक अनुभव से रची जाती हैं उन से सीधा संवाद कर अपनी बात कह रहा हूँ, इसीलिए मेरी बात तुम्हारी बात से ज्यादा प्रामाणिक है।

सूरदास भी भ्रमरगीत प्रसंग में ज्ञान के प्रतीक उद्धव को ग्रामीण समाज की अबोध गोपियों के द्वारा पराजित करते हैं। गोपियाँ उद्धव को ज्ञान का व्यापारी कहती हैं- '*आयो घोष बड़ो व्यापारी/ लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी।*' तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में रामकथा में काफ़ी बदलाव किया। उन्होंने लोक में उपलब्ध राम के चरित्र के अनुसार वाल्मीकि से चली आ रही रामकथा की परंपरा में बहुत बदलाव किया। 'सीता-निर्वासन' से लेकर 'शम्बूक-वध' तक के प्रसंगों को हटाने और केवट तथा शबरी जैसे नवीन प्रसंगों की उद्भावना के पीछे तुलसी का अनुभवजन्य ज्ञान ही सक्रिय था। तुलसी ने ईश्वर की आराधना के लिए अनिवार्य संस्कृत के ज्ञान को नकारते हुए लोकभाषा में भी उनकी अराधना का द्वार खोल दिया। मीरा, रैदास, दादू जैसे रचनाकारों ने जनभाषाओं में साहित्य रचकर शास्त्रीय ज्ञान की परंपरा को खुली चुनौती दी।

लोकभाषाओं में साहित्य लेखन :- भक्तिकालीन कवि जनता के कवि थे। जनता से उनका लगाव इतना गहरा था कि आदिकाल और रीतिकाल के कवियों की तरह उन्होंने दरबारों तक में जाने से मना कर दिया। उन्होंने जनता की भाषा में साहित्य रचा। कबीर ने "*संसकीरत है कूप जल भाखा बहता नीर*" कहकर संस्कृत की आलोचना और बोलचाल की भाषा की तारीफ़ की। कबीर, रैदास, दादू आदि निर्गुण कवियों ने बोलचाल की भाषा में पद लिखे जिसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा गया। सूफ़ी और रामभक्ति धारा के सगुण कवियों ने अवधी को अपने काव्य का आधार बनाया जबकि सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों ने ब्रजभाषा में पद लिखे। मीरा ने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में पदों की रचना की। इन कवियों की रचनाओं में स्थानीय बोलियों के शब्दों का प्राधान्य था। अधिकांश निर्गुण कवियों को अक्षर ज्ञान नहीं था इसलिए उनकी कविताओं के कई रूप मिलते हैं। काव्यरूपों के चयन में भी भक्तकवियों ने लोक में प्रचलित छंदों को बहुत अधिक महत्त्व दिया। इन्होंने मुख्य रूप से प्रबंध और मुक्त शैली में रचनाएँ कीं लेकिन इसमें प्रयुक्त होने वाले छंद और राग-रागिनियों पर लोकगीतों का गहरा प्रभाव था। भक्तिकाल में गेय पदों के लेखन का प्राधान्य था। अधिकांश रचनाओं का मुख्य रस शांत और शृंगार था।

1.5.5 ज्ञानाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ :-

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा को 'संत काव्य' और 'निर्गुण काव्यधारा' भी कहा जाता है। 'ज्ञानाश्रयी काव्यधारा' नाम से यह अनुमान होता है कि इन कवियों ने ज्ञान पर अतिरिक्त बल दिया है, जबकि कबीर आदि निर्गुण कवियों का सर्वाधिक जोर ईश्वर के निर्गुण स्वरूप और प्रेम के द्वारा उसकी प्राप्ति पर है। निर्गुण ईश्वर को अनुभव ज्ञान द्वारा ही पाया जा सकता है इसलिए इस धारा के कवियों को 'ज्ञानमार्गी' या 'ज्ञानाश्रयी' भी कहते हैं। संत कवियों पर रामानन्द का खासा प्रभाव है। उनके बारह शिष्यों में से अधिकांश 'संत मत' को मानने वाले हैं। इस परंपरा के प्रवर्तन का श्रेय कबीरदास को है, जिनसे भक्तिकाल का आरंभ होता है। संत कवि पूर्ववर्ती नाथों-सिद्धों की वाणियों से बहुत प्रभावित थे। उन्हीं की तरह कबीर, दादू, रैदास आदि में बाह्याचारों का विरोध और खंडन-मंडन की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। ये भगवान की भक्ति के लिए सहज-सरल मार्ग पर चलने का निवेदन करते हैं। नाम-स्मरण, सहज साधना, अनुभव ज्ञान द्वारा भगवद-प्राप्ति का आग्रह करते हैं। इन्होंने लोकभाषा में आमजन के लिए काव्य लिखे। मंदिरों-मस्जिदों में बंद ईश्वर को सर्वजनसुलभ बनाया। इस धारा के प्रमुख कवि हैं:-

1. **कबीर :-**विविध अनुमानों के आधार पर विद्वानों द्वारा कबीर का जन्म संवत **1455 (1399** ई.) और मृत्यु संवत **1575 (1518**ई.) के आसपास माना जाता है। जनश्रुतियों के अनुसार इनका जन्म किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था, जिसने लोकलाज के भय से इन्हें जन्म के उपरांत ही काशी के लहरतारा स्थित एक तालाब में बहा दिया था। बाद में इन्हें सद्य: धर्मांतरित एक नाथपंथी जुलाहा दंपत्ति नीरु और नीमा ने इनका पालन-पोषण किया। इनके दीक्षा गुरु रामानंद थे। कुछ विद्वान शेख तकी को भी इनका गुरु मानते हैं। कबीर गृहस्थ और श्रमजीवी संत थे। इनको केवल अक्षर-ज्ञान भर था। देशभर में भ्रमण से प्राप्त अनुभवों के आधार पर इन्होंने काव्य-लेखन किया। इनकी वाणियों का सबसे पहला संग्रह इनके शिष्य धर्मदास ने संवत **1521** में 'बीजक' नाम से किया। बीजक तीन भागों-

रमैनी, सबद और साखी- में विभाजित है। 'रमैनी' और 'सबद' गेय पद हैं, जबकि 'साखी' दोहा छंद में रचित है।सिखों के पवित्र धर्मग्रंथ 'आदिग्रंथ' में इनके करीब 100 पद और 250 साखियाँ संकलित हैं। श्याम सुंदर दास ने 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' से 'कबीर ग्रंथावली' नाम से इनकी वाणियों का संकलन किया। कबीरदास का जन्म काशी में, जबकि मृत्यु मगहर में माना जाता है।

2. **रैदास :-** रैदास के जन्म के विषय में पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अनुमान के आधार पर उनका जन्म संवत 1433 (1376 ई.)की माघ-पूर्णिमा को हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार इनकी मृत्यु संवत 1584 (1527 ई.) में हुई थी। यदि इस तथ्य को स्वीकार किया जाए तो रैदास का जीवन-काल 151 वर्ष ठहरता है, जो असंभव-सा प्रतीत होता है। बेणी प्रसाद शर्मा ने इनकी मृत्यु संवत 1456 (1399 ई.) बतायी है। इस आधार पर ये कबीर के समकालीन नहीं हो पाते, जैसा विविध साक्ष्यों से प्रमाणित होता है। भगवत मिश्र ने इनकी मृत्यु 1448 ई. के मध्य माना है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि ये चौदहवीं-पंद्रहवीं सदी में विद्यमान थे। इनके जन्मस्थान के विषय में भी मतभेद है। राजस्थान के मेवाड़ के मांडवगढ़ और काशी दोनों को इनका जन्मस्थान बताया गया है। रैदास की एक पंक्ति 'मेरी जाति कुटवाढ्ला ढ़ोर ढुवंता नित ही बनारसी आसपास' से अनुमान होता है कि वे काशी निवासी थे। ये जाति के चमार थे, जैसा कि उन्होंने अनेक पदों में कहा है। इनकी गणना भी रामानन्द के बारह शिष्यों में होती है। मेवाड़ की झाली रानी और प्रसिद्ध भक्त-कवयित्री मीरा को इनकी शिष्या बताया जाता है। रैदास एक सरल हृदय के संत कवि थे, जिनमें गहरा भगवत प्रेम था। उन्होंने आत्मनिवेदन में पगे बेहद मार्मिक पद रचे हैं। एकांत निष्ठा, सात्विक और श्रमनिष्ठ जीवन, दैन्य भाव, आत्मसमर्पण और आत्मनिवेदन इनके साहित्य का वैशिष्ट्य है। इनकी कविताओं ने सदियों से वंचित और उत्पीड़ित दलित समाज में नयी किस्म की चेतना जाग्रत की। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "यदि हार्दिक

भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्संदेह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।"

3. **दादू** :- दादू का जन्म संवत 1601(1544 ई.) और मृत्यु संवत 1660 (1603 ई.) में हुआ था। इनका जन्म अहमदाबाद में और मृत्यु जयपुर के निकट भराने की पहाड़ी में बताया जाता है। इनकी जाति को लेकर अलग-अलग मत हैं। सुधाकर द्विवेदी ने इन्हें मोची, रामवक्ष जी ने पिंजारा(तेली), क्षितिमोहन सेन ने मुसलमान और कुछ विद्वानों ने ब्राह्मण बताया है। ग्यारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने बुड्ढन या वृद्धानंद से दीक्षा ली थी। इनके दो पुत्र-गरीबदास और मिसकीन दास थे, जिन्होंने इनकी मृत्यु के पश्चात दादू-पंथ की गद्दी संभाली। इनके जीवन की एक प्रसिद्ध घटना संवत 1643(1584 ई.) में फ़तेहपुर सीकरी में चालीस दिनों तक अकबर से चला इनका सत्संग है। इनके 152 शिष्य थे। इन्होंने कुल बीस हजार पदों की रचना की, जिनको इनके शिष्यों ने 'हरड़े बानी', 'अंग बधु' और 'काया बेलि' नामक तीन रचनाओं में संकलित किया। इन पदों की भाषा पश्चिमी राजस्थानी मिश्रित परिमार्जित हिंदी है। रैदास की तरह ही इन्होंने सहज मधुर गुणों वाले पद लिखे, जिसमें प्रेम को ही भगवान का रूप माना गया है। खंडन-मंडन में इनकी कोई खास रुचि नहीं थी। विषमताओं पर इन्होंने मधुर प्रहार किए हैं। कबीर के प्रति गहरी श्रद्धा रखने वाले दादू ने उपदेशक की मुद्रा में नहीं बल्कि सामान्य व्यक्ति की तरह अपने अनुभवों को साझा किया। वे कहते हैं- 'ना मैं पंडित पढ़ि गुनि जानौं, ना कुछ ग्यान विचारा।' राम के प्रति अनन्य आस्था ही उनकी भक्ति का आधार है- 'राम नाम नहिं छांड़ौ भाई, प्राण तजौ निकट जिव जाई।'

4. **रज्जब** :- ये दादू के सर्वाधिक योग्य शिष्य थे। इनका जन्म जयपुर के निकट सांगानेर में संवत 1624 (1567 ई) में और मृत्यु संवत 1746(1689 ई.) में हुआ। संवत 1644 (1587 ई.) में ये दादू के शिष्य बने। रज्जब के पिता चाँद खाँ आमेर नरेश की सेना में नायक थे। ये पठान मुसलमान थे। इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं- 1. 'रज्जब बानी' 2. सर्वंगी या सर्वांग

योग 3. अंगबधु या अंगबंधी। 'रज्जब बानी' में रज्जब की रचनाओं का संकलन है जबकि 'अंगबधु' में रज्जब ने अपने गुरु की वाणियों को अंगों में विभाजित कर संग्रहित किया है। ग्रंथन की एक सर्वथा नूतन पद्धति 'अंग' को अंगीकृत कर रज्जब ने संकलन-संपादन के क्षेत्र में एक मौलिक कार्य किया। 'सर्वंगी' में इन्होंने अंगों के साथ रागों का भी निबंधन किया। इन पर दादू का गहरा प्रभाव था। उनके सभी शिष्यों में ये सर्वाधिक प्रभावशाली थे। 'सर्वंगी' का प्रारंभ 'दादू नमो निरंजन नमस्कार गुरु देवतह' से कर उन्होंने अपने गुरु के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित किया। इनके विचार दादू से काफ़ी मिलते हैं। इनके पदों की भाषा राजस्थानी है और उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त संत-काव्य परंपरा में सुंदरदास, कुंभनदास, सेन, पीपा, घन्ना, जम्भदास, नानकदेव, सींगा, लालदास, मलूकदास आदि का भी उल्लेख होता है। इस धारा के कवियों का सामान्य परिचय प्राप्त करने के पश्चात आइए अब हम इस धारा की सामान्य विशेषताओं पर विचार करते हैं।

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा की सामान्य विशेषताएँ :-

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के आधिकांश कवि समाज के उपेक्षित वर्ग से संबंधित थे। मंदिरों में उन्हें प्रवेश की अनुमति नहीं थी। ये श्रमजीवी थे, और भगवान के भजन द्वारा समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के भीतर स्वाभिमान की भावना जगा रहे थे।

निर्गुण ईश्वर की उपासना :- ज्ञानमार्गी धारा के कवियों ने ईश्वर के निर्गुण रूप की उपासना की। उनका ईश्वर सांसारिक गुणों में बँधा हुआ नहीं है। वह समस्त प्रकार के सांसारिक गुणों से परे है। जिस ईश्वर ने इस जगत को निर्मित किया, उसकी व्याख्या इनकी सीमाओं के अधीन किया ही नहीं जा सकता। इस ईश्वर का न कोई रूप है, न आकृति है और न ही कोई रंग है। कबीर ने कहा, '*निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखि न जाई/ चारि बेद जाकै सुमृत पुरानां, नौ व्याकरण मरम न जानां/ सेस नाग जाकै गरुड़ समानां, चरन कंवल कंवला नहीं जाना/ कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं, निज जन बैठे हरि की छाहीं*।' यह अनुभूति का विषय है, प्रत्यक्ष ज्ञान

का नहीं। वेदों और पुराणों में इसका बखान किया गया है। इनको प्राप्त करने के लिए अहं का त्याग और मन पर विजय प्राप्त करना होता है। इनकी कृपा के बिना भवसागर को पार कर पाना असंभव है।

ज्ञान की महत्ता :- इस धारा के कवियों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया, इसलिए इन्हें ज्ञानमार्गी कहा गया। निर्गुण ब्रह्म को ज्ञान द्वारा ही जाना, और प्राप्त किया जा सकता है। वैसे संत कवियों का ज्ञान शंकराचार्य के ज्ञान से भिन्न है। इनके यहाँ शास्त्रीय ज्ञान का निषेध है। *'तू कहता है कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आखिन देखी।'* (कबीर) कबीर आदि संतों के लिए ज्ञान अनुभूति का विषय है। यह ईश्वर के स्वरूप को जानने का माध्यम है। गुरु की कृपा से इस ज्ञान की प्राप्ति होती है। अपने आप को नि:शेष भाव से ब्रह्म को समर्पित कर देने से उसका ज्ञान भक्त को होता है।

प्रेम-तत्त्व की प्रधानता :- संत कवियों की भक्ति अलौकिक प्रेम-भाव द्वारा व्यंजित हुई है। ईश्वर के प्रति सच्चे अनुराग के बिना उसका सामीप्य संभव नहीं है। ईश्वर के प्रति सच्ची आसक्ति ही भक्ति है। '*इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का रंग/ इश्क अलह औजूद है, इश्क अलह का रंग*'।(दादू) यह प्रेम तब तक संभव नहीं जब तक ईश्वर अनुभूति का विषय न बन जाए। इसीलिए संतों ने अपने अनुराग को दांपत्य भाव द्वारा अभिव्यक्त किया। '*बहुत दिनन की जोबती/ बाट तुम्हारी राम/ जिब तरसै तुझ मिलन कै, मनि नाहीं बिश्राम*।' (कबीर) संत कवियों के इस नितांत निजी रागात्मकता की अभिव्यक्ति को कुछ विद्वानों ने 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी, और उन पर सूफ़ी रहस्यवाद का प्रभाव भी स्वीकारा। रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा की समानता का विचार होता है। संत कवियों के यहाँ ब्रह्म पति रूप में है, जबकि आत्मा पत्नी के रूप में। इन दोनों के एकमेक होने की कामना तो है, लेकिन समान होने की नहीं। इसलिए गणपति चंद्र गुप्त के शब्दों में, "*इन्होंने अपने अलौकिक प्रेम की व्यंजना कुछ ऐसे लौकिक रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से की है, जिनसे पाठक की अनुभूति का विषय बन जाता है।*" प्रेम की गहन अनुभूति के चलते संत कवियों के विरह का रंग चटक है। वे प्रेम में बेसुध हो जाते हैं। मिलन की चाह में रातदिन तड़पते रहते हैं। प्रेम के संयोग और वियोग दोनों क्षणों का आत्मीय चित्रण संतों ने किया है। दादू यदि कहते हैं कि '*कहा करहुँ कइसे*

मिलहि रे, तलफ़इ मेरा जीव/ दादू आतुर विरहिनी रे/ कारन आपने पीव' तो कबीर की घोषणा है, '*दुलहिनी गावहूं मंगलाचार, हमरे घर आए हैं राजा राम भरतार।*' इस प्रेम में दीवाना होकर भक्त खुद को पूर्णरूपेण समर्पित कर देता है। वह ईश्वर के समक्ष दीन-हीन अवस्था में उपस्थित होता है। '*मेरा मुझमे कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा/ तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै मेरा।*' (कबीर) संत-कवि परमात्मा के प्रेम में इस कदर डूब गए हैं कि उन्हें समाज की कोई चिंता नहीं है। '*हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या/ रहैं आजाद या जग में, हमन को दुनिया से यारी क्या*' (कबीर) यह भगवत-प्रेम ही है, जिसने संत-कवियों के भीतर सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ़ संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

नाम-स्मरण की महिमा :- ज्ञानाश्रयी धारा के कवि समाज के निम्न वर्ग को संबोधित थे, इसलिए उन्होंने साधना के एक ऐसे मार्ग की तलाश की जिसमें सगुण भक्ति की तरह तामझाम न हो। समाज के उपेक्षित वर्ग के पास मंदिर में जाकर भगवान की पूजा करने की न छूट थी और न ही सामर्थ्य, इसलिए कबीर आदि संत कवियों ने नाम-स्मरण की महिमा का बखान किया। उनकी साधना का मार्ग बहुत ही सहज है। नाम-स्मरण मात्र से मनुष्य भव के समस्त बंधनों से मुक्त हो सकता है। '*नाम बिना भव करम न छूटै/ साधुसंग और रामभजन बिन काल निरंतर लूटै*' (कबीर) सगुण भक्ति के अलावा योगी, जंगम और सिद्धों का साधना-मार्ग और भी अधिक कठोर और श्रमसाध्य था। इसलिए संतों ने सहज साधना पर बल दिया। '*सहज सहज सब कहै, सहज न चीन्है कोई/ जिन सहजै विषया जती, सहज कहीजै सोई।*' विषयों का त्याग और नाम-स्मरण सहज भक्ति का आधार है। इसके लिए न गृह-त्याग की जरुरत है, और न ही मंदिर-मस्जिद में जाकर कर्मकांड करने की। इसके लिए तो बस राम के नाम का सुमिरन ही पर्याप्त है। '*राम सुमरो, राम सुमरो, राम सुमरो भाई/ कनक कांता तजकर बाबा, आपनी बादशाही।*' (संत कमाल) संत कवियों ने व्यक्तिगत साधना को श्रेष्ठ माना।

गुरु की प्रतिष्ठा :- ज्ञानाश्रयी काव्यधारा में गुरु की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। गुरु ज्ञान का वाहक है। उसके सहयोग के बिना माया में बँधे जीव के भीतर ईश्वर की ओर उन्मुखता नहीं हो सकती है। यदि ईश्वर को जान भी गए तो उस तक पहुँचने की राह गुरु से होकर ही जाती है। '*सतगुर की*

महिमा अनंत, अनंत किया उपगार/ लोचन अनंत उघाडिया, अनंत दिखावणहार।' (कबीर) वह लोक वेद की असारता का उद्घाटन कर ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराता है। उसी की बताई राह पर चलकर राम से लागी लगी, मिलन की तड़प उठी और फ़िर मिलना भी संभव हो सका। गुरु न होता तो भक्ति के कराल-पंथ में उलझ जाने का खतरा था। गुरु के ज्ञान से ही संभव हो सका कि आज मेरा चलना, घूमना, खाना-पीना, सब ईश्वर भजन के समान है। गुरु-कृपा से ही सांसारिक बंधनों से मुक्ति संभव हो सकी है, इसलिए गुरु मुक्ति का पर्याय है।

सामाजिक चिंता :- संत-काव्य का एक बड़ा हिस्सा सामाजिक विधि-विधानों की आलोचना के क्रम में लिखा गया है। संत कवियों की साधना भले ही व्यक्तिगत रही हो, लेकिन उनकी चिंता के केंद्र में समस्त समाज था। वे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से असंतुष्ट थे। भक्ति के नाम पर प्रचलित विधि-विधान और कर्मकांड आम-जन का शोषण कर रहे थे। जनता उससे त्रस्त थी। समाज के उपेक्षित वर्ग से आने के कारण संत कवियों ने इसे देखा और भोगा था। इसलिए उनकी कविता में इसके खिलाफ़ तीव्र आक्रोश है। रैदास जाति व्यवस्था के निम्नतम पायदान पर अवस्थित थे। उनके लोग काशी के आसपास मरे हुए पशुओं का चमड़ा काटने का काम करते थे। स्वयं रैदास जीवन भर जूता बनाते रहे। जाति-व्यवस्था की क्रूरता को उन्होंने करीब से महसूस किया था। वे विनम्र भाव से कहते हैं कि 'मेरी जाति कमीनी, पांति कमेनी, ओछा जनमु हमारा', परंतु कबीर इस व्यवस्था पर सवाल खड़ा करते हैं ' जे तू बाभन बभनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।' यदि तुम ब्राह्मण हो, और ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुआ हो, तो और तरीके से दुनिया में क्यों नहीं आए? और, अगर तुम उसी तरीके से दुनिया में पैदा हुए हो, जैसे हम सब, तो तुम श्रेष्ठ क्यों और हम हीन क्यों? तत्कालीन समाज के प्रत्येक वर्ग में कर्मकांडों का बोलबाला था। हिंदू, मुसलमान, योगी, नाथ, शाक्त, शैव आदि सभी भक्ति और धर्म के मूल को तज कर बाहरी विधि-विधानों में फ़ँसे हुए थे। संत कवियों ने सबकी खबर ली। मुसलमानों को सावधान करते हुए कबीर ने कहा '*कांकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई चुनाय/ ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहिरा भया खुदाय*' और हिंदुओं की मूर्तिपूजा की वास्तविकता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा '*पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पुजूँ पहाड़/ तातै यह चक्की भली, पीस खाए संसार*'। संत कवियों ने समाज के विभेदों को समाप्त कर सौमनस्य स्थापित करने का प्रयास किया और आम जनता को सहज भक्ति का मार्ग दिखलाया।

1.5.6 **प्रेमाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ : -**

1. **मुल्ला दाउद:-** ज्ञात स्त्रोतो के अनुसार मुल्ला दाउद प्रेमाश्रयी काव्य परंपरा के पहले कवि माने जाते हैं। ये राय बरेली, उत्तर प्रदेश के डलमऊ नगर के रहने वाले थे। इनकी प्रसिद्ध कृति 'चंदायन' है, जिसका रचनाकार **1379** ई. माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे सूफ़ी परंपरा का पहला काव्य कहा है। इसमें गोबर नगर की राजकुमारी चंदा और वीर योद्धा लोरिक की प्रेमकथा है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है और इसमें मसनवी पद्धति का अनुसरण किया गया है। अपभ्रंश की दोहा-चौपायी शैली में इसकी रचना हुई है।

2. **कुतुबन** :- कुतुबन चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। ये जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। इनकी प्रसिद्धि का आधार 'मृगावती' नामक रचना है, जिसका रचनाकाल संवत **1558 (1500** ई.**) है।** इसमें चन्द्रगिरि के राजा गणपतिदेव के पुत्र और कंचननगर के राजा रूपमुरारी की पुत्री की प्रेम-गाथा है। यह दोहा-चौपायी शैली में लिखी गई। कथानक घटनाबहुल है। मसनवी पद्धति का प्रयोग हुआ है। दोहा, चौपाई, अरिल्ल, सोरठा जैसे छंदों का प्रयोग हुआ है। इसमें प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम के स्वरूप को दिखाया गया है। बीच-बीच में सूफ़ियों की शैली में बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं।

3. मंझन :- मंझन एक प्रसिद्ध सूफ़ी कवि हैं। बारह वर्षों की तपस्या के बाद इन्हें आत्मज्ञान हुआ था। ज्ञानोदय के पश्चात इन्होंने 'मधुमालती' की रचना की थी। इसका रचनाकाल संवत 1545 (1488 ई.) के आसपास माना जाता है। जायसी ने 'पद्मावत' में इस रचना का उल्लेख किया है। यह काफ़ी प्रसिद्ध रचना थी। इसमें प्रयुक्त एक पंक्ति 'बुझि पढ़ै मोर आखर लोई' से इस रचना में सूक्ष्मज्ञान के होने का पता चलता है। इसमें कनसेर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर और महारसनगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रेमकथा का चित्रण है। इसकी कल्पना विशद और

वर्णन अधिक विस्तृत और हृदयग्राही है। इसके कथा शिल्प पर 'कथासरित्सागर' और 'हितोपदेश' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका बारहमासा वर्णन सावन से प्रारंभ होता है और बहुत अधिक मार्मिक है।

4.जायसी :- जायसी भक्तिकाल की निर्गुण धारा के प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनका पूरा नाम मलिक मोहम्मद जायसी था। ये उत्तर प्रदेश के जायस नामक स्थान में रहते थे। जायसी का जन्म जायस में हुआ था या ये कहीं बाहर से आकर बसे थे इसको लेकर भ्रम की स्थिति है। स्वयं जायसी ने बाहर से आकर जायस में बसने की बात लिखी है- *'जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आय कवि कीन्ह बसानू।'* अपने जन्म के संबंध में उन्होंने लिखा है- '*भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर बा बदी॥*' परंतु इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इनके जन्म के समय के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जायसी अपने जमाने के प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर माने जाते थे। इनके गुरु के रूप में अनेक सूफ़ी संतों का जिक्र होता है। आचार्य शुक्ल ने शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) को जायसी का गुरु बताया है। जायसी पर शोध करने वाले विजयदेव नारायण साही का मानना है कि ये किसे सम्प्रदाय में विधिवत दीक्षित नहीं हुए थे। जायसी गाजीपुर और भोजपुर के राजा जगद्देव और अमेठी के राजा के दरबार में भी रहे। अमेठी में ही इनकी मृत्यु सन 1542 ई. में हुई थी।

जायसी बेहद कुरूप थे जिसकी पीड़ा कई स्थलों पर अभिव्यक्त होती है-*'मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु/ जेई मुँख देखा तेई हँसा सुना तौ आये आँसु।'* उनकी एक आँख में रोशनी नहीं थी और एक कान से सुनाई भी नहीं देता था। ऐसी किंवदन्ती है कि शेरशाह इनके रूप को देखकर एक बार हँस पड़ा था जिस पर जायसी बोले- '*मोंह का हँसेसि कि हँसेसि कोहारहि।*' जायसी भक्तिकाल के अकेले प्रमुख कवि हैं जिन्हें अपने कवि होने का अभिमान है। वे सूफ़ी बाद में हैं कवि पहले। विजयदेव नारायण साही ने जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत कवि कहा है। इनका रचनाकाल बाबर से लेकर शेरशाह के शासनकाल तक फ़ैला हुआ है। इनकी कुल तीन रचनाओं का पता चलता है-'आखिरी कलाम', 'अखरावट' और 'पद्मावत'। 'पद्मावत' जायसी की अंतिम रचना है और उनकी प्रसिद्धि का आधार स्तम्भ भी।

आखिरी कलाम :- इस पुस्तक की रचना के संबंध में जायसी ने लिखा है- *'नौ सौ बरस छतीस जो भये। तब एहि कथा के आखर कहे।'* तात्पर्य यह कि इसकी रचना हिजरी सन 936 अर्थात 1530 ई. में हुई थी। 'आखिरी कलाम' में बादशाह बाबर (शासनकाल- 1526-1530 ई.) की प्रशंसा है जो उचित ही है। जायसी ने इसकी रचना मुख्य रूप से इस्लाम में उल्लेखित कयामत के वर्णन के लिये किया था। सूफ़ी परंपरा के अनुसार इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा, गुरु की वंदना, जायस नगर का वर्णन भी मिलता है।

अखरावट :- इसका रचनाकाल स्पष्ट नहीं है। यह 1520 से लेकर 1540 ई. के बीच कभी लिखी गयी थी। इसमें वर्णमाला के अक्षरों को लेकर सिद्धांत से भरी चौपाइयाँ लिखी गयी हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर और प्रेम आदि के विषय में विचार प्रकट किये गये हैं।

पद्मावत :- जायसी की प्रतिष्ठा का अक्षय स्रोत यही रचना है। इसके लेखन के आरंभ के विषय में कवि ने लिखा है कि-'*सन नौ सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।*' मतलब यह कि 927 हिजरी यानी सन 1520 में 'पद्मावत' का लेखन आरंभ हुआ। इसकी रचना मसनवी पद्धति के अनुसार हुई है इसलिए आरंभ में बादशाह शेरशाह की प्रशंसा है। शेरशाह ने दिल्ली पर सन 1540 से 1545 तक शासन किया था। इससे पता चलता है कि 'पद्मावत' की रचना भले ही सन 1520 में प्रारंभ हो गयी हो लेकिन इसकी समाप्ति शेरशाह के शासनकाल में ही हुई होगी। विद्वानों का मानना है कि इस रचना का लेखन सन 1540 तक सम्पन्न हो गया था।'पद्मावत' दोहा-चौपायी शैली में लिखा गया एक प्रबंधकाव्य है। इसकी कथा का विभाजन 'खण्डों' में किया गया है। इसमें कुल 57 खण्ड हैं। यह प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें चितौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम कथा कही गयी है।

5. उसमान :- ये गाजीपुर, उत्तर प्रदेश के निवासी थे और मुगल बादशाह जहाँगीर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम शेख हुसेन था और ये चिश्ती संप्रदाय के हाजीबाबा के शिष्य थे। इनका उपनाम मान था। इन्होंने सन 1613 में 'चित्रावली' की रचना आरंभ की। इन पर जायसी का खूब प्रभाव है। 'चित्रावली' की कहानी पूर्ण रूप सी कल्पित है। नेपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र

सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेमकथा इसके केंद्र में है। दोहा-चौपाई में लिखी इस रचना में 'पद्मावत' की तरह ही सात-सात चौपाइयों पर एक दोहा रखा गया है। कथानक रूढ़ियों का खुलकर प्रयोग हुआ है।

6. शेखनबी :- ये उत्तर प्रदेश के जौनपुर के मउ नामक गाँव के निवासी थे। जहाँगीर के समकालीन थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानदीप' है, जिसका रचनाकाल सन 1614-1619 माना जाता है। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है। कवि के अनुसार इस काव्य की कथा का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। वह पाप के विनाश और पुण्य के प्रकाश में अपने काव्य की सार्थकता देखता है। अन्य प्रेमाश्रय काव्यों से भिन्न इसकी कथा सुखांत है। इस रचना पर भी जायसी का प्रभाव है। शुक्ल जी ने इससे ही प्रेमगाथा की परंपरा का अंत माना है।

इनके अतिरिक्त भी हिंदी में प्रेमाश्रयी काव्य की परंपरा चलती रहती है। इस कड़ी में कासिमशाह की 'हंस जवाहिर', नूर मुहम्मद की 'इंद्रावती' की विशेष चर्चा होती है।

प्रेमाश्रयी काव्यधारा की विशेषताएँ :-

फ़ारसी की मसनवी पद्धति का प्रयोग :- प्रेमाश्रयी काव्यधारा की रचनाओं में मसनवी पद्धति का व्यापक पैमाने पर प्रयोग हुआ है। इस पद्धति में कथारंभ के समय अल्लाह की स्तुति, पैंगंबर की वंदना, तत्कालीन राजा की प्रशंसा और नगर-वर्णन किया जाता है। जायसी ने 'पद्मावत' में इस पद्धति का उपयोग किया है। इसमें कथा सर्गों या अध्यायो में विभक्त नहीं होती, वह बराबर चलती रहती है, केवल स्थान-स्थान पर प्रसंगों या घटनाओं का उल्लेख शीर्षक के रूप में होता है। सारा काव्य एक ही मसनवी छंद में होता है।

प्रेम-कहानी :- सूफ़ी कवियों ने भारतीय समाज में प्रचलित हिंदू जीवन की प्रेम-कथा को काव्य का विषय बनाया। यह अधिकांशत: मुसलमान कवियों के द्वारा लिखी गईं, लेकिन इनमें हिंदू जीवन के प्रति गहरी सहानुभूति मिलती है।

प्रेम-तत्त्व की व्यंजना :- सूफ़ी काव्य का प्रधान-विषय प्रेम है। लौकिक प्रेम के अलौकिक प्रेम में रूपांतरित होने की कथा के द्वारा सूफ़ी कवियों ने प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन किया। सूफ़ी काव्य में प्रियतमा अलौकिक सौंदर्य की मलिका, परम प्रेममय, परम सौंदर्यमय और परम ज्योति धारण किए हुए रहती है। वह वस्तुत: ब्रह्म का प्रतीक होती है। प्रेमी उसके रूप को देखकर आकर्षित होता है, जो साधक का साधना पथ पर अग्रसर होने का संकेत है। सूफ़ी मत के अनुसार ईश्वरीय ज्योति पर एक विचित्र 'हिजाब' पड़ा रहता है, जिसको सच्ची साधना द्वारा ही हटाया जा सकता है। कलुष रहित हृदय का प्रेम ही यह परदा हटा सकता है। 'पद्मावत' में रत्नसेन प्रेम-साधना द्वारा पद्मावति के सौंदर्य का पान करता है। सूफ़ी-काव्य में संयोग की अपेक्षा वियोग का वर्णन ज्यादा मिलता है। वियोग वर्णन के द्वारा सूफ़ी कवियों ने आत्मा और परमात्मा के अलगाव को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें प्रेमी-प्रेमिका के अलगाव की अवधि में होने वाली पीड़ा और प्रिय को पाने के लिए किए जाने वाले कष्टमय प्रयासों के व्यापक वर्णन द्वारा साधक की कठिन साधना की ओर संकेत किया गया है। इस प्रेम-साधना में साधक अनेक प्रकार की परीक्षाएँ देता है, अनेक युद्ध लड़ाता है, जोगी बनता है, दासता स्वीकार करता है और अंतत: अपने प्रेम को प्रमाणित करता है। 'पद्मावत' में रतनसेन की प्रेम परीक्षा लेने के पश्चात पार्वती ने शिव से कहा- *'निश्चय यह प्रेमानल दहा/ कसे कसौटी कंचन लहा'।* सूफ़ी मत के अनुसरण और उसके यांत्रिक प्रयोग के कारण प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रेम लोकजीवन के भीतर स्वरूप ग्रहण नहीं करता। उसमें व्यापकता और गंभीरता दिखाई नहीं पड़ती। इसमें प्रेम का आवेग बहुत अधिक होता है, जो भारतीय प्रेम के अनुरूप नहीं है। फ़ारसी काव्यों में प्रेमी दीन-दुनिया से बेखबर, एकांतिक प्रेम में डूबकर, पागल हो जाता है, लेकिन भारतीय कथा काव्यों में प्रेम सामाजिक जीवन के भीतर प्रस्फुटित और पल्लवित होता है। जायसी ने इस पद्धति का उपयोग किया है, इसीलिए नागमती का विरह भारतीय ग्रामीण स्त्री का विशुद्ध और निश्छल प्रेम सिद्ध होता है। परंतु, ऐसा अन्य सूफ़ी कवि न कर सके।

चरित्र-चित्रण :- प्रेमाश्रयी काव्यों में जितना ध्यान घटना-चक्रों, रहस्यमय वर्णनों, परिवेश-चित्रण पर रहता है, उतना चरित्र-चित्रण पर नहीं। अधिकांश पात्र सूफ़ी-सिद्धांत के वाहक होते हैं, उनके चरित्र का स्वाभाविक विकास नहीं होता। इसलिए उसमें मानव-जीवन का पूर्ण चित्र नहीं मिलता। लोककथाओं से संबंधित और लोक चेतना में रचे-बसे ये पात्र एक ही साथ योगी, फ़कीर, रूपलोभी,

राजा, प्रेमी, वीर आदि गुणों से विभूषित होते हैं। इनके नायक आदर्श प्रेमी तो होते हैं, लेकिन आदर्श मनुष्य नहीं बन पाते। नायकों के तुलना में प्रतिनायकों की रचना बहुत ही कम सूफ़ी काव्यों में हुई है।

रहस्यवाद :- प्रेमाश्रयी काव्य में 'माधुर्य भाव' से परिपूर्ण भावनात्मक रहस्यवाद की प्रधानता है। कहीं-कहीं साधनात्मक रहस्यवाद के प्रभाव में हठयोग की शब्दावलियों का भी प्रयोग हुआ है। इनके रहस्यवाद का आधार भावना की गहराई और साधना की शक्ति है। वे जगत के अनेकानेक रूपों में प्रियतम की छाया देखते हैं और सारे प्राकृतिक कार्य व्यापार को ईश्वर प्रेम की परछाई मानते हैं। जायसी ने लिखा है, " *देखि मानसर रूप सोहावा/ हिय हुलास पुरइनि होइ छावा/ गा अंधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरिन रवो फूटी*" । सूफ़ी कवियों ने फ़ारसी के भावनात्मक रहस्यवाद में भारतीय अद्वैतवाद का मेल कर प्रकृति की समस्त सत्त में प्रिय की सत्ता का दर्शन किया। अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया बाधक है, और सूफ़ी मत में यह बाधा शैतान उत्पन्न करता है। सूफ़ियों ने इनका मेल कर दिया।

काव्य-रूप तथा शैली :- प्रेमाश्रयी काव्य में फ़ारसी की मसनवी पद्धति का अनुसरण किया गया है, लेकिन उसका अंधानुकरण नहीं हुआ है। भारत में महाकाव्य और कथाकाव्य के प्रमुख तत्त्वों का मेल कर सूफ़ी कवियों ने अपने प्रबंध-काव्यों की रचना की। उन्होंने कथा को सर्गों की जगह खंडों में विभाजित किया। महानायक की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया। 'पद्मावत' में रत्नसेन की तुलना में पद्मावती का व्यक्तित्व ज्यादा प्रभावशाली है। सूफ़ियों ने अपभ्रंश के चरित काव्य वाली रचना शैली का अनुकरण कर वस्तु वर्णन में अत्युक्ति एवं अतिश्योक्ति का अतिशय सहारा लिया। नायिका के सौंदर्य का वर्णन हो या प्रकृति का वैभव, वे उसे अत्युक्ति की चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं। कथाकाव्य की रचना का उद्देश्य महाकाव्य की तरह आदर्श एवं मर्यादा की स्थापना न होकर पाठकों के भीतर रोमांच और कौतुहल की स्थापना करना होता है। इस उद्देश्य में प्रेमाश्रयी काव्य परंपरा की रचनाएँ पूर्णतया सफ़ल हैं। कथानक को गति प्रदान करने के लिए भारतीय कथाकाव्य में प्रचलित अनेक कथानक रुढ़ियों का प्रयोग इन कवियों ने किया है। चित्र दर्शन, स्वप्न या शुक-सारिका द्वारा नायिका का रूप-वर्णन सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों द्वारा भावी घटना

का संकेत मिलना, मंदिर या चित्रशाला में प्रेमी युगल की भेंट आदि भारतीय कथानक रुढ़ियों का प्रयोग मिलता है। कुछ नयी कथानक रुढ़ियों का सृजन भी इन कवियों ने किया है, जैसे- प्रेम व्यापार में परियों या देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ, प्रेमी राजकुमार को गिरफ़्तार करा देना आदि। सूफ़ी काव्य की एक और खासियत यह है कि इसमें कथा एक इकाई में बँधी होती है, उसे हम कहीं भी खंडित नहीं कर सकते। जायसी कहते हैं कि उन्होंने 'पद्मावत' अपने रक्त में लपेटकर रचा है- '*मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा/ सुना सो प्रेम पीर गा पावा/ जोरी लाइ रकत कै लेई/ गाढ़ी प्रीति नैन जल गई*।' सूफ़ी काव्य प्राथमिक जीवनानुभवों की साहित्यिक परिणति है।

प्रतीकात्मकता :- लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए सूफ़ी कवियों ने कथा, पात्र-योजना, स्थान, यात्रा तथा अन्य विवरणों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया। 'पद्मावती', 'मधुमालती' और 'चित्रावली' की पूरी कथा संकेतों से भरी हुई है। ये प्रेमकाव्य एक प्रकार के कथा-रूपक या प्रतीक-काव्य हैं। 'पद्मावत' की कुछ पंक्तियाँ इस मान्यता को पुष्ट करती हैं। '*सिंघल द्वीप पदुमिनी रानी/ रतनसेनि चितउर गढ़ आनी/ अलाउद्दीन दिल्ली सुलताना/ राघौ चेतन कीन्ह बखाना/ सुना साहि गढ़ छेंका आई/ हिंदू तुरकन भई लराई/ आदि अंत जसि कथ्या अहै/ लिखि भाषा चौपाई कहै।* ', या इन पंक्तियों को भी देखा जा सकता है- '*तन चितउर, मन राजा कीन्हा/ हिय सिंघल, बुधि पद्मिनी चीन्हा/ गुर सुआ, जेहि पंथ दिखावा/ बिनु गुरु जगत को निरगुण पावा*।' इसमें रत्नसेन सूफ़ी साधक, पद्मावती परमात्मा, नागमती दुनिया-धंधा, अलाउद्दीन माया, सुग्गा गुरु, राघव चेतन शैतान और सिंघल द्वीप साधना-केंद्र का प्रतीक है। वैसे, विजयदेव नारायण शाही जैसे कुछ विद्वान सूफ़ी काव्यों के प्रतीकात्मक अर्थ का विरोध करते हैं।

काव्य-भाषा और काव्य-शैली :- अधिकांश सूफ़ी कवि अवध प्रांत के रहने वाले थे, इसलिए इन्होंने अवधी को काव्यभाषा के रूप में प्रयुक्त किया। अवधी भाषा का जैसा साफ़-सुथरा और सर्जनात्मक प्रयोग प्रेमाश्रयी काव्य में मिलता है, उसको देखकर लगता है कि इसका साहित्यिक रूप पूर्व में भी प्रचलित था। अवधी का ठेठ देशी प्रयोग इन रचनाओं में हुआ है। तद्भव बहुल लोकभाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का पुट इसे स्वाभाविक बनाता है। '*भंवर आइ वन खंड हुति, लेहि कंवल के बास/ दादुर बास न पावहि, भलेहि जो आछहि पास*।' ('पद्मावत') सूफ़ी काव्य में पात्रों के नाम

तत्सम हैं। इनमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का शुद्ध और व्यापक प्रयोग हुआ है। अलंकारों के प्रयोग में प्रचलित परंपरा का अनुसरण है। नवीन अलंकारों का प्रयोग नहीं मिलता है। रुपक, उपमा, अतिश्योक्ति और अन्योक्ति का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। अरबी-फ़ारसी से वैचारिक उर्जा प्राप्त करने के बावजूद पूरी उपमान योजना भारतीय है। इन्होंने फ़ारसी के बहरों को न अपनाकर; अपभ्रंश के चरित-काव्य, धार्मिक कथाओं एवं नाथों-सिद्धों द्वारा प्रयुक्त दोहा और कतिपय फ़ुटककर छंदों में उपलब्ध चौपाई-दोहा की काव्य शैली को स्वीकार किया। कुतुबन और मंझन के यहाँ पाँच-पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा आता है, जबकि जायसी और उसमान के यहाँ सात-सात अर्द्धालियों के बाद। जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति अपभ्रंश के चरित काव्य में प्रयुक्त 'कडवक बद्ध पद्धति' का अनुसरण है। इससे सिद्ध होता है कि सूफ़ी कवियों को भारतीय साहित्य परंपरा का गहरा ज्ञान था।

1.5.7 कृष्णाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ : -

वल्लभाचार्य (1479 ई.-1530 ई.) के वृंदावन आगमन के साथ ही, उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति का विकास होता है। शंकराचार्य द्वारा भक्ति को अविद्या या भ्रम कहने के बाद, रामानुज की तरह ही वल्लभ ने भी सगुण मार्ग की स्थापना का प्रण लिया। शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म सत्य है और सारा जगत मिथ्या। वल्लभ ने ब्रह्म, जीव और जगत को एक ही माना, और तीनों में सत, चित और आनन्द की व्याप्ति स्वीकार की। अंतर सिर्फ़ इतना है कि जहाँ ब्रह्म में तीनों तत्त्वों जाग्रत रहते हैं, वहीं जीव में केवल सत और चित, तथा प्रकृति में केवल सत जागृत रहता है। यदि जीवन अपने भीतर के सुषुप्त तत्वों को जगा ले तो, वह ब्रह्म के समान हो जाएगा। वल्लभ ने शंकर के मत को उलटते हुए ब्रह्म के सगुण रूप को ही उसका असली रूप कहा। वल्लभ ने कृष्ण को 'परब्रह्म' माना, जो दिव्य गुणों से संपन्न होने के पश्चात 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। इसी पुरुषोत्तम के भीतर आनंद का पूर्ण आविर्भाव होता है। वह 'व्यापीवैकुंठ' में नित्य लीला करते रहते हैं। यह 'व्यापीवैकुंठ' विष्णु के वैकुंठ से भी ऊपर है, और इसी का एक भाग 'गोलोक' है जिसमें यमुना, वृंदावन इत्यादि हैं। कृष्ण भक्त की सबसे बड़ी कामना इस गोलोक का वासी होना है, जो कृष्ण की कृपा के बगैर संभव नहीं है। भगवान के अनुग्रह से ही जीव उनकी प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर उन्मुख होता है। वल्लभाचार्य ने 1500 ई. में ब्रज-प्रदेश स्थित गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी की मूर्त्ति स्थापित कर, कृष्ण भक्ति की

नींव रखी। आगे चलकर यह समस्त उत्तर और पूर्वी भारत में कृष्णभक्ति के प्रचार-प्रसार का सबसे बड़ा केंद्र सिद्ध हुआ।

वल्लभाचार्य की इस दार्शनिक स्थापना की काव्यात्मक परिणति ही हिंदी के कृष्णभक्त कवियों में मिलती है। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की थी, जिसके आठ कवियों ने हिंदी कृष्णकाव्य को अद्‌भुत उच्चाई प्रदान की। इसके अंतर्गत उन्होंने वल्लभाचार्य के चार और अपने चार शिष्यों को शामिल किया। 'अष्टछाप 'के कवि हैं -सूरदास ,कुंभनदास ,परमानंददास , कृष्णदास ,छीतस्वामी ,गोविंदस्वामी ,चतुर्भुजदास और नंददास। इन कवियों ने कृष्णकाव्य परंपरा की एक मजबूत नींव रखी। आइए अब हम कृष्णकाव्य परंपरा के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करते हैं।

सूरदास :- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार सूरदास का जन्म आगरा और मथुरा के बीच स्थित गऊघाट नामक स्थान पर हुआ था। इनका जन्म 1483 ई. और मृत्यु 1563 ई. में हुई थी। इनका संबंध चंदबरदाई की वंश परंपरा से भी जोड़ा जाता है। इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं -'सूरसागर ,' सूरसारावली'और 'साहित्य लहरी'। इनकी प्रतिष्ठा का आधार 'सूरसागर' है, जिसकी रचना 'श्रीमदभागवत 'के आधार पर हुई है।

नंददास :- ये सूरदास के समय के हैं। इनका प्रामाणिक जीवन-वृत्त उपलब्ध नहीं है। नाभादास के 'भक्तमाल' में इनके भाई का नाम चंद्रहास बताया गया है, जबकि गोकुलनाथ की 'दो सौ बावन बैष्णवन की वार्त्ता' में इन्हें तुलसीदास का भाई कहा गया है। विभिन्न प्रमाणों से अब यह सिद्ध हो गया है कि गोस्वामी तुलसीदास के साथ इनका कोई संबंध नहीं था। ये गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। कृष्णकाव्य परंपरा में सूरदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जाता है। रोला छंद में लिखी पुस्तक 'रास पंचाध्याययी' इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य उपलब्ध पुस्तकें हैं- 'भ्रमरगीत', 'अनेकार्थमंजरी' और 'अनेकार्थमाला'। इनके दो सौ से अधिक फ़ुटकल पद भी मिलते हैं।

कृष्णदास-: कृष्णदास के जन्म और मृत्यु के संबंध में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इनका कविता-काल 1533 ई. के आसपास माना है। डॉ नगेन्द्र ने अनुसार इनका जन्म

1496 ई. में अहमदाबाद के चिलोतरा गाँव में और मृत्यु गिर में 1578 ई. में हुई थी। ये वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्यों में थे। इनका संबंध 'कुनबी' जाति से था, जिन्हें शूद्र माना जाता है। ये गोवर्द्धन पर्वत पर स्थापित श्रीनाथ जी के मंदिर के प्रधान मुखिया थे। इन्हें कृष्णदस अधिकारी के नाम से भी जाना जाता है। कृष्णदास सुकवि होने के साथ ही अच्छे गायक भी थे। इनकी तीन रचनाओं का पता चलता है- 'जुगलमान चरित्र', 'भ्रमरगीत' और 'प्रेमतत्त्व निरूपण'। इनके कुछ मुक्तक भी मिलते हैं। गुजराती भाषी होने के बावजूद कृष्णदास का ब्रजभाषा पर बहुत पकड़ थी। इन्होंने बाललीला, राधा-कृष्ण प्रेम और रूप-सौंदर्य का मुग्ध कर देने वाला वर्णन किया है।

हितहरिवंश :- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इनका जन्म 1502 ई. में मथुरा के बादगाँव नामक जगह पर हुआ था। इन्होंने 'राधावल्लभ संप्रदाय' की स्थापना कर कृष्णभक्ति को नवीन ऊँचाई प्रदान की। ये पहले माध्व संप्रदाय के अनुयायी थे। 1525 ई. में वृंदावन में राधावल्लभ जी की मूर्त्ति की स्थापना के साथ इन्होंने अपने संप्रदाय को नया आयाम दिया। इनकी प्रमुख रचना 'हित चौरासी' है जिसमें 84 पदों का संग्रह है। संस्कृत भाषा में लिखित 'राधासुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' को भी इनकी रचना माना जाता है। इन्होंने अनेक फुटकल पदों की भी रचना की थी। रचनाओं में मधुरता के चलते इन्हें श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार कहा जाता है।

मीराबाई :- मीराबाई भक्तिकाल की सर्वाधिक प्रख्यात कृष्णभक्त कवयित्री हैं। मीरा जोधपुर शहर के संस्थापक विख्यात राठौर राजा जोधाजी (1415-1488 ई)के पुत्र राव दूदा एवं कुसुम कुंवर बाई की इकलौती संतान थीं। इनका जन्म सन 1504 में हुआ था। सन 1516 में मीरा का विवाह मेवाड़ के प्रसिद्ध राजा महाराणा साँगा के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ हुआ। कुल सात वर्ष बाद ही सन 1523 में मीरा के पति भोजराज का देहांत हो गया। पति की मृत्यु के बाद मीरा को सती होने के लिए मजबूर किया गया लेकिन वह नहीं मानीं। बचपन से ही मीरा का लगाव कृष्ण के प्रति था। पति की मृत्यु के बाद वे पूरी तरह से कृष्ण की भक्ति में मगन हो गयीं। धीरे-धीरे उनका यह लगाव इतना अधिक बढ़ने लगा कि मीरा राजमहल की दीवारों से बाहर निकलकर साधुओं के साथ भगवद भजन करने लगीं। यह बात उनके देवर विक्रमाजीत सिंह को पसंद नहीं थी। उसने मीरा को

मारने के कई प्रयास किये। मीरा की कविता में इसी को 'राणा' कहकर संबोधित किया गया है। मीरा की मृत्यु के विषय में कोई स्पष्ट सूचना नहीं है। कहा जाता है कि मीरा द्वारिका एक दिन कृष्ण की मूर्ति में विलीन हो गयीं। डॉ नगेन्द्र ने इनकी मृत्यु सन 1558 से सन 1563 के बीच माना है।

मीरा अपने पदों का गायन करती थीं जिसका बाद में उनके भक्तों द्वारा संकलन किया गया। डॉ नगेन्द्र ने मीरा की पूर्ण-अपूर्ण ग्यारह रचनाओं का उल्लेख किया है- 'गीतगोविंद की टीका', 'नरसी जी का मायरा', 'राग सोरठा के पद', 'मलार राग', 'राग गोविंद', 'सत्यभानु रूसणं', 'मीरां के गरबी', 'रुक्मणीमंगल', 'नरसी मेहता की हुंडी', 'चरीत', 'स्फुट पद'। इनमें से 'स्फुट पद' मीरा की सर्वाधिक प्रमाणिक रचना है। मीरा के प्रमाणिक पदों का संकलन पद्मावती शबनम और परशुराम चतुर्वेदी ने किया है।

रसखान :- रसखान के जीवन के बारे में प्रामाणिक सूचना उपलब्ध नहीं है। डॉ नगेंद्र ने अंत:साक्ष्यों के आधार पर इनका जन्मकाल 1533 ई. और मृत्यु 1618 ई. के पश्चात स्वीकार किया है। इनका आरंभिक जीवन दिल्ली में बिता। ये गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य और 'वल्लभ संप्रदाय' में दीक्षित थे। ये पठान जाति के मुसलमान थे। आचार्य शुक्ल ने उल्लेख किया है कि जीवन के आरंभ में ये किसी बनिये के लड़के या किसी स्त्री के प्रति आसक्त थे, लेकिन हृदय-परिवर्तन के पश्चात इनका लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो गया। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं:- 'सुजान रसखान', 'प्रेमवाटिका', 'दानलीला' और 'अष्टयाम'। रसखान ने कवित्त-सवैयों के माध्यम से कृष्णभक्ति के ऐसे मधुर पद रचे कि सारा भारत मंत्रमुग्ध हो गया। वे कृष्ण-प्रेम के सच्चे गायक हैं। उनके काव्य का प्रमुख रस शृंगार है जिसके आलंबन कृष्ण हैं। उन्होंने वात्सल्य भाव के भी कुछ मधुर पद रचे हैं। इन रचनारों के अतिरिक्त भी कृष्ण काव्य परंपरा में अनेक कवियों और भक्तों ने अपना योगदान दिया है। इनमें प्रमुख हैं:- 'परमानंदसागर' के लेखक परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, गदाधर भट्ट, स्वामी हरिदास, श्रीभट्ट, व्यासजी, ध्रुवदास आदि।

कृष्ण काव्यधारा की सामान्य विशेषताएँ :- कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने वृंदावन बिहारी कृष्ण के सगुण रूप की उपासना की। वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित और प्रभावित होकर उन्होंने राधा-कृष्ण

के युगल रूप को लाव्य का विषय बनाया। उनकी भक्ति कृष्ण के लोकरंजक रूप की ओर अधिक उन्मुख हुई।

कृष्ण लीला का चित्रण :- कृष्ण को भारतीय चिंतन में 'सोलह कला' का अवतार माना जाता है। 'महाभारत' और 'श्रीमदभागवत' में कृष्ण के बालरूप से लेकर चतुर राजनेता तक का रूप वर्णित है। कृष्ण का उल्लेख वेदों में अनार्य देवता के रूप में हुआ है। वैष्णव भक्ति के विकास के साथ इनका देवत्व स्थापित हुआ। कृष्ण ने भक्तों के उद्धार के लिए अवतार ग्रहण किया और विभिन्न प्रकार की लीलाओं द्वारा उन्हें मोहित किया। बाललीला, गोचारण, वृंदावन विहार, असुर विनाश, गोपी साहचर्य, रास प्रकरण, राधा-प्रेम इनकी लीला के प्रमुख अंग है। भक्तों ने इनको आधार बनाकर कृष्ण-लीला का गान किया। 'श्रीमदभागवत' में इस लीलागान को ही कृष्ण भक्ति का मूल माना गया है। इससे ही भक्ति की स्थापना होती है। समस्त जीवधारियों के सुख के लिए कृष्ण लीला करते हैं और उसमें भक्तों के सुख के लिए स्वयं शामिल होते हैं। 'भागवत' आदि कृष्ण भक्ति के प्रमुख ग्रंथों में रासलीला को बहुत महत्व दिया गया है, परंतु कृष्ण भक्ति कवियों ने केवल उसका अनुसरण नहीं किया, बल्कि यथोचित परिवर्तन भी किया। 'भागवत' में राधा का उल्लेख नहीं है, परंतु कृष्ण भक्ति में राधा का अतिशय महत्व है। 'भागवत' में कृष्ण देवत्व के पद से नीचे नहीं उतरते, जबकि कृष्ण-काव्य में वे सामान्य मनुष्य का आचरण करते हैं। इस भक्ति ने समाज में समरसता और समानता का आयोजन किया।

भक्ति-भावना :- श्रद्धा और प्रेम के मेल से भक्ति उत्पन्न होती है। कृष्ण भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। इस भक्ति को प्रेम-लक्षणा, माधुर्य-भाव और रागानुगा भक्ति कहा गया है। आचार्यों ने भक्ति के तीन मार्ग बताए-पुष्टि मार्ग, प्रवाह मार्ग और मर्यादा मार्ग। कृष्ण की प्राप्ति का मार्ग पुष्टि मार्ग है। इस पर चलने वाला जीव पुष्टि जीव कहलाता है। परमात्मा की कृपा से ही भक्त को उसके स्वरूप का बोध होता है। उसकी कृपा के बिना यह संभव नहीं है। पुष्टि मार्ग से प्राप्त भक्ति पुष्टि-भक्ति है। इसके चार भेद हैं- प्रवाह पुष्टि भक्ति, मर्यादा पुष्टि भक्ति, पुष्टि पुष्टि भक्ति और शुद्ध पुष्टि भक्ति। शुद्ध पुष्टि भक्ति को ही प्रेमा भक्ति कहते हैं। इसमें भक्त भगवत कृपा का अनुभव करता हुआ परमानंद की प्राप्ति करता है। यही कृष्ण भक्तों का लक्ष्य है। कृष्ण भक्ति का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति या सांसारिक सुखों की प्राप्ति नहीं है। कृष्ण का भक्त तो उनकी नित्य लीला में प्रवेश करना चाहता है।

गोप-गोपी, पशु-पक्षी बनकर उसमें भाग लेना चाहता है। यह शाश्वत लीलाएँ कृष्ण के परमधाम में चलती रहती हैं, जो वृंदावन लीला की तरह ही होती हैं। इसीलिए तो रसखान कहते हैं-" *मानुष हों तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन/ जौ पसु हों तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन/ पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन/ जौ खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन/*" । माया के दो रूप हैं- विद्या माया और अविद्या माया। कृष्ण-भक्ति के लिए अविद्या माया का नाश आवश्यक है। दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवत्गुण श्रवण, कीर्तन आदि से इसका नाश संभव है। विषयासक्ति का नाश और कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण इस भक्ति के लिए आवश्यक है। कृष्ण भक्ति में सेवा का विशेष महत्व है। यहाँ सेवा से मतलब है- कृष्ण में चित्त की प्रवणता या लीनता। सेवामार्ग में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वही भक्त के सेवामार्ग का पथ-प्रदर्शन करता है।

वात्सल्य एवं शृंगार रस का वर्णन :- कृष्ण भक्तों ने कृष्ण के बाल रूप का सजीव वर्णन किया है। वात्सल्य भाव का जैसा सुंदर चित्रण सूरदास ने किया है, वह विश्व साहित्य में दुर्लभ है। कृष्ण के बालक रूप की विभिन्न चेष्टाओं और क्रियाओं का सूक्ष्म चित्रण इस धारा के कवियों के यहाँ मिलता है। '*मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो/ मो सो कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो*'। (सूरदास) बालक के साथ ही मातृ-हृदय की कोमल भावनाओं का भी उदघाटन हुआ है। कृष्ण को लेकर आशा-आशंका के बीच झूल रहे यशोदा के मन का जैसा सजीव और सूक्ष्म चित्रण सूरदास ने किया है, वैसा कोई और कवि नहीं कर पाया। '*संदेसो देवकी सो कहियो/ हौं तो धाय तिहारे सुत की मैया करत ही रहियो*।'

कृष्ण भक्ति की प्रधान विशेषता राधा-कृष्ण के प्रेम की व्यंजना है। कृष्ण और राधा का प्रेम साहचर्य जनित है। यह लरिकाई का प्रेम है। इसमें स्वाभाविकता है, तरंग है, रस है और गहरा आकर्षण है। इस आकर्षण से हिंदी ही नहीं भारत का शायद ही कोई कृष्णभक्त कवि खुद को बचा सका है। राधा-कृष्ण और गोपियों के प्रेम का क्रमिक विकास हुआ है। यह छेड़-छाड़ से प्रारंभ होकर गंभीर प्रणय वेदना में परिणत हो जाता है। प्रेम की विह्वलता और तन्मयता का बहुत ही सुंदर चित्र कृष्ण-भक्त कवियों ने खींचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का कोना-कोना ये कवि

झांक आए हैं। भ्रमरगीत प्रसंग में वियोग पक्ष का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। '*हरि बिछुरत फ़ाट्यो न हियो/ भयो कठोर वज्र ते भारी, रहि कै पापी कहा कियो।*' (सूरदास)

काव्य-कौशल :- कृष्णाश्रयी धारा के कवियों ने अधिकांशत: मुक्तक काव्यों की रचना की है। इन्होंने गायन परंपरा का अनुसरण करते हुए गीति शैली में पदों की रचना की। कृष्ण भक्ति काव्य मूलत: गायन परंपरा पर आधारित है। इसमें कथा का वैसा क्रमबद्ध विकास नहीं होता, जैसा रामकाव्य में मिलता है। कृष्ण की अलग-अलग लीलाओं पर स्वतंत्र पदों की रचना की गई है। सूरदास की विशेषता बताते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि उनमें मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना की बहुत बड़ी विशेषता है। तुलसी मार्मिक प्रसंगों की पहचान करते हैं, सूर मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना करते हैं। इस धारा के कवियों ने बड़ी मात्रा में गीतों की रचना की है, और उन्हें संगीत की राग-रागिनियों में बांधा है। इसमें संगीतात्मकता और भावनामयता का गुण विद्यमान है। भावों का सहज संचरण करने में ये सक्षम हैं। इसमें भाव बिखरते नहीं है। सूरदास आदि कृष्णभक्तों ने वृंदावन की ब्रजभाषा को अपने काव्य का विषय बनाया। ब्रजभाषा का लोकप्रचलित रूप समस्त सर्जनात्मकता के साथ इनके यहाँ उपस्थित हुआ है। ब्रज प्रदेश में प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा में इन्होंने विशेष आकर्षण पैदा किया है। इससे भाषा में व्यंजकता और प्रवाहशीलता आती है। एक उदाहरण देखिए:- '*निर्गुन कौन देस को वासी?/ मधुकर हँसी समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।*' कृष्ण कवियों ने भाषा को नई उँचाई प्रदान की, उसे बिंबात्मक बनाया। रूपक और उपमा जैसे अलंकारों का कुशल प्रयोग किया। उन्होंने कृष्ण के समस्त जीवन को नई आभा से भरा दिया।

1.5.8 रामाश्रयी काव्यधारा का परिचय एवं विशेषताएँ :-

रामकाव्य की परंपरा वाल्मीकि के लेकिन हिंदी प्रदेश में इसका ,से चली आ रही थी 'रामायण' आरंभरामानंद के प्रभाव से प्रचलित रामभक्ति के साथ हुई। शंकराचार्य के ज्ञान मार्ग का विरोध कर दक्षिण भारत में भक्ति की धारा प्रवाहित करने वाले रामानुजार्य की शिष्य परंपरा से रामानन्द का संबंध जोड़ा जाता है। सिकंदर लोदी के जमाने में इनके होने का प्रमाण मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इनका समय पंद्रहवीं सदी के चतुर्थ और सोलहवीं सदी के तृतीय चरण के बीच तय किया

है। संस्कृत भाषा में लिखित इनके दो ग्रंथ‘ -वैष्णवमताब्ज भास्कर -’श्रीरामार्चनपद्धति‘ और ’ मिलते हैं। नाभादास के स ,अनंतानंद -में इनके बारह शिष्य बताए गए हैं ’भक्तमाल‘ुखानंद , पद्मावती और सुरसरी। ,रैदास ,धना ,सेन ,कबीर ,पीपा ,भावानंद ,नरहर्यानंद ,सुरसुरानंद उपासना के‘ रामानंद का भक्तिमार्ग रामानुज से प्रभावित होने के बावजूद उनसे भिन्न था। उन्होंने लिए बैकुंठवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीलाविस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमंत्र हुआ राम नाम।) ’आचार्य रामचंद्र शुक्ल (‘ -रामानंद ने भक्ति का द्वारा सबके लिए खोल दिया। उनके नाम से यह उक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है ‘जात पात पूछै नहीं कोईहरि को भजे सो हरि को होई।

तुलसीदस के जन्म को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। बेनीमाधवदास प्रणीत ‘मूल गोसाईं-चरित’ और महात्मा रघुबरदास रचित ‘तुलसीचरित’ में तुलसीदास का संवत 1554 के श्रावण शुक्ला सप्तमी बताया गया है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने उनका जन्म संवत 1589 बताया है। तमाम विचार-विमर्श के पश्चात तुलसीदास का जन्म संवत 1589 अर्थात सन 1532 को ही अधिक युक्तिसंगत स्वीकार किया है। तुलसीदास का देहावसान संवत 1680 अर्थात सन 1623 ई. में वाराणसी हुआ था। इस विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। तुलसीदास के जन्मस्थान के रूप में उत्तरप्रदेश के तीन स्थानों- राजापुर, सोरों और सूकरखेत- की चर्चा होती है। आचार्य शुक्ल ने सूकरखेत और सोरों को एक ही माना है जो सरयू के किनारे का एक पवित्र तीर्थ-स्थान है। जनश्रुतियों के अनुसार तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका बाल्यकाल बेहद विषम परिस्थितियों में व्यतीत हुआ। बचपन में ही माता-पिता द्वारा त्याग दिये जाने के बाद बाबा नरहरिदास ने इनका पालन-पोषण किया और ज्ञान-भक्ति की शिक्षा दी। तुलसीदास के नाम पर पचासों ग्रंथों की चर्चा होती है लेकिन उनके कुल बारह ग्रंथों को ही विद्वानों ने प्रमाणिक माना है, जिनमें छ: छोटे और छ: बड़े हैं। इन ग्रंथों का विवरण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ इस प्रकार दिया है- रामचरित-मानस, रामलला

नहछू, वैराग्य संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली के पद, विनय-पत्रिका ।

नाभादास नाभादास ने -:1585 ईकी रचना की जिसमें दो सौ भक्तों का चरित्र 'भक्तमाल' में . वर्णित है। येऔर रामभक्त थे। इनकी जाति के विषय में विवाद है। कुछ लोग इन्हें डोम जाति का शूद्र मानते हैं, तो कुछ इन्हें क्षत्रिय सिद्ध करते हैं। ब्रजभाषा में लिखित रामचरित संबंधी एक छोटा संग्रह प्राप्त होने की सूचना आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में दी है। इन्होंने दो 'अष्टयाम' भी लिखे थे। एक ब्रजभाषा में है और दूसरा रामचरितमानस की दोहा-चौपायी शैली में।

हृदयराम :- ये पंजाब के रहने वाले थे। इन्होंने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' की तर्ज पर कवित-सवैया छंद में 1623 ई. में 'हनुमन्नाटक' की रचना की। इस रचना की प्रेरणा उन्हें हनुमान जी से मिली थी, इसीलिए रचना के शीर्षक में उन्होंने हनुमान जी का नाम रखा है। इसका नाम कहीं-कहीं 'रामगीत' भी मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इनकी तारीफ़ इसलिए भी की है कि इन्होंने नाटक विधा में रामकथा कही, जैसा तुलसीदास ने भी नहीं किया था।

भक्तिकाल के इन रचनाकारों के अतिरिक्त भी हिंदी में रामकाव्य की परंपरा विकसित होती रही। रीतिकाल के दौर में अनेक रचनाकारों ने राम को काव्य का विषय बनाया। इसमें सबसे प्रसिद्ध नाम 'रामचंद्रिका' (1601 ई.) के रचनाकार केशवदास का आता है। ये तुलसीदास के समकालीन थे। 'रामचंद्रिका' एक प्रबंधकाव्य है, परंतु इसमें रामकथा को क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत नहीं किया गया है। केशवदास एक दरबारी कवि थे। दरबारी संस्कृति का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इसलिए इस रचना में जहाँ कहीं भी दरबार का वर्णन आया है, वहाँ केशवदास की प्रतिभा निखर कर आई है। केशवदास संवाद-योजना के लिए विशेष रूप से ख्यात हैं। केशवदास के अतिरिक्त सेनापति ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'कवित्त रत्नाकर' (1649 ई.) की चौथी और पांचवीं तरंगों में रामकथा के मधुर और मार्मिक प्रसंगों की योजना की है। माधवदास चारण ने 'रामरासो' (1618 ई.) और

'अध्यात्मरामायण' (1624 ई.) की रचना की। 'रामरासो' में रामकथा के चुनिंदा प्रसंगों का वर्णन है, जबकि 'अध्यात्मरामायण' पर संस्कृत के 'अध्यात्मरामायण' का व्यापक प्रभाव है। इनके अतिरिक्त नरहरि बारहट की 'पौरुषेय रामाय़ण', लालदास की 'अवधविलास' (1643 ई.) आदि को इस परंपरा में शामिल किया जा सकता है।

राम काव्य की विशेषता:-

दशरथसुत सगुण राम की उपासना :- रामभक्ति धारा के कवियों ने विष्णु के अवतार अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र राम की उपासना की है। उनके राम ब्रह्मस्वरूप हैं, जो अपने भक्तों की रक्षा और कल्याण के लिए अवतार धारण करते हैं। राम शक्ति, शील और सौंदर्य के समुच्चय हैं। उनका लोकरक्षक रूप इस धारा के कवियों को ज्यादा पसंद है। राम की भक्ति में सेवक-सेव्य भाव और शांत रस की प्रधानता है। शरणागति राम-भक्ति का मूल है जिसका आदर्श रूप हनुमान की भक्ति में दिखता है। तुलसी कहते हैं 'सेव्य सेवक भाव बिनु/ भव न तरिय उरगारि'/ भजहु राम पद पंकज/ अस सिद्धांत विचारी'। अर्थात सेवक-सेव्य भाव के बिना संसार रूपी सागर को पार नहीं किया जा सकता, ऐसा मानकर सभी को राम के कमल रूपी चरणों की भक्ति करनी चाहिए। कर्मकांड और पुरोहितवाद की जकड़, ज्ञान के जटिल मार्ग एवं योग की कष्टसाध्य उपासना से अलग रामभक्ति सरस और लोकमन को मुग्ध करने वाली भक्ति है। करुणा के सागर केवल नाम जप के द्वारा प्रसन्न हो जाते हैं। वे सर्वजन सुलभ और पतित पावन हैं।

भक्ति के पूर्ण रूप की प्रतिष्ठा:- रामभक्ति काव्यधारा में भक्ति का पूर्ण रूप विकसित हुआ है। इसमें कृष्ण भक्ति की तरह केवल राम के लोकरंजक रूप पर ही कवियों का ध्यान नहीं है, बल्कि इनके लोकरक्षक रूप की भी प्रतिष्ठा है। भक्ति के दो महत्त्वपूर्ण अंगों श्रद्धा और प्रेम का समन्वित रूप रामभक्ति के भीतर अवस्थित है। 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' में समाज में फ़ैले अत्याचार और शोषण के क्रूर रूपों का वर्णन है और रामराज्य के माध्यम से एक आदर्श समाज की रूपरेखा

भी खींची गई है। राम की लीला भक्तों के दिल-बहलाव के लिए ही नहीं है, बल्कि उसमें जनकल्याण और समाजोद्धार की भावना भी समाहित है।

शास्त्र, लोक परंपरा और विभिन्न भाषाओं का मेल:- रामकाव्य परंपरा के कवियों ने रामकथा को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से शास्त्र और लोक परंपरा का मेल किया। तुलसीदास को पता था कि संस्कृत का ज्ञान समाज के कुछ वर्गों तक ही सीमित है। इसलिए उन्होंने राम की मूल कथा तो संस्कृत परंपरा से ली, लेकिन उसमें अवध प्रांत की लोककथाओं और लोकशैलियों का भी समन्वय किया। 'रामचरितमानस' में तुलसी की घोषणा है कि इसमें प्रस्तुत रामकथा आगम (लोक-परंपरा) और निगम (वैदिक-बौद्धिक परम्परा शास्त्र) दोनों परम्पराओं के मेल से रचित है- 'नाना पुराण निगमागम सम्मत तुलसी रघुनाथ गाथा।' तुलसी ने अपने अनेक रचनाएँ लोक में उपलब्ध काव्य-रूपों में की है। 'राम लला नहछू', 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' में अवध प्रांत में प्रचलित लोकशैलियों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। तुलसी का भाषा पर असमान्य अधिकार था। उनकी कविता को पढ़कर यह तय कर पाना कठिन है कि अवधी और ब्रज जैसी भाषाओं का उन्हें अधिक ज्ञान था या संस्कृत का। उनकी रचनाओं में लोकभाषा के साथ संस्कृत का बड़ी चतुराई के साथ मिश्रण किया गया है। इस कारण उनकी भाषा में दुर्लभ लचीलापन और अवसरानुकूल भाषिक प्रयोग देखने को मिलता है। 'रामचरितमानस' में भगवान की अराधना देववाणी संस्कृत में की गयी है जबकि उनका चरित लोकभाषा में गाया गया है। चरित्र के अनुसार उनकी भाषा में परिवर्तन होता है। निषाद की भाषा जितनी सरल और अकृत्रिम है, वशिष्ठ की भाषा उनती ही विद्वतापूर्ण और गूढ़। भाषा के साथ-साथ विचार के स्तर पर भी रामकथा में समन्वय है। शास्त्रों की महिमा के बखान सहित लोक के मूल्यबोध को भी स्वीकारा गया है। पुराणों के प्रभाव में- देवी-देवताओं की स्तुति, गुरु महिमा का वर्णन, पूर्ववर्ती कवियों की वंदना और वक्ता-श्रोता परंपरा (सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा, बहुरि कृपाकरि उमहि सुनावा\) का अनुसरण (शिव-पार्वती/ कागभुशुंडी-गरुड़/

याज्ञवल्क्य-भारद्वाज) किया गया है। इसके साथ ही सीता से ग्राम वधुओं के परिहास, केवट-निषाद प्रसंग आदि में हमें ग्राम्य जीवन के रम्य चित्रों का भी दर्शन होता है।

समन्वयवाद :- भारत का मध्यकाल धार्मिक असहिष्णुता, जातिगत भेदभाव, सांप्रदायिक संघर्ष और स्वार्थों की टकराहट का समय था। सत्ताधारी वर्ग में अकबर ने और साहित्य की दुनिया में तुलसीदास ने समन्वय की विराट चेष्टा के द्वारा भारतीय जनजीवन में सहिष्णुता और शांति का प्रसार किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसी की समन्वय-बुद्धि की प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' में लिखा है कि, "तुलसीदास के काव्य की सफ़लता का एक रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय-शक्ति में है। उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान प्राप्त था। उनके काव्य-ग्रंथों में जहाँ लोक-विधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वहीं शास्त्र के गंभीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफ़लता दी। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चांडाल का. पंडित और अपंडित का समन्वय। 'रामचरितमानस' के आदि से अंत दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना है। इससे अच्छा चुनाव हो भी नहीं सकता था।"

तुलसी ने विभिन्न साधना पद्धतियों के बीच समन्वय की स्थापना की। उन्होंने 'रामचरितमानस' में राम की कथा शिव के मुख से कहलवायी है और कई स्थलों पर स्वयं शिव राम को अपना इष्ट देव बताते हैं। शिव कहते हैं- 'सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।' और 'जपहिं सदा रघुनायक नामा, जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा।' शैवों और वैष्णवों की तरह ही उन्होंने वैष्णव और शाक्तों के बीच भी मेल कराया। देवी अर्थात शक्ति की अराधना करने वाले भक्तों को शाक्त कहा जाता था। तुलसी ने सीता और पार्वती को शक्ति का एक रूप कहकर राम और शिव से

उनकी अभिन्नता और अधीनता स्थापित कर दी। निर्गुण कवियों के बीच राम का नाम बेहद लोकप्रिय था। विवाद सिर्फ़ इस बात पर था कि वे 'दशरथ-सूत' हैं या नहीं। निर्गुण कवि राम को ब्रह्म मानते थे और उनके नाम की महिमा का गुणगान करते थे। तुलसी ने अपने अनेक पदों में राम के नाम को ब्रह्म राम से बड़ा बताकर सहज ही सगुण और निर्गुण के विवाद को शांत कर दिया। निर्गुण और सगुण के अंतर को निरर्थक बताते हुए उन्होंने स्पष्ट घोषणा की-"अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।" निर्गुण मत को मानने वाले ज्ञान की महत्ता स्थापित करते थे जबकि सगुण मतावलंबी भक्ति की महिमा बखान करते थे। इस वजह से इनके बीच पर्याप्त विवाद था जिसकी मुखर अभिव्यक्ति कृष्णभक्त कवियों ने 'भमरगीत प्रसंग' में किया है। तुलसी ने 'भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा' कहकर ज्ञान और भक्ति के बीच के विवाद का शमन कर दिया।

रामकथा के भीतर समाज के सभी वर्गों के सम्मानजनक स्थान की संभावना थी। रामकाव्य परंपरा के कवियों ने वर्णाश्रम द्वारा निर्मित सामाजिक भेदभाव को भक्ति के द्वारा समाप्त करने का प्रयास किया। क्षत्रिय राम और ब्राह्मण वशिष्ठ, शूद्र निषादराज को गले लगाते हैं। राम शूद्र शबरी के जूठे बेर खाते हैं। जंगल में रहने वाली तमाम अस्पृश्य जातियों को राम अयोध्यावासियों जैसा सम्मान देते हैं। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में शूद्र शम्बूक के वध को जगह नहीं दी। इस धारा के कवियों ने सैद्धांतिक स्तर पर इस समस्त सृष्टि को राममय माना और इसमें स्थित किसी भी जीव के बीच भेदभाव का समर्थन नहीं किया। तुलसी लिखते हैं- 'सियाराम मय सब जगु जानि। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।' इस धारा के कवियों ने राजा और प्रजा, पारिवारिक रिश्तों और समाज के विभिन्न अंगों के बीच समन्वय का भी प्रयास किया।

समाज कल्याण की भावना :- रामभक्ति धारा के कवियों ने राम की भक्ति समाज विमुख होकर नहीं की। राम के आदर्श चरित्र के अंकन द्वारा उन्होंने समाज-निर्माण का महान काम किया। राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में भक्तों के समक्ष आते हैं। यह मर्यादा व्यक्ति से प्रारंभ होकर समाज तक

विस्तृत है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि," राम को आश्रय करके लिखे गये साहित्य में सामाजिक विधि निषेध की ओर काफ़ी ध्यान दिया गया है। रामभक्ति के साहित्य में मर्यादाओं का इतना ध्यान रखा गया है कि कम प्रतिभाशाली कवियों के हाथ में पड़कर वह अपनी सतही नैतिकता के रूप में प्रकट हुआ है।" कृष्णभक्ति ने प्रेम के नाम पर शृंगार का जैसा उन्मुक्त वर्णन किया था, उससे समाज के विकृत हो जाने का खतरा था। नाथों और सिद्धों की भक्ति में पहले से ही मद्य और नारी समागम को स्वीकृति मिल चुकी थी। ऐसे समय में रामभक्ति धारा ने राम के मर्यादित चरित्र द्वारा समाज को सुगठित और सुसंस्कृत किया। राम का जीवन व्यापक फ़लक पर निर्मित है। इसमें अपने समय और समाज से संवाद करने का अवकाश था। रामभक्त कवियों ने ऐसा किया भी। तुलसी ने कलियुग वर्णन में तत्कालीन समाज की दुरावस्था का सजीव चित्र खींचा। उसमें उनकी सर्वाधिक चिंता सामाजिक मर्यादा के खंडित हो जाने की है। कवितावली में उन्होंने आम आदमी के जीवन को कष्टों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया, 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि/ बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी॥' समाज की अव्यवस्था और उसके कारणों की तलाश के साथ ही तुलसी ने 'रामराज्य' के रूप में एक आदर्श समाज का चित्र भी प्रस्तुत किया। उन्होंने समाज के सभी अंग के लिए एक मर्यादा निर्मित की। राजा के लिए मानक तय करते हुए उन्होंने कहा कि 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवश नरक अधिकारी।' अर्थात जिस राज्य में प्रजा दुखी है, उसका राजा अवश्य नरक जाएगा।

विभिन्न काव्य रूपों और काव्य शैलियों का प्रयोग :- सूफ़ी काव्य परंपरा में प्रबंध काव्यों की रचना हुई, जबकि संत मत और कृष्ण भक्ति में मुक्तकों की। राम काव्य परंपरा के कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों में वैविध्य है। तुलसीदास ने प्रबंध काव्य और मुक्तकों की रचना की। उनके आगे के कवियों ने राम के जीवन पर नाटक लिखे। इस परंपरा में नाभादास ने जीवन चरित रचा। आचार्य शुक्ल के अनुसार, " रामभक्ति की काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार

की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना पद्धतियों को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीतकाव्य की ही पूर्त्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे-अच्छे प्रबंधकाव्य रचे गए।" रामकाव्य परंपरा के आरंभ के पहले हिंदी में कुल चार प्रमुख काव्य शैलियाँ चलन में थीं। वीरगाथात्मक रचनाओं की छप्पय पद्धति, विद्यापति की गीत पद्धति, भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति, अपभ्रंश की दोहा पद्धति। इस धारा के कवि ईश्वरदास ने दोहा-चौपाई पद्धति में काव्य की रचना कर एक नई पद्धति की शुरुआत की, जिसमें सूफ़ी काव्य लिखा गया और तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना की। अन्य काव्यधारा के कवियों ने इनमें से किसी एक पद्धति का अनुसरण कर काव्य-रचना की, लेकिन राम काव्य धारा में इन सारी पद्धतियों का समावेश है। तुलसी ने 'बरवै रामायण' में छप्पय पद्धति, 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में गीत पद्धति, 'कवितावली' में कवित्त-सवैया पद्धति और 'दोहावली' में दोहा पद्धति का प्रयोग किया। भाषा के क्षेत्र में भी इस काव्यधारा के कवियों ने ब्रजभाषा के साथ ही अवधी भाषा का भी प्रयोग किया।

1.9 कठिन शब्द:-

लौकिक साहित्य:- आम जनता की भावनाओं को केन्द्र में रखकर लिखा गया साहित्य

वीरगाथात्मक साहित्य: मनुष्य की वीरता और साहस को केन्द्र में रखकर लिखा जाने वाला आख्यानपरक साहित्य

1.10 सहायक पुस्तकें:-

हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास:- विश्वनाथ त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य का इतिहास:- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास:- हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

हिन्दी साहित्य का इतिहास:- डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

1.11 अभ्यास प्रश्न:-

1. निम्नलिखित में से किन्हीं दो के दीर्घ-उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए:-

   क) हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की समस्या पर विचार कीजिए।

   ख) आदिकाल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

   ग) भक्तिकाल की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों को सोदाहरण बताइये।

   घ) रीतिकाल का सामान्य परिचय देते हुए उसकी राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को स्पष्ट कीजिए।

2. किन्हीं दो लघुउत्तरीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

   1. कृष्णभक्ति साहित्य की विशेषता बताइए।
   2. रामभक्ति धारा के कवियों का सामान्य परिचय दीजिए।

इकाई-2

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 चंदवरदाई

2.2.1 पाठ्यांश अथ पद्मावती समय

2.2.2 'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-सौंदर्य

2.2.3 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता

2.2.4 अथ पद्मावती समय का काव्य-सौंदर्य

2.3 अमीर खुसरो

2.3.1 पाठ्यांश : अमीर खुसरो

2.3.2 अमीर खुसरो का साहित्यिक परिचय

2.3.3 खुसरो के पहेलियों का वैशिष्ट्य

2.3.4 आदिकालीन साहित्य का खुसरो का योगदान

2.4 कठिन शब्द

2.5 सहायक पुस्तकें

2.6 अभ्यास प्रश्न

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आदिकाल के दो प्रसिद्ध कवियों चंदवरदाई और अमीर खुसरो के काव्य का अध्ययन करना है। इस इकाई में आप इन दोनों कवियों की कविता के साथ इनके काव्य की

विशेषताओं से भी परिचित हो सकेंगे। चंदवरदाई की प्रसिद्ध रचना 'पृथ्वीराज रासो' के एक अंश 'पद्मावती समय' के आरंभिक दस पदों के अध्ययन से आदिकालीन साहित्य की भाषा की समझ आपमें विकसित होगी। आप यह भी जान सकेंगे कि उस दौर के साहित्य के केंद्र में किस तरह की चिंताएँ होती थी। 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता को लेकर हिन्दी में बहुत बहसें हुई हैं, इन बहसों की जानकारी भी आप प्राप्त करेंगे। साथ ही 'पृथ्वीराज रासो' और उसके अंश 'पद्मावती समय' के काव्य-सौंदर्य के विविध पक्षों पर भी हमारा ध्यान जाएगा। इस इकाई में हम अमीर खुसरो के कवित्व से भी परिचित होंगे। आदिकालीन साहित्य में उनके योगदान की चर्चा होगी और उनके साहित्य का परिचय भी मिलेगा। खुसरो पहेलियों के लिए हिन्दी की दुनिया में जाने जाते हैं। हम उनकी कुछ पहेलियों के साथ ही उसकी विशेषताओं से भी इस इकाई में परिचित होंगे।

2.1 प्रस्तावना

आदिकाल की सर्वाधिक प्रधान प्रवृत्ति चारण-साहित्य है। हिन्दू राजाओं के दरबारों में रचित वीरगाथात्मक साहित्य को चारण-काव्य कहा जाता है। इसी आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को वीरगाथा काल' कहा था। चंदवरदाई आदिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध कवि हैं। उनकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' दिल्ली के अंतिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान के जीवन पर केंद्रित है। इसमें पृथ्वीराज के जन्म से लेकर मृत्यु तक का वृतांत शामिल है। कर्नल टॉड ने इसे ऐतिहासिक महत्व की रचना माना था। राजस्थान के राजवाड़ों में यह रचना धार्मिक साहित्य की तरह समादृत है। इसके काव्य-सौंदर्य से विद्वान मुग्ध रहे हैं। इस काव्य का प्रधान रस वीर और शृंगार है। यह महाकाव्य के सभी लक्षणों से परिपूर्ण है। हिन्दी के परवर्ती कवियों ने छंद, भाषा और अलंकारों की शिक्षा इस महाकाव्य से ग्रहण की है। खड़ी बोली या हिन्दी कविता का आरंभ अमीर खुसरो से माना जाता है। खुसरो फ़ारसी भाषा के प्रसिद्ध कवि हैं, लेकिन उन्होंने आम जनता की रुचियों को ध्यान में रखते हुए उनके लिए पहेली और मुकरियों की भी रचना की। वे खुद को 'हिन्दवी' का रचनाकार कहने में गौरव की अनुभूति करते हैं। ये रचनाएँ लोक जीवन के रंग में रंगी

हुई हैं। यह आम जनता की रुचियों के परिष्कार के लिए रची गई थीं। हिन्दी का प्राचीनतम रूप अमीर खुसरो के हिन्दवी साहित्य में मिलता है।

2.2 चंदवरदाई

चंदबरदाई आदिकाल का सर्वाधिक चर्चित कवि हैं। अंत:साक्ष्यों के आधार पर चंद का जन्म लाहौर में हुआ था। यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि चंद और पृथ्वीराज का जन्म और मरण एक ही दिन हुआ था। नागरी प्रचारिणी सभा के विद्वान संपादकों के अनुसार पृथ्वीराज चौहान का जन्म आनन्द विक्रम शक 1115 अर्थात विक्रम संवत 1206 (1149 ई.) में हुआ था। इस आधार पर विपिन बिहारी त्रिवेदी जी ने चंद का जन्म वर्ष भी इसे ही माना है। ना.प. सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' के अनुसार चंद के पिता का नाम बेन था, जो सोमेश्वर के साथी थे। 'चंद छंद बरनन की महिमा' में चंद के पिता राव बेन द्वारा सोमेश्वर को आशीष देने का संदर्भ है। विपिन बिहारी त्रिवेदी ने चंद के पिता का नाम 'मल्ह' और मोहनलाल विष्णुलाल पांडया ने वेण बताया है। पांडया जी के अनुसार चंद के पूर्वज पंजाब के लाहौर प्रांत से थे और उनकी जजमानी अजमेर के चौहानों के साथ थी। चंद की दो पत्नियाँ कमला अथवा मेवा या गौरी अथवा राजोरा थीं। पांडया जी ने चंद के दस पुत्र बताए हैं- सुर, सुंदर, सुजान, जल्ह, बल्ह, बलिभद्र, केहरि, बीरचंद, अवधूत, योगराज और गुनराज। इसकी एक लड़की राजबाई का भी उल्लेख मिलता है। ऐसी मान्यता है कि चंद ने साठ दिनों में रासो की रचना कर उसे अपने पुत्र जल्ह या जल्हण को दे दिया। रासो का अंतिम अंश जल्हण ने ही पूरा किया था- आदि अंत लगि वृत्त मन, वृन्नि गुनी गुन काज/ पुस्तक जल्हन हस्त दै, चलि गज्जन नृप काज। (आदि से अंत तक संपूर्ण वृत्तांत कहकर तथा राजा के गुणों का वर्णन कर कवि चंद ने जल्हण के हाथ में पुस्तक सौंप दी और राजा के कार्य के लिए गजनी चल पड़े।) पांडया जी के अनुसार चंद भट्ट जाति और जगात गोत्र का था। रासो के अनुसार 'बरदाई' का अर्थ है कि चंद को देवी सरस्वती का वरदान प्राप्त था। कयमास-वध में इस का उल्लेख भी मिलता है-'किय कब्बु सब्बु सरसइ गनित फुणिव कहउ कवि चंद तत।' (यह सारा काव्य सरस्वती ने विचार करके

किया, और तदनन्तर उसने इसे कवि चन्द से कहा।) एक जगह और लिखा है- " जउ छंडइ सेसह धरणि, हर छंडइ विष कंद/ रवि छंडइ तप ताप कर तउ वर छंडइ कवि चंद। " इस विषय में म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने प्रारंभिक खोज रिपोर्ट के आधार पर लिखा है कि, "चंद की बरदाई उपाधि का अर्थ है कि उसने एक देवी (ज्वाला देवी) से कवि होने का वरदान प्राप्त किया था।....बरदाई संभवत: अशुद्ध है, इसे वरद्दिय होना चाहिए। पठानों में बरदाई नामक एक जाति होती है, जिसके लोग अपने को चंद का वंशज कहते हैं और अपने पूर्वपुरुषों का बलात मुसलमान बना दिया जाना बतलाते हैं। "

चंद ने अपने महाकाव्य में अनेक स्थलों पर स्वयं को षट्भाषा के ज्ञाता के रूप में प्रस्तुत किया है- उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं/ षट भाषा पुराणं च, कुराणं कथितं मया। (इस महाकाव्य में विशाल धर्म की उक्तियाँ हैं, राजनीति और नव रसों का वर्णन हुआ है तथा छ: भाषाओं, पुराण और कुरान का मैंने कथन किया है।) संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने छ: भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश की गणना की है। दौर्त्यकर्म में चंद की कुशलता के अनेक प्रसंग रासो में हैं। गुजरात के राजा भीमदेव और गुर्जर नरेश से संवाद में उसकी बुद्धिमत्ता और चतुराई का आभास मिलता है। चंद को अपनी कवित्व-शक्ति पर बहुत गर्व था। चंद की मृत्यु के संबंध में प्रसिद्ध है कि गजनी में पृथ्वीराज के साथ यह भी मरा। अनेक विद्वानों ने माना है कि अपने चरित नायक के प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए चंद ने गोरी वध को रासो के कथानक में शामिल किया, और उसके प्रति अपना समर्पण सिद्ध करने के लिए उसकी मौत के साथ अपनी मौत को भी जोड़ दिया।

'पुरातन प्रबंध संग्रह' में रासो के चार छंद मिलते हैं, इस पर टिप्पणी करते हुए मुनि जिनविजय ने चंद को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार किया है -" *इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो 3-4 प्राकृतभाषा पद्य उद्धृत किये हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है, और इन*

चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दश:, उसमें भी मिल गये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चित ही एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचन की थी जो, 'पृथ्वीराज रासो' के नाम से प्रसिद्ध हुई।" इस विषय में सुमन राजे ने लिखा है कि चार छंदों में से दो छंदों में 'जल्ह' का नाम आता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि चंद की अधूरी रचना को जल्ह ने पूरा किया था। जल्ह की कुछ रचनाएँ 'प्राकृत पैंगलम' में भी मिलती हैं जिसे माता प्रसाद जी ने प्रामाणिक माना है। आइए अब हम चंद की प्रसिद्ध रचना 'पृथ्वीराज रासो' और उसके प्रसिद्ध समय 'पद्मावती समय' के विषय में विस्तार से पढ़ते हैं।

2.2.1 पाठ्यांश :- अथ पद्मावती समय

'पद्मावती समय' चंदवरदाई की अमर रचना 'पृथ्वीराज रासो' का बीसवाँ समय है। इसमें समुद्रशिखर गढ़ के राजा विजयपाल की पुत्री पद्मावती की पृथ्वीराज चौहान से विवाह का वर्णन। यह चौहान का चौथा विवाह था। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस समय को प्रामाणिक नहीं माना और इसे अपने संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' में शामिल नहीं किया। उनका मानना है कि यह कहानी सोलहवीं सदी के बाद लिखी गई है और रासो में प्रक्षिप्त रूप में शामिल कर दी गई है। रासो की कई प्रतियों में यह समय नहीं मिलता। नामवर सिंह ने पृथ्वीराज के तेरह विवाहों में इसकी गणना की है, लेकिन इसे वे उसका तीसरा विवाह स्वीकार करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस समय की कई पंक्तियाँ 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में शामिल की हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी 'हिन्दी साहित्य के अतीत' में इसका उल्लेख किया है।

1. **पूरब दिस गढ गढनपति । समुद सिषर अति द्रुग्ग ।**
   तहँ सु विजय सुर राज पति । जादू कुलह अभग्ग ॥1॥

शब्दार्थ :- पूरब दिस- पूर्व दिशा (अजमेर से पूर्व दिशा का अनुमान); समुद सिषर- विध्यपर्वत की ऊँचाई पर विदिशा राज्य के नरवरगढ़ के पास राजा विजयपाल का झोलों, सरोवरों से भरा दुर्ग, जिसे देखकर ऐसा लगता है जैसे शिखर या ऊँचाई पर समुद्र बनाया गया हो। इसी किले का नाम पद्मावतीगढ़ रखा गया था। आज भी इसके खण्डहर विद्यमान हैं; द्रुग्ग- दुर्ग; गढ़नपति- गढ़ों में श्रेष्ठ; सुर राजपति- इन्द्र; जादू कुलह- यदुवंशी-क्षत्रिय; अभग्ग = अभग्न, निष्कंटक।

संदर्भ :- प्रस्तुत पंक्तियाँ चन्दबरदाई द्वारा रचित महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के 'अथ पद्मावती समय' से लिया गया है।

प्रसंग :- यह 'पद्मावती समय' की पहली पंक्ति है। इसमें पद्मावती के पिता राजा विजयपाल के वैभव और पराक्रम का वर्णन कवि ने किया है।

व्याख्या :- राजा विजयपाल का परिचय देते हुए चंद कवि कहते हैं कि ग्वालियर से लगभग एक सौ मील दक्षिण नरवरगढ़ के पास शुभ दिशा (पूर्व दिशा) में राजा विजयपाल अपने समुद्रशिषर नामक बड़े गढ़ से इन्द्र के समान राज्य करते थे। यादव कुल उनके आधिपत्य में निष्कंटक था, उसका कोई शत्रु नहीं रह गया था।

विशेष: उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है। समुद्रशिखर को गढ़नपति कहकर कवि इसकी महिमा का वर्णन करना चाहता है। उस समय राजस्थान का सबसे बड़ा दुर्ग चितौड़ को माना जाता था। कवि ने समुद्रशिखर को उसका भी राजा सिद्ध किया है।

2. हसम हयग्गय देस अति। पति सायर म्रज्जाद ॥
प्रबल भूप सेवहिं सकल। धुनि निसाँन बहु साद ॥2॥

शब्दार्थ- हसम (अरबी के अस्मत का रूप)- सम्मान, वैभव; हयग्गय(हय+गय) = हाथी-घोड़ा; सायर = सागर; म्रज्जाद- सीमा, मर्यादा; भूप-राजा; निसान- राजदरबार एवं किले का बाजा, डंका, नगाड़ा; साद(सद्द)- शब्द।

संदर्भ: उपरोक्त

प्रसंग :- इस पंक्ति में समुद्रशिखर गढ़ के यादव राजा विजयपाल के यश और पराक्रम का वर्णन किया गया है।

व्याख्या :- राजा विजयपाल के प्रभाव का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि हाथी-घोड़े की सेना से संपन्न इस राजा का प्रभाव बहुत व्यापक है। इसका राज्य इतना विशाल है कि इसके राज्य की सीमा समुद्र तक फैली हुई है। बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा उसकी सेवा करते हैं, अर्थात उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। उसके नगाड़े की ध्वनि बहुत गंभीर है, और उसमें से विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलती रहती है।

विशेष :- यहाँ अतिश्योक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।

3. धुनि निसान बहु साद । नाद सुरपंच बजत दिन ॥
दस हजार हय चढ़त । हेम नग जटित साज तिन ॥
गज असंष गजपतिय । मुहर सेना तिय संषह ॥
इक नायक कर धरी । पिनाक धरभर रज रष्षह ॥
दस पुत्र पुत्रिय एक सम । रथ सुरंग उंमर डमर ॥
भंडार लछिय अगनित पदम । सो पदम सेन कूँवर सुघर ॥

शब्दार्थ –बहु साद- अनेक प्रकार की ध्वनियाँ; नाद- ध्वनि; सुरपंच- पाँच प्रकार के वाद्य यंत्र यथा मृदंग, तंत्री (सितार), वंशी, ताल, दुंदुभी; हय-घोड़ा; हेम- सोना; गज-हाथी; असंष- असंख्य; मुहर सेना- मुखर सेना, सेना का अगला भाग; तीय संषह = तीन शंख (एक शंख में एक पर सत्रह शून्य होता है। यह सौ क्वॉड्रिलयन के बराबर होता है); नायक-मंडलाधिपति; पिनाक- धनुष; रज- राज्य; रष्षह-रक्षा करता है; एकसम- एक समान; उंमर डमर (अम्बर डम्बर)- रथ के ऊपर स्थित छत्राकार आच्छादन, जिसे दल बादल भी कहते हैं; भंडार-राजकोष; पदम- रत्न; लछिय = देखना; सुघर-सुंदर।

संदर्भ-उपरोक्त

प्रसंग- उपर्युक्त पंक्तियों में राजा विजयपाल की शक्तिशाली सेना का वर्णन किया गया है। इसमें विजयपाल के वैभव और सभी प्रकार के सुखों से भरे जीवन का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है।

व्याख्या – राजा विजयपाल के वैभव का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए कवि कहता है कि राजा विजयपाल के राजप्रासाद (दुर्ग) में नगाड़े अत्यंत तीव्र ध्वनि में बजते रहते हैं। उस दुर्ग में अन्य वाद्ययंत्रों से पाँच स्वर पूरे दिन निकलते रहते हैं। इन पाँच वाद्य यन्त्रों में मृदंग (डंका और नगाड़ा), तंत्री (सितार), वंशी, ताल और दुंदुभी शामिल हैं। सोने और रत्नों से सुसज्जित साज और जीन वाले घोड़ों पर उसके दस हजार सैनिक सवार रहते हैं। उसकी सेना में असंख्य हाथी और गजपति हैं, और उसकी पैदल सेना की संख्या तीन शंख है। इस विशाल सेना का एकमात्र नायक वह राजा है, जो स्वयं अपने हाथों में धनुष धारण कर पूरे राज्य की रक्षा करता है। उसके दस पुत्र और पुत्रियाँ हैं, जो रूप और गुण में एक समान हैं। उसके रथ पर रंग-बिरंगी छतरियाँ लगी हुई हैं। उसके राजकोष में असंख्य पद्म के बराबर धन है और पद्मसेन कुँवर नामक उसकी रानी अत्यंत रूपवती है।

4. पदम सेन कूंवर सुघर। ता घर नारि सुजांन।
ता उर इक पुत्री प्रगट। मनहुँ कला ससिभांन॥

शब्दार्थ – सुजान- चतुर, कुशल; मनहुँ- मानो; ससिभान- चन्द्रमा।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग- इसमें रानी पद्मावती के जन्म और रूप का वर्णन है।

व्याख्या – उस राजा के घर पर पद्मसेन कुँवर नामक अत्यंत बुद्धिमान और सुंदर रानी है, जिसके गर्भ से एक पुत्री का जन्म हुआ, जो नखशिख सौन्दर्य में मानो चन्द्रमा के समान विकसनशील है। अर्थात, उस कन्या का रूप दिनोंदिन निखर रहा है।

विशेष- अंतिम पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग।

5. **मनहुँ कला ससिभांन । कला सोलह सो बन्निय ॥**
   बाल बेस ससिता समीप । अंम्रित रस पिन्निय ॥
   बिगसि कमल स्त्रिग भमर । बैन षंजन मृग लुट्टिय ॥
   हीर कीर अरु बिंब । मोति नष सिष अहि घुट्टिय ॥
   छत्रपति गयंद हरि हंस गति । विह बनाय संचै सचिय ॥
   पदमिनिय रूप पद्मावतिय । मनहु कांम कामिनि रचिय ॥

शब्दार्थ – कला- शोभा, प्रकाश (चन्द्रमा सोलह कलाओं के साथ हर दिन विकासमान रहता है और पंद्रहवें दिन बढ़ने के बाद पूर्ण होता है। चंद्रमा की सोलह कला मतलब उसकी सोलह आकृतियाँ); ससिभान- चंद्रमा की तरह; बन्निय-निर्मित; वैस= वयस, उम्र; अंम्रित-अमृत; पिन्निय-पान करता है; बिगसि-विकसित होना; स्त्रिग= श्रृंखला, माला; भमर = भ्रमर; वेणु- वंशी; खंजन- एक पक्षी, जो नेत्रों की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है; मृग- हिरण; लुट्टिय= सौन्दर्य लूटना; हीर- हीरा; कीर- तोता; बिंब- लाल कुँदुरू, नष सिष- नाखून से लेकर शिखा तक अर्थात् सर्वांग; अहिघुट्टिय- अभिघटित, निर्मित; छप्पति- छिपाती है; गयंद- हाथी; हरि- सिंह; गति- चाल; विह-विधाता, रचयिता; संचै = साँचा; संचिय = संचित की, बनाया; पदमिनिय- कोकशास्त्र के अनुरूप स्त्रियों की चार जातियों में से सर्वोत्तम जाति, लक्ष्मी; काम कामिनी- कामदेव की पत्नी रति ।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग - 'आदिपर्व' में पृथ्वीराज की बाल छवि की तरह ही इस पद में पद्मावती की बालछवि का आकर्षक एवं अलंकारिक वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। यह पद रीतिकालीन साहित्य में अत्यधिक प्रचलित नखशिख वर्णन का आरंभिक रूप है। इसमें पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन पारंपरिक उपमानों के द्वारा किया गया है।

व्याख्या- पद्मावती के बालरूप को देखकर कवि कहता है कि मानो वह चन्द्रमा की साक्षात कला हो। ऐसा लगता है जैसे उसको चंद्रमा की सोलह कलाओं से बनाया गया हो। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार चंद्रमा का रूप प्रत्येक दिन अलग-अलग तरीके से निखर कर जगत को आकर्षित करता रहता है, उसी प्रकार पद्मावती का सौंदर्य भी नित नूतनता की वजह से लोगों का मन मोहता है। अभी उस स्त्री की बाल्यावस्था है, लेकिन उसके सौदर्य को देखकर लगता है जैसे चंद्रमा ने उसका अमृत रस पिया हो। अर्थात उस स्त्री के सौंदर्य का पान करने के कारण ही चंद्रमा की चाँदनी से अमृत रूपी प्रकाश निकलता है। उस स्त्री ने अपने समस्त अंगों के सौंदर्य और उसकी कोमलता से विकसित कमलों की श्रेणी को पराजित कर दिया है, अर्थात उसके मुख, नेत्र, हाथ, पैर सभी अंग कोमलता में कमल को मात देते हैं। इसके साथ सौंदर्य के समस्त पारंपरिक उपमान इसके सामने पराजित हैं। उसने अपने बालों के सौंदर्य से भौंरों को, कण्ठ स्वर के माधुर्य से वंशी को, नेत्रों की चंचलता से खंजन पक्षी को और अपनी चाल से हिरण को लूट लिया है, अर्थात अपनी गुणवत्ता से उन्हें पराजित कर दिया है। उसके नख मानो हीरा, नाक तोते की ठोर, होठ बिम्बफल और दाँत मोती के समान प्रतीत होते हैं। वह अपनी चाल से हाथी, सिंह और हंस को भी पीछे छोड़ देती है। ये तीनों जगत में अपनी चाल की सुंदरता के लिए प्रसिद्ध हैं, लेकिन पद्मावती की चाल इनसे भी ज्यादा आकर्षक है। इसके शरीर की बनावट को देखकर लगता है, जैसे विधाता ने इसको बनाने के लिए किसी और साँचे की रचना की थी। तात्पर्य यह कि इसके जैसी सुंदरी संसार में कोई और नहीं है। उस पद्मावती का रूप कामशास्त्र में वर्णित पद्मिनी नायिकाओं के समान है, उसे देखकर ऐसा लगता है जैसे ब्रह्मा ने दूसरी रति की रचना की हो।

विशेष-

- पहली पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है। आगे की पंक्तियों में प्रतीप और अतिश्योक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है।
- कामदेव की पत्नी रति भारतीय शास्त्रों में स्त्री के सर्वोच्च सौंदर्य के रूप में चित्रित की गई है।

6. **मनहु काम कामिनि रचिय । रचिय रूप की रास ॥**
   पसु पंछी सब मोहिनी । सुर नर मुनियर पास ॥

शब्दार्थ - काम कामिनी- काम की पत्नी अर्थात रति (सौन्दर्य तथा यौवन की देवी); रचिय – निर्मित; मुनियर- मुनिवर ऋषि, मुनि; पास-बन्धन, आकर्षण।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग- उपर्युक्त पंक्तियों में पद्मावती के रूप-सौंदर्य के अलौकिक प्रभाव का चित्रण है।

व्याख्या – पद्मावती के रूप-सौंदर्य का चित्रण करते हुए कवि कहता है कि उसको देखकर ऐसा लगता है मानो विधाता ने पद्मावती के रूप में कामदेव की पत्नी रति की रचना की है। उन्होंने रूप की राशि की रचना की है। उसके रूप पर पशु-पक्षी आदि मुग्ध हैं। सुर, नर और मुनि उसके सौंदर्य-पाश में बँध जाते हैं।

विशेष- तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में सीता के लिए लिखा है कि-'रति को जेहि रंचक रूप दियो' अर्थात सीता को रति का रूप मिला है। पहली पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है और अंतिम पंक्ति में अतिश्योक्ति अलंकार है।

7. **सामुद्रिक लच्छन सकल । चौसठि कला सुजांन ॥**
   जानि चतुर दस अंग षट । रति वसंत परमांन ॥

शब्दार्थ - सामुद्रिक = फलित ज्योतिष का एक अंग जो शारीरिक लक्षणों के आधार पर जीवन के शुभ-अशुभ फल बताता है; परमान = प्रमाण; चतुर्दस अंग = चौदह विद्या।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग- पद्मावती के रूप वर्णन के पश्चात कवि इन पंक्तियों में उसकी बुद्धि और ज्ञान के वैभव पर प्रकाश डाल रहा है।

व्याख्या –सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्री-शरीर में जितने भी शुभ शारीरिक लक्षणों का वर्णन किया गया है, वह सभी पद्मावती के शरीर में विद्यमान थे। वह चौसठ कलाओं में पारंगत थी। भारतीय शास्त्रों में वर्णित सभी चौदह विद्याओं को जानती थी। वह सौंदर्य में रति के समान थी और बसंत के समान उसका नवयौवन विकसित हुआ था।

विशेष-

- कला एवं कामशास्त्र के अनुसार चौंसठ कलाएँ होती हैं, जिनका विवरण कामशास्त्र में मिलता है।
- भारतीय शास्त्रों में चौदहों विद्या के रूप में चार वेद, छः वेदांग आस्तिक नास्तिक), दर्शन सहित(, धर्मशास्त्र (पुराण), आयुर्वेद, धनुर्वेद और गांधर्ववेद की गणना की जाती है।

8. सषियन सँग खेलत फिरत । महलनि बाग निवास ॥
कीर इक्क दिष्षिय नयन । तन मन भयौ हुलास ॥

शब्दार्थ – सषियन-सखियाँ; महलनि – राजप्रासाद; कीर- सुग्गा; इक्क-एक; दिष्षिय-देखा; नयन-आँख; हुलास- उल्लास।

संदर्भ-उपरोक्त

प्रसंग- उपर्युक्त दोहरे में पद्मावती द्वारा के एक तोते को देखकर मोहित होने का वर्णन है।

व्याख्या – पद्मावती के रूप-सौंदर्य का चित्रण करने के पश्चात कवि कथा-प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि पद्मावती सखियों के साथ राजभवन और उद्यान में खेल रही थी। अकस्मात् उसने एक सुग्गा देखा। सुग्गे को देखते ही उसके मन में जिज्ञासापूर्ण उल्लास हुआ। यहाँ पद्मावती की कल्पनाप्रियता का संकेत है।

विशेष- मध्यकालीन कविसमय के अनुसार कथा को आगे बढ़ाने तथा आकर्षक मोड़ देने के लिए कवि ने यहाँ सुग्गे का अवतरण कराया है। जायसी के 'पद्मावत' में भी तोते के द्वारा ही पद्मावती के रूप सौंदर्य का वर्णन सुनकर रत्नसेन उसके रूप पर मोहित होता है।

9. **मन अति भयौ हुलास । विगसि जनु कोक किरन रवि ॥**
अरुन अधर तिय सधर । बिंब फल जानि कीर छबि ॥
यह चाहत चष चक्रित । उहजु तक्किय झरपि झर ॥
चंच चहुट्टिय लोभ । लियौ तब गहित अप्प कर ॥
हरषत अनंद मन महि हुलस । लै जु महल भीतर गई ॥
पंजर अनूप नग मनि जटित । सो तिहि मँह रष्षत भई ॥

शब्दार्थ- हुलास- उल्लास; बिगसि-विकसित होना; कोक- कमल; रवि- किरन- सूर्य की किरण; अरुन-लाल; अधर-होंठ; सधर-धारण करना; चष(चक्षु)-आँख; चक्रित-चकित; इह-इधर; उहजु-उधर; तक्किय- देखना; झरप्पि-झड़पकर; झर- झट, शीघ्र; चंच-चोंच; चहुट्टिय- चहुँटना, चिपटना; गहित-पकड़ लिया; पंजर-पिंजड़ा; रष्षत-रखा।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग- पद्मावती और तोते की पहली मुलाकात के पश्चात होने वाली घटना का वर्णन इन पंक्तियों में कवि ने किया है।

व्याख्या- सुग्गे को देखने के बाद पद्मावती का मन उल्लास से वैसे ही खिल उठा, जैसे सूर्य की किरण से कमल खिल उठता है। पद्मावती के होंठ लाल रंग के थे, सुग्गा ने उसे रूप की समानता की

वजह से भ्रमवश लाल रंग का बिंब फल समझ लिया। इधर पद्मावती चकित नेत्रों से सुग्गे को देखने लगी, और उधर सुग्गा उसके होठों को बिम्ब फल समझकर झपट पड़ा और लोभवश अपनी चोंच उस पर चला बैठा। पद्मावती ने तत्काल उसे अपने हाथों से पकड़ लिया। अत्यंत हर्ष से आनंदित होकर और उल्लास से भरे मन से वह सुग्गे को लेकर महल के भीतर चली गई। उसने सुग्गे को राजभवन में मणिरत्नजटित पिंजड़े में रख दिया।

विशेष- पहली पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार और दूसरी पंक्ति में भ्रांतिमान अलंकार है।

10. तिही महल रष्षत भइय । गइय षेल सब भुल्ल ।।
चित्त चहुट्टयौ कीर सो । राँम पढ़ावत फुल्ल ॥

शब्दार्थ- तिही-उसको; चहुट्टयो- लगना, सटना।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग- इन पंक्तियों में तोते के प्रति पद्मावती के अनुराग को प्रकट किया गया है।

व्याख्या - पद्मावती ने तोते को अपने महल में रख लिया और उसके अनुराग में इस कदर आबद्ध हो गई कि सारे खेल भूल गई। उसका मन पूरी तरह से तोते से लग गया था और उसको 'राम राम' पढ़ाकर वह प्रसन्नता का अनुभव करने लगी।

2.2.2 'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-सौंदर्य

'पृथ्वीराज रासो' की कविताई पर विचार करते हुए सुमन राजे ने लिखा है कि, " पृथ्वीराज रासो के संबंध में यदि कोई ऐसी बात है, जिस पर कोई विवाद नहीं है, और सभी एक स्वर से सहमत हैं, तो वह, यह कि कविता के निकष पर वह एकदम खरा उतरता है।" हिंदी के श्रेष्ठ कवियों, विशेषकर भक्तिकाल के कवियों के भीतर कवि होने का स्वाभिमान नहीं दिखाई पड़ता, परंतु चंदबरदाई अनेक जगहों पर विनम्रता के साथ-साथ गर्व की अभिव्यक्ति भी करता है। जिस तर्क पर विजयदेव

नारायण साही ने जायसी को हिन्दी का पहला कवि घोषित किया है, उस तर्क पर इस पद का असली अधिकारी चंदबरदाई है। अपनी कविता के विषय में वह कहता है कि उसके द्वारा रचित काव्य रूपी समुद्र, ज्ञानरूपी मोती समर्पित करने वाला है और राजनीति रूपी बोहित उस काव्य रूपी सागर से सफ़लतापूर्वक पार उतारने वाला जहाज है- 'काव्य समुद्र कवि चंद कृत/ मुगति समप्पन ग्यान/ राजनीति बोहिथ सुफल/ पार उतारन यान।' चंद ने भारतीय साहित्य परंपरा के गहन अध्ययन से प्राप्त अंतर्दृष्टि द्वारा इस महाकाव्य की रचना की है, इसलिए इसका काव्य-सौंदर्य अप्रतिम है। आइए इस पर विचार करते हैं-

महाकाव्यत्व :- 'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का पहला महाकाव्य माना जाता है। यह रचना महाकाव्य के विविध गुणों से संपन्न है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा निर्धारित महाकाव्य की अधिकांश कसौटियों पर यह रचना खरा उतरती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य में सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए। 'पृथ्वीराज रासो' के बृहत्तम संस्करण में उनहत्तर समय हैं। इसमें सर्गों का नामकरण 'समय' किया गया है। ये सर्ग न दीर्घ हैं, और न ही अल्प। इस महाकाव्य का आरंभ ईश्वर वंदना और संक्षिप्त वस्तु निर्देश के साथ हुआ है। माता प्रसाद गुप्त के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' छंद-वैविध्य-परक रासउ-परंपरा का काव्य है, इसलिए इसमें आचार्य विश्वनाथ की मान्यता के अनुसार प्रत्येक सर्ग अलग-अलग छंदों में बँधा हुआ नहीं है। इस महाकाव्य के सभी 'समय' विविध छंदों में रचित हैं। वस्तु की दृष्टि से इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध है और इसका नायक पृथ्वीराज चौहान धीरोदात्त नायक है। मुख्य कथा के साथ इसमें विविध सहायक कथाएँ भी हैं, जो मुख्य कथा को संवर्द्धित और विकसित करने में सहायता करती हैं। इसका अंगी रस वीर है, जिसको शृंगार और करुण जैसे रस परिपुष्ट करते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में नायक राष्ट्र-धर्म का पालन करते हुए वीरतापूर्वक अपने प्राण त्यागता है, इसलिए पुरुषार्थ चतुष्ट्य में से एक की प्राप्ति होती है, जो किसी महाकाव्य का एक प्रमुख गुण है। रचना का नामकरण ऐतिहासिक

नायक के नाम पर हुआ है। महाकाव्य के रचयिता के लिए यह आवश्यक है कि वह विविध वर्णनीय स्थलों, विषयों और व्यक्तियों का समग्रता में वर्णन करे। चंदबरदाई ने सूर्योदय, सूर्यास्त, देवी-देवता की वंदना, खल-निंदा, सज्जन-प्रशंसा, दुर्ग के वैभव आदि का वर्णन बहुत ही सूक्ष्मता और श्रेष्ठता के साथ किया है। अत: 'पृथ्वीराज रासो' महाकाव्य के समस्त गुणों से संपन्न रचना है।

कथानक :- 'पृथ्वीराज रासो' के चार प्रमुख संस्करण मिलते हैं, जिसके बृहत्तर संस्करण में उनहत्तर समय है और इसके भीतर पृथ्वीराज चौहान के जन्म से लेकर मृत्यु तक की कथा कही गई है। इसके लघुत्तर और सर्वाधिक प्रामाणिक माने जाने वाले संस्करण में केवल पृथ्वीराज चौहान के जीवन का उतरार्द्ध चित्रित है- कैमास वध से लेकर गोरी के साथ के अंतिम युद्ध तक की कथा। इसी आधार पर माता प्रसाद गुप्त ने चार घटनाओं को ही रासो में माना- कैवास बध/ पृथ्वीराज-जयचंद युद्ध/ शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज युद्ध/ शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज युद्ध । वैसे सभी संस्करणों को मिलाकर देखने पर 'पृथ्वीराज रासो' में मुख्य रूप से उपलब्ध प्रसंग हैं- आदि पर्व/ दिल्ली किल्ली कथा/ अनंगपाल दिल्ली दान/ पंग यज्ञ विध्वंस/ संयोगिता नेम आचरण/ कैमास वध/ षटऋतु वर्णन/ कनवज्ज समय/ बड़ी लड़ाई/ बान बंध। 'पृथ्वीराज रासो' विकसनशील काव्य-परंपरा की रचना है, इसलिए इसके कथानक की स्पष्ट रूपरेखा खींच पाना संभव नहीं है। उपलब्ध पाठों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इसका रूपबंध जटिल है। 'पृथ्वीराज रासो' कथाकाव्य परंपरा में रचित एक ऐतिहासिक वीरकाव्य है। इसमें नायक की वैयक्तिक वीरता के साथ ही उस समाज में विद्यमान वीरता के भाव का वर्णन भी मिलता है। वीरकाव्य के लिए आवश्यक सभी तत्व- साहसपूर्ण कार्यों की प्रधानता, अलौकिक और असंभव घटनाओं की योजना, अतिप्राकृतिक चरित्रों की रचना, रोमांचक शैली के विवाह आदि रासो के कथानक के मूल आधार हैं। इसका कथानक चरितकाव्य से प्रभावित है, इसलिए इसमें नायक का जीवन समग्रता में चित्रित है। पृथ्वीराज के जन्म से लेकर मरण तक की कथा का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि उसमें इतिहास और पुराण दोनों के तत्व समाहित हो गए हैं। इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं के साथ ही इसमें अतिप्राकृत चरित्रों, अलौकिक घटनाओं,

साहसिक कार्यों, काल्पनिक दृश्यों एवं अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णनों की भरमार है। 'पृथ्वीराज रासो' के विशाल कथानक में चरित्रों की बहुलता है, इसलिए सुमन राजे ने इसे 'चरित्रों का वन' कहा है। वंदना, सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निंदा, कथा समयों का संयोजन, काव्य रूढ़ियों का पालन, सर्गबद्दता, छंद संबंधी नियमों का अनुसरण जैसे प्रबंधकाव्य के निर्धारित मानकों का पालन चंदवरदायी ने सफलतापूर्वक किया है। सुमन राजे ने 'पृथ्वीराज रासो' के कथानक के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा है कि, " 'पृथ्वीराज रासो' के कथानक में जो 'बहुमुखी विकास' है। वह जैन-बौद्ध परम्पराओं और लोककथाओं के कारण वे श्रृंखलाबद्ध तो हैं परन्तु उनका संबंध हमेशा कार्य-कारण का नहीं है। जैसे वटवृक्ष में यह क्षमता होती है कि उसकी हर डाल जड़ बन सकती है, 'पृथ्वीराज रासो' का महाकाव्यत्व भी वस्तुतः वटवृक्ष की तरह है। उसकी जड़ मात्र कथा में नहीं लोक मानस की रचनात्मकता में है और यही चीज उसे महाकाव्य बनाती है। पूर्वसंकेत होना न होना, एक छन्द का होना न होना, संख्या, सूर्योदय नगर, विवाह का वर्णन होना न होना, सब गैर जरूरी हैं। मुख्य चीज है उस जीवन का चित्रण, उस युग का कथन, उस लड़ाई का गतिचित्र जो एक व्यक्ति की लड़ाई थी तो परन्तु रही नहीं। उस पात्र को माध्यम बनाकर, उस काव्य को माध्यम बनाकर सदियों तक वह लड़ाई लड़ी गयी । जब कोई नया छंद, नया प्रसंग उस काव्य में जुड़ता तो जैसे एक योद्धा उसमें और शरीक हो जाता। जिसे हम पृथ्वीराज रासो की कमजोरी कहते हैं, उसकी अनैतिहासिकता कहते हैं, प्रक्षेप कहते हैं, वे सब उसके सेनानी हैं जो रासो की मूल ध्वनि पर आज भी समवेत परेड कर रहे हैं।"

वस्तु-वर्णन :- वस्तु-वर्णन महाकाव्य की आत्मा होती है। सजीव वस्तु-वर्णनों के द्वारा ही कवि कथा के विशाल कलेवर और विस्तार को अभिलषित रोचकता प्रदान करता है। विशाल नगरों, भव्य राजदरबारों, दुर्गम दुर्गों, विकट युद्धों, मोहक विवाह आयोजनों आदि के सजीव वर्णनों के

द्वारा कवि पाठक के मन में अद्‌भुत आनन्द का संचार करता है। चंदवरदाई वस्तु-वर्णन का सिद्धहस्त कवि है। उनके वस्तु-वर्णन इतने सजीव और बारीक हैं कि उसके आधार कोई चित्रकार चित्र बना सकता है। अनेकानेक युद्धों और नगरों के वर्णन की खासियत यह है कि उनमें से हर एक दूसरे से भिन्न है। 'पृथ्वीराज रासो' में मुख्य रूप से तीन तरह के वस्तु-वर्णन हैं- आखेट-वर्णन, युद्ध-वर्णन एवं विवाह-वर्णन। आखेट-वर्णन में पृथ्वीराज चौहान की फुर्ती, आखेट की तैयारी, शिकारी कुत्तों की गतिविधियों के साथ ही जंगली पशुओं के भागने और मारे जाने के मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्र भी मिलते हैं। उनके कातर स्वर, अविराम अश्रुधारा, तीव्र घड़कन और जीवन रक्षा के लिए भागने की व्यग्रता के वर्णन द्वारा ये दृश्य जीवंत हो उठते हैं। उदाहरण के लिए यह वर्णन देखिए- हहकि हिरन हारियब, हेरि कातर रव रट्टिय/ अप्प त्रास भय मोह, विरह लग्गी चटपट्टिय॥/ हिय धरक्क धुन्धरह, वदन लोइन जल निझ्झर।/ तकित चकित संकीत, समग संकरिय दुक्ख भर॥

'पृथ्वीराज रासो' वीर-रस प्रधान काव्य है, इसलिए इसके युद्ध वर्णनों में कवि का अदभुत कौशल दिखाई पड़ता है। युद्ध-वर्णन में रण की दुंदुभी से लेकर विजय के नाद तक की प्रत्येक घटना का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। योद्धा कवि होने के कारण चंद को युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव था, इसलिए युद्ध की तैयारियों, व्यूह रचना, हाथी-घोड़ों पर बैठे योद्धाओं की भाव-भंगिमा, अस्त्र-शस्त्र की बनावट और संचालन की शैली से लेकर योद्दाओं के कटते सर का यथार्थ चित्रण उसने किया है। 'पद्मावती समय' में पृथ्वीराज-गोरी युद्द का वर्णन कवि इन शब्दों में करता है- गही तेग चहुवाँन हिंदूवाँन रानं। गजं जूथ परिकोप केहरि समानं।/ करे रुंड मुंडं करी कुंभ फारे। बरँ सूर सामंत हुँकि गर्ज मारे। इन युद्ध वर्णनों की एक खास विशेषता यह है कि इसमें नायक के साथ-साथ प्रतिनायक की वीरता का भी समान भाव से चित्रण किया गया है, कहीं भी उसे नीचा दिखाने का प्रयास नहीं मिलता है।

पृथ्वीराज चौहान के लगभग दस विवाहों का वर्णन 'पृथ्वीराज रासो' में मिलता है। इसमें भारतीय संस्कृति और जीवन-बोध का प्रकटीकरण हुआ है। विवाह के दौरान होने वाली द्वारपूजा, कन्यादान, भाँवर, दान-दहेज, विदा आदि संस्कारों का समग्रता में चित्रण हुआ है। इस क्रम में नगर-वर्णन, राजभवन-वर्णन, नर-नारियों के वस्त्राभूषण का वर्णन भी किया गया है। इंच्छिनी के साथ हुए पृथ्वीराज के प्रथम विवाह का वर्णन ज्यादा व्यापकता से हुआ है। पद्मावती प्रसंग में भी विवाह का संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

कथानक रुढ़ियाँ :- कथानक को रुचिकर बनाने, घटना प्रवाह में अभिलषित मोड़, कथारस को विशेष प्रेषकीय बनाने, घटना प्रवाह में लचीलेपन और औत्सुक्यजनक सौंदर्य के लिए प्राचीन काल से ही भारतीय महाकाव्यों में कथानक रुढ़ियों का प्रयोग होता आ रहा है। कवि चंद ने लगभग सभी प्रसिद्ध कथानक रुढ़ियों का यथावसर उपयोग किया है। 'पृथ्वीराज रासो' की कथा का आरंभ शुकी-शुकी संवाद से होता है। पद्मावती के रूप-सौंदर्य का वर्णन एक सुग्गा और शशिव्रता के सौंदर्य का वर्णन एक हंस करता है। इससे पृथ्वीराज के मन में इन नायिकाओं के प्रति रूप गुण श्रवण जन्य आकर्षण पैदा होता है, जो एक प्रसिद्ध कथानक-रुढ़ि है। नायिका के पूर्वजन्म में अप्सरा होने की कथानक रुढ़ि लोक कथाओं में खूब प्रचलित हैं। शशिव्रता और पृथ्वीराज का मिलन शिवमंदिर में होता है। कन्या-हरण रुढ़ि का पालन शशिव्रता और संयोगिता के विवाह के प्रसंग में मिलता है। विरह के क्रम में बारहमासा वर्णन की रुढ़ि का पालन भी रासो में अनेक स्थलों पर हुआ है।

पात्र-चित्रण :- 'पृथ्वीराज रासो' मूलत: एक चरित-काव्य है। इसमें चरित्रों की भरमार है, इसीलिए सुमन राजे ने इसे 'चरित्रों का वन' कहा है। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज चौहान, उनकी पत्नियों, सामंतों सहित विरोधी राजाओं के चरित्र बड़ी संख्या में चित्रित हैं। अत्यधिक संख्या में होने के बावजूद ये चरित्र पाठकों पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ पाने में सफल होते हैं। उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुरूप ही उनका आचरण है। पात्रों के मन के द्वंद्व और दुविधा का सटीक चित्रण कवि ने किया है। पृथ्वीराज इस काव्य का नायक है और नायक के समस्त गुणों से अभिसिंचित है।

यह धीर, गंभीर, वीर और विनयशील है। धर्म का पालन करने वाला और न्याय के लिए जीवन दे देने वाला है। अन्याय करने पर मामा कन्ह के आँखों पर पट्टी बाँध देता है और अपने सबसे प्रिय सामंत कयमास का वध कर देता है। युद्ध के नियम के अनुरूप गोरी जैसे दुश्मन को कई बार जीवन दान देता है। प्रेम की रक्षा के लिए जयचंद जैसे राजा से अकेले ही लड़ जाता है। किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के खिलाफ़ अपहृत नहीं करता। पराजित और अंधा होकर गोरी की कैद में रहते हुए भी पृथ्वीराज की नजर झुकती नहीं है। शहाबुद्दीन चंद से कहता है कि वह अपनी वक्रदृष्टि नहीं छोड़ रहा- वै चंद अंध तइ रिस ज कीन/ वर वंक दीठ छंडइ न भीन। चंद ने पृथ्वीराज की कमजोरियों को छुपाया नहीं है। संयोगिता से विवाह के पश्चात विलास में डूबना, कयमास के वध के बाद अहंकार से भर जाना, कैद कर लिए जाने के बाद चंद से मिलते समय गहरी निराशा में भरा होना, जैसे प्रसंग पृथ्वीराज के चरित्र को सजीव और विश्वसनीय बनाते हैं। पृथ्वीराज की कई रानियाँ थी, लेकिन उनमें से इंछिनी, पद्मावती, शशिव्रता, हंसावती और संयोगिता के चरित्र-चित्रण में कवि का मन ज्यादा रमा है। इन नायिकाओं का प्रेमिका रूप ज्यादा निखर कर आता है। ये अतीव सुंदरियाँ हैं और पृथ्वीराज से एकनिष्ठ प्रेम करती हैं। कवि ने इनके विरही और विलासिनी दोनों रूपों का सुंदर चित्रण किया है। 'पृथ्वीराज रासो' का एक प्रमुख चरित्र चंद है। एक पात्र के रूप में चंद का आगमन कयमास-वध के प्रसंग में होता है। वह चौहान का बालसखा और और उसे सरस्वती सिद्ध है। चंद एक निर्भिक व्यक्ति है और सत्य के लिए पृथ्वीराज से टक्कर लेने में भी संकोच नहीं करता है। कयमास-वध के पश्चात जब भरी सभा में पृथ्वीराज उसकी सिद्धि को चुनौती देता है, तो प्राणों की बाजी लगाकर वह उत्तर देता है- जउ छंडइ सेसह धरणि, हर छंडइ विष कंद । रवि छंडइ तप ताप कर, तउ वर छंडइ कवि चंद । कवि चंद ने पृथ्वीराज के सामंतों कन्ह, कयमास, हरसिंह, निडर राठौर की वीरता और जीवन दान का चित्रण तो किया ही है, उसके विरोधियों गोरी और जयचंद के गुणों को भी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

छंद संरचना :- आदिकालीन दौर में महाकाव्यों में छंदों के परिवर्तन का चलन था। महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग के अंत में छंद-परिवर्तन का स्वीकार्य नियम प्रचलित था। 'पृथ्वीराज रासो' में इस परंपरा का निर्वाह हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' छंद वैविध्य परक रासउ परंपरा का काव्य है। इसमें कुल 72 प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। 32 प्रकार के मात्रिक छंद, 30 प्रकार के वर्णिक छंद, 6 मिश्र और 4 वचनिका आदि छंद हैं। चंदवरदाई छंद रचना में अत्यधिक दक्ष था। परंपरा से प्राप्त अनेक छंदों को उन्होंने नवीन जीवन दिया है। अपने समय के लगभग सभी प्रचलित छंदों का प्रयोग किया है। छप्पय उसका सर्वाधिक प्रिय छंद है। शिवसिंह सेंगर ने चंद को 'छप्पयों का राजा' कहा है। छप्पय वीर रस के अनुकूल छंद है, इसलिए इसकी रचना में चंद का मन सर्वाधिक रमा है। उन्होंने अधिकांश मार्मिक प्रसंग ने इसी छंद में रचे हैं। वे कथा को आगे बढ़ाने के लिए गाथा या दोहरा छंद का उपयोग करते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख प्रमुख छंद हैं- पद्धरी, गाहा, अरिल्ल, चौपई, आर्या, नाराच, त्रोटक, त्रिभंगी, साटक, भुजंगी, कवित्त। नामवर सिंह ने लिखा है कि, " रासो एक ही साथ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्राचीन छंद-परंपरा के पुनरुज्जीवन तथा हिन्दी के नूतन छंद-संगीत के सूत्रपात की संधि-बेला है। इन तमाम छंद-संघटन में भी 'रासो' का अपना हिन्दी काव्योक्ति संगीत सर्वोपरि है।" चंद ने मुरिल्ल, ऊधो, हनूफाल जैसे लोक में प्रचलित अनेक ऐसे छंदों का भी प्रयोग किया है, जो तत्कालीन पिंगल-शास्त्र में भी नहीं मिलता है। चंद ने भावानुकूलता के अनुरूप छंदों का प्रयोग। जैसे जैसे भाव बदलते हैं कवि छंद बदल देता है। आरोह अवरोह के साथ भाषा चलती है जिससे एक लय पैदा होती है। 'कयमास वध' में प्रसंग के अनुसार दोहरा, कवित्त, रासा, अडिल्ल, गाथा आदि छंदों का सुंदर प्रयोग हुआ है। चंद ने इस प्रसंग में अर्ध नाराचज छंद में मनमोहक सरस्वती-वंदना की रचना की है- मराल बाल आसनं/ अलित्त छाया सासनं/ सोहंति जासु तुंबरं/ सुराग राज धुंमरं।

अलंकार योजना :- चंद ने अपने समय में प्रचलित तमाम अलंकारो का सुंदर प्रयोग किया है। अलंकारशास्त्र का उसे समय ज्ञान था। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का समुचित उपयोग उसने इस काव्य में किया है। अलंकारों का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक और सुंदर ढंग से हुआ है। 'गोरी रतउ तुअ धरा, तू गोरी अनुरक्त' में यमक अलंकार, 'नवति नवप्पल निसि गलित' में अनुप्रास और 'कुच मद्धि हार विराज, हरद्वार गंगा जू राज' में उत्प्रेक्षा का सुंदर प्रयोग देखा जा सकता है। उत्प्रेक्षा और अनुप्रास चंद को बहुत ही प्रिय था। वीर रस की प्रस्तुति में अनुप्रास का चमत्कार देखने लायक है- भरिग बान चहुआन जानि दुर देव नाग नर/ मुठ्ठि दिठि रिसि डुलिग चुक्कि निक्करिग एक सर। चंद ने अनेक स्थलों पर रूपक अलंकार की सहायता बिम्ब निर्माण किया है, खासकर युद्ध वर्णन में। इन्होंने पारम्परिक उपमानों के साथ ही लोक जीवन से जुड़े बिल्कुल नवीन उपमानों का उपयोग कर भी पाठकों को चमत्कृत किया है। एक जगह उन्होंने नदी के किनारे की रेतीली भूमि की उपमा ऊँट की पतली पसलियों से दी है। संयोगिता का नख-शिख वर्णन करते हुए उसके अंग-अंग की उपमा समुद्र-मंथन से मिले रत्नों दी है।

भाषा-सौंदर्य :- डॉ ग्रियर्सन रासो की भाषा को इस कारण बेहद महत्त्वपूर्ण माना था क्योंकि यह 'योरोपीय अन्वेषकों के सामने अर्वाचीन प्राकृतों और प्राचीनतम गौड़ीय रचनाओं के बीच की कड़ी के रूप में केवल यही एक मात्र रचना है।' जबकि आचार्य शुक्ल ने इस विषय में लिखा है कि, " भाषा की कसौटी पर यदि इस ग्रंथ को कसते हैं, तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बे-ठिकाने हैं।" रासो की भाषा को लेकर हिन्दी में आलोचकों में पर्याप्त विवाद हुआ है, लेकिन इन सब के बावजूद यह स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिए कि भाषा का जैसा रचनात्मक उपयोग चंद ने इस रचना में किया है, वैसा आदिकालीन अन्य किसी रचना में दुर्लभ है। चंद ने 'पृथ्वीराज रासो' में अनेक स्थलों पर खुद को छः भाषाओं का जानकार बताकर गर्व का प्रदर्शन किया है। उसने अपने भाषायी आदर्श के रूप में व्यास, कालिदास और हर्ष जैसे संस्कृत के महान कवियों को याद किया है। रासो की भाषा विस्तार और स्तर के पैमाने पर

परतदार है। चंद की भाषा का सौंदर्य वहाँ ज्यादा निखर कर आता है जब वह पृथ्वीराज के विरोधी राजाओं के दरबार में जाता है, और अपनी वाग्वैदग्धता के कारण विजयी हो कर आता है। गुर्जरेश्वर भीमदेव, कमधज्ज जयचंद और गोरी के दरबार में भाषिक चतुराई की वजह से चंद ने वातावरण ही बदल दिया। गोरी का वध ही वह भाषायी दक्षता की वजह से करा पाता है। चंद भाषा के प्रयोग में शुद्धतावादी आग्रहों से मुक्त है, इसलिए उसका शब्द-भंडार बहुत व्यापक है। वह अपने समय में प्रचलित अरबी-फ़ारसी सहित लोक के शब्दों के स्वीकार में परहेज नहीं किया है। उसने भारत की विभिन्न भाषाओं के शब्दों के साथ ही विभिन्न समयों में प्रचलित संस्कृत, प्राकृत और पालि के शब्दों को सहजता से अपनाया है। इस कारण से ही उसकी भाषा में प्रवाह है, और इसी वजह से वह सैकड़ों वर्षों से लोक के कंठ में विराजमान है। चंद ने अपने समय के मुहावरों का प्रयोग कर 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा को जीवंत बना दिया। उसके द्वारा प्रयुक्त 'फुट्टि सरोवर नीर गय, अब किं बंधे पालि' या 'मानो सरग छछ्छोंदरी, डारे बने न खाय' जैसे अनेक मुहावरे आज उपयोग में नहीं हैं, लेकिन उनकी मधुरता विद्यमान है। चंद की चित्रण-शक्ति और बिम्ब-धर्मिता अद्‌भुत है। 'कयमास वध' में जब कयमास राजमहल में प्रवेश करता है, तब उस समय की स्थिति के सूक्ष्म चित्रण में भाषा पर चंद के अधिकार को महसूस किया जा सकता है- " चलउ मुहिलि कयमास रयणि नट्ठी जाम इक्कत/ तं बोलय सषि साषि पट्ट रगिनीअ निधि संकित/ दीपक जरइ संकूरि भमिअ रत्तिअ पति अंतह/ अति स रोस भरि भूज लिहि दीय दासी करि कंतह। " चंद की भाषा की लयात्मकता पाठकों को सहज ही आकर्षित कर लेता है। नामवर सिंह ने चंद की भाषा की तारीफ़ में लिखा है- "रासो के कवि की अभिव्यक्ति क्षमता सबसे अधिक भाषा पर अधिकार के रूप में देखी जा सकती है। कवि जैसे चाहता है, शब्दों का प्रवाह मोड़ देता है, हर शब्द जैसे उसके इशारे पर नाचता है और धारा-प्रवाह शब्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इस कवि को

शब्द की कमी खटकती ही नहीं।.. जिन्हें भावानुकूल भाषा के मन्द और तीव्र सौन्दर्य की चाह है, वे चंद के पास बार-बार मँडराएँगे ।"

2.2.3 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी के पहले महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। यह महाकाव्य जितना लोकप्रिय है, उतना ही विवादास्पद भी। इसकी प्रमाणिकताप्रमाणिकता को लेकर विद्वानों के बीच पर्याप्त - मतभेद है। आज तक विद्वान इस विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए हैं। आइए इस पर विचार करते हैं -

'पृथ्वीराज रासो' का प्राचीन अस्तित्व :-

सं 1528 में लिपिबद्ध 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में `पृथ्वीराज रासो' चार छप्पय मिले। इस संग्रह का रचना समय सं 1290 से सं 1528 के बीच का है। इसको मुनि जिनविजय जी ने बीसवीं सदी मे मध्य में उपलब्ध कराया। वैसे 'पृथ्वीराज रासो' की प्राचीनतम प्रति धारणोज में सं 1667 में उपलब्ध हुई। यह राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के केंद्रीय पुस्तकालय, जोधपुर में सुरक्षित है। इन दोनों साक्ष्यों से `पृथ्वीराज रासो' सोलहवीं सदी के पहले का रचा जाना सिद्ध होता है।

1. उदयपुर के निकट राजसमुद्र नामक विशाल सरोवर के बांध पर पच्चीस शिलाओं पर उत्कीर्ण 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में 'पृथ्वीराज रासो' का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तिस्तिविस्तर:'। राजप्रशस्ति महाकाव्य का कर्ता झोटिग भट्ट था, जिसने इसका लेखन कार्य सं 1718 में प्रारंभ कर उसे सं 1732 में पूर्ण किया था।

2. अठारहवीं सदी की रचनाओं 'जसवंत उद्योग'(सं १७४७), यदुनाथ कृत 'वृत्तविलास' और वल्लभ कृत 'कुंतीप्रसन्नाख्यान' में भी इसका उल्लेख मिलता है।

रासो की प्रामाणिकता-अप्रमाणिकता के विवाद का आरंभ-:

'पृथ्वीराज रासो' अकबर के जमाने तक बहुत अधिक प्रसिद्ध हो चुका था। अकबर ने गंग भट से चंदबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' को सुना। अबुल फ़जल ने इसे 'हिन्दू इतिहास का गौरव' बताया और इससे प्राप्त वृत्तांतों का गहरा अध्ययन किया। राजस्थान के राजाओं के बीच इसकी प्रसिद्धि इतनी थी कि इसकी प्रतियाँ लगभग सभी राजाओं के पास मिलती है। राजपूत राजा अपनी वंश परंपरा के ज्ञान के लिए 'पृथ्वीराज रासो' का पाठ करते थे। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में जब कर्नल जेम्स टॉड राजस्थान का पहला विस्तृत इतिहास लिखने लगे तो 'पृथ्वीराज रासो' को उसके काल का 'सर्वव्यापक इतिहास' बताकर इसमें उपलब्ध तथ्यों के सहारे सन 1829 एवं में 1832'एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ़ राजस्थान' को दो भागों में प्रकाशित कराया। उन्होंने इस ग्रंथ को इतना महत्व दिया था कि उनके संग्रहालय में इसकी बारह प्रतियाँ रखी हुई थीं। इसकी महत्ता के विषय में टॉड ने लिखा कि, " भारत की ऐतिहासिक सामग्री के लिए उसके युद्ध संबंधी काव्य भी सहायता करते हैं। लेकिन कविता और इतिहास दोनों दो चीजें हैंकवि प्रशंसा के.... पुरस्कार के रूप में धन प्राप्त करता है और उसके ऐसा करने से तथ्यों की ईमानदारी में अंतर आ जाता है। कवि का पक्षपात और विद्रोह दोनों ही इतिहास के लिए घातक हैं। वह अपनी दोनों आस्थाओं में सत्य से दूर निकल जाता है। युद्ध संबंधी काव्यों में इस प्रकार के दोष स्वाभाविक रूप से आते हैं।इस प्रकार के दोष ... सी सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है।-होते हुए भी भारतीय भाटों की पुस्तकों से इतिहास की बहुत" जेम्स टॉड पहले विदेशी विद्वान हैं जिन्होंने आधुनिक काल में 'पृथ्वीराज रासो' की महत्ता को स्थापित किया। उन्होंने संयोगिता वाले प्रसंग का अंग्रेजी में अनुवाद किया। वे पूरे रासो का हिंदी में अनुवाद करना चाहते थे, लेकिन उनकी असमय मृत्यु ने इस कार्य को बाधित कर दिया। उन्होंने अनुवाद के दौरान ही 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में निबंध लिखकर विद्वानों का ध्यान इस रचना की ओर आकर्षित किया।

सूर्यमल मिश्र ने वंश-भास्कर (1840-1860 ई.) में 'पृथ्वीराज रासो' का उल्लेख किया। रासो को अविश्वसनीय मानते हुए भी (भई यो न तो ज्यों भई, होय सत्यतिम होहु/ कही चंद सुहि हम कहत, घटहु प्रमान न कोहु) इसकी प्रसिद्धि की वजह से इसमें वर्णित घटनाओं और संवतों को स्वीकार किया। एफ.एस.ग्राउज ने 'पोएम्स ऑफ़ चंदबरदाई' निबंध के द्वारा 'पृथ्वीराज रासो' के प्रकाशन की आवश्यकता पर बल दिया। 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' ने आगरे वाली प्रति के आधार रासो से संबंधित सामग्री का संकलन कर उसकी एक रिपोर्ट तैयार करने का दायित्व इन्हें दिया। काशी नरेश वाली प्रति इन्होंने प्राप्त की। ये रासो की विभिन्न प्रतियों का अध्ययन कर उसके विषय में जानकारी सोसाइटी तक पहुँचाते रहे, इसी बीच बीम्स का एक लेख पद्मावती समय का अनुवाद प्रकाशित हुआ। इससे बीम्स और ग्राउज के अनुवाद के साथ ही रासो की भाषा और व्याकरण पर विवाद छिड़ गया। इस बीच 1873 ई. में कलकत्ते से 'आदिपर्व' के कुछ अंशों का प्रकाशन भी हुआ।

1893 ई. में बूलर ने शारदा लिपि में लिखी संस्कृत की रचना 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर रासो को जाली बताकर उसका प्रकाशन रुकवा दिया। यहीं से 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विवाद का आरंभ हुआ। ऐतिहासिक आधार पर रासो को सबसे पहले अप्रमाणिक श्यामलदास ने कहा था। अपने इतिहास-ग्रंथ 'वीरविनोद' और सोसाइटी से प्रकाशित जर्नल में कई लेख लिखकर इन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' को सर्वथा जाली ग्रंथ कहा। इनके मतों ने ही बूलर को बेहद प्रभावित किया और उन्होंने इसका प्रकाशन बंद करवा दिया। इससे बेहद दुखित होकर मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या जी ने व्यक्तिगत प्रयासों से 1887 ई. में 'पृथ्वीराज रासो' का पहला भाग मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित करवाया। 1906 ई. में श्यामसुंदर दास और राधाकृष्ण दास जैसे विद्वानों ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से पांड्या जी की मदद की। 1912 ई. में देहावसान के पहले तक पांड्या जी ने रासो के बारह भाग प्रकाशित कर दिए थे। तेरहवाँ भाग

उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। छब्बीस वर्षों तक रासो का प्रकाशन करने दौरान पांड्या जी अपने विरोधियों का जवाब देते रहे। रासो की प्रामाणिकता से संबंधित विवाद आरंभ में उसकी हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित था, लेकिन जब 1913 ई. तक पांड्या जी ने 2615 पृष्ठों और 69 समयों में 'पृथ्वीराज रासो' का बृहद संस्करण संपादित कर दिया तब सारा विवाद इस संस्करण को केंद्र में रखकर होने लगा।

'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिकता और अप्रमाणिकता के आधार पर चले विवाद में कुछ विद्वान इसको प्रामाणिक मानते हैं तो कुछ अप्रमाणिक। जोधपुर के कविराज मुरारीदान, उदयपुर के कविराज श्यामलदास, डॉ बुलर, मुंशी देवीप्रसाद, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रामचन्द्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा और मोतीलाल मेनारिया जैसे विद्वान ने इसे अप्रमाणिक कहा तो मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, हर प्रसाद शास्त्री, मिश्र बंधु, कर्नल टॉड, गार्सा द तॉसी, जॉन बीम्स, जार्ज गियर्सन, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध और धीरेन्द्र वर्मा जैसे विद्वानों ने इसे प्रामाणिक सिद्ध किया है।

आधुनिक युग में कर्नल टॉड ने ऐतिहासिक आधारों पर 'पृथ्वीराज रासो' को प्रतिष्ठित किया, इसलिए इसकी प्रामाणिकता को चुनौती भी इसी आधार पर दिया गया। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा कि, "पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें राजपूतों की उत्पत्ति की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई-बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् अशुद्ध और कल्पित हैं।" ओझा जी ने बहुत विस्तार से रासो में उल्लिखित ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया और उसकी प्रामाणिकता को प्रश्नांकित किया। अन्य विद्वानों ने भी इस तरह की राय दी। रासो को प्रामाणिक मानने वालों ने प्रमाणों के साथ इसका प्रतिवाद किया। आइए इस विवाद पर विस्तार से विचार करते हैं-

ऐतिहासिक तथ्य संबंधी गलतियाँ:-

1.'पृथ्वीराज रासो' की वंशावली विवादास्पद मानी गयी है। उसकी तुलना हर्षनाथ मंदिर की प्रशस्ति, बिजोलिया के लेख, पृथ्वीराज विजय, प्रबंधकोश, हम्मीर महाकाव्य तथा सुर्जन चरित्र से करते हुए ओझा जी कहते हैं, 'पृथ्वीराज रासो के 44 नामों से केवल 7 नाम ही विजौलिया के शिलालेख, और `पृथ्वीराज विजय' से मिलते हैं जबकि `पृथ्वीराज विजय' के 31 नामों में से 22 नाम, `हम्मीर महाकाव्य' के 31 नामों में से 21 नाम शिलालेखों से मिल जाते हैं।'

2.'पृथ्वीराज रासो' में आबू के शासक जेत और सलक बताए गए हैं, जबकि शिलालेखों में इनका उल्लेख नहीं। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार आबू पर धारावर्ष परमारों का शासन था।

3.'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार चौहान वसिष्ठ के यज्ञकुड से उत्पन्न हुए थे इसलिए अग्निवंशी थे, जबकि 'ढाई दिन के झोंपड़े' से प्राप्त शिलालेख और 'पृथ्वीराज विजय' में उन्हें सूर्यवंशी बताया गया है।

4.प्रमुख चरित्रों का ऐतिहासिक प्रमाण-

पृथ्वीराज की माता- रासो में दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री कमला को पृथ्वीराज की माँ बताया गया है, जबकि 'हम्मीर काव्य' और 'पृथ्वीराज विजय' में इन्हें त्रिपुर के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल (अचलराय) की पुत्री कर्पूरदेवी कहा गया है। रासो में यह भी लिखा है कि दिल्लीराज अनंगपाल दिल्ली का राज्य अपने दामाद सोमेश्वर को सौप कर तपस्या करने चला गया था। ओझा जी का कहना है कि अनंगपाल कभी दिल्ली का राजा था ही नहीं। दिल्ली का राज्य तो पहले से ही सोमेश्वर के बड़े भाई विग्रहराज ने अपने अधीन कर लिया था। गोरी के आक्रमण के समय दिल्ली का शासक गोविंदराज था जो अजमेर का सामंत था।

विरोध- मोहन सिंह के अनुसार दिल्ली में कुतुबुद्दीन ऐबक की मस्जिद के अहाते में पड़े लौहस्तंभ के लेख 'संवत दिल्ली 1109 अनंगपाल वही' का अर्थ दिल्ली संवत है। यदि पांड्या जी के आनन्द

संवत को माने और इसमें 91 वर्ष जोड़ दें विक्रम संवत 1200 में अनंगपाल तोमर को दिल्ली का राजा माना जा सकता है।

5. पृथ्वीराज की बहन- 'पृथ्वीराज रासो' में पृथा को पृथ्वीराज की बहन और चितौड़ के राजा समरसिंह से उसका विवाह बताया गया है। समरसिंह रासो का एक प्रमुख चरित्र है, जो गोरी के साथ होने वाले निर्णायक युद्ध में वीरगति को प्राप्त होता है। गौरीशंकर ओझा इसे एक कल्पित कथा मानते हैं, क्योंकि समरसिंह के प्राप्त विभिन्न शिलालेखों के अनुसार वह 'पृथ्वीराज की मृत्यु के 109 वर्ष पीछे तक अवश्य जीवित था।' ऐसे में वह पृथ्वीराज का समकालीन कैसे हो सकता है।

विरोध- ओझा जी ने यह भी स्वीकार किया है कि पृथ्वीराज की बहन का विवाह मेवाड़ के रावल समतसी (सामंतसिंह) से हुआ होगा। बिपिन बिहारी त्रिवेदी जी ने समरसी और समंतसी को एक माना है और लिखा है कि " रासो के पृथ्वीराज तृतीय की बहन पृथा से विवाह करने वाला समकालीन चितौड़ का सामंतसिंह था जिसके नाम का रूप लिपिकारों के अज्ञानवश समरसिंह या समरसी हो गया है....रासो के उन स्थलों पर जहाँ समरसिंह या समर प्रयुक्त है, क्रमश समंतसिंह और समंत कर देने से छंद की गति भी भंग नहीं होती। रासो में कहीं कहीं समरसिंह के स्थान पर सामंतसिंह भी प्रयुक्त हुआ है, यथा- सामंतसिंह रावर चवै। सुगति मुगति लम्भै तुरत।"

6.प्रमुख घटनाओं पर सवाल- 'पृथ्वीराज रासो' में लिखा है कि पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की हत्या गुजरात के राजा भीम ने की थी और पिता का बदला लेने के लिए उसने गुजरात पर चढ़ाई कर भीम का वध किया और उसके पुत्र कचरााय को गद्दी पर बैठाकर गुजरात के कुछ हिस्से को अपने राज्य में मिला लिया। ओझा जी के अनुसार सोमेश्वर का प्रथम शिलालेख सं. 1226 और अंतिम सं. 1234 में प्राप्त होता है। पृथ्वीराज का पहला शिलालेख सं. 1236 में मिलता है जो संभवत: सोमेश्वर के देहांत के बाद और उसके राज्यारोहण के पश्चात का होगा। भीमदेव बाल्यावस्था में सं. 1235 में गद्दी पर बैठा और सं. 1298 तक शासन किया। शिलालेखों से प्राप्त

सूचनाओं के आधार पर भीम पृथ्वीराज की मौत के पचास वर्ष बाद तक जीवित था और सोमेश्वर की मौत के समय तक तो वह बालक ही था, इसलिए ओझा जी ने इस कथा को कल्पित माना है।

विरोध- कविराव मोहनसिंह का कहना है कि सं. 1242 में अमृतपाल गुहिलौत ने खुद को भीम का कृपापात्र कहा है। ऐसे में इस समय वह बालक तो नहीं ही था। 'पृथ्वीराज रासो' में भीमबध की भीमबंध का उल्लेख मिलता है, जिसकी पुष्टि युद्ध के बाद दोनों सेनाओं की स्थिति का वर्णन करने वाली इस पंक्ति से होती है- 'संझ सपत्ती सूरमेख भयान मंतिय कूरं/ करुणा वीररस पूरं नोरं दुवं सेन दिक्खाई।' अंतिम पंक्ति का तात्पर्य है कि करुणा और वीररस से भरी हुई दोनों सेना कांतिमय दिखाई पड़ती है। भीम के वध के पश्चात उसकी सेना का कांतिमय होना संभव नहीं है। मोहनसिंह का मानना है कि पृथ्वीराज ने अपने शत्रुओं के साथ सदैव जैसा किया वैसा ही भीमदेव के साथ भी किया होगा और उसे बंधन के पश्चात मुक्त कर दिया होगा।

7.पृथ्वीराज के विवाह- 'पृथ्वीराज रासो' में चौहान के पंद्रह विवाहों का उल्लेख है लेकिन विस्तृत वर्णन उन्हीं का है जिनमें उसका पौरुष और वीरता प्रमाणित होती हो। इन विवाहों के आधार पर भी रासो को अप्रमाणिक माना गया है। ओझा जी का कहना है कि मंडोवर के राजा नाहरराय की कन्या से उसका विवाह संभव ही नहीं था क्योंकि शिलालेखों के अनुसार यह राजा पृथ्वीराज के बहुत पहले हुआ था। आबू में कोई राजा परमार हुआ ही नहीं, इसलिए उसकी बेटी इंछिनी से विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। दाहिम चावंड की बहन से चौहान के विवाह के विरोध में ओझा जी के पास कोई तर्क नहीं है, लेकिन उससे उत्पन्न पुत्र का नाम रैनसी बताया गया है, जबकि 'हम्मीर काव्य' में इसका नाम गोविन्दराज है। देवगिरि के यादव राजा मान की पुत्री शशिवृता भला चौहान की पत्नी कैसे हो सकती है जबकि देवगिरि में इस नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ। रणथंभौर में कभी यादवों का राज था ही नहीं, इसलिए इसके यादव राजा मानराय की पुत्री हंसावती से चौहान का विवाह संभव ही नहीं। शील जी मानना है कि पद्मावती और इन्द्रावती से विवाह का प्रसंग भी कल्पना मात्र ही है।

1. **तिथियों की गड़बड़ी** -'पृथ्वीराज रासो' में अंकित तिथियों का मिलान अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से करने पर अत्यधिक गड़बड़ियां दिखाई पड़ती हैं -

	`पृथ्वीराज रासो' में अंकित	**ऐतिहासिक साक्ष्य**	**अंतर**
पृथ्वीराज का जन्म	**संवत** 1115-16	सं .1205-06	90-91
उसका गोद लिया जाना	**संवत** 1122-23	सं .1212-13	90-91
दिल्ली की गद्दी पर बैठना	**संवत** 1138	सं .1229	90-91
कन्नौज गमन	**संवत** 1151-52	सं .1241-42	90-91
अंतिम युद्ध	**संवत** 1158-59	सं .1248-49	90-91

मोहन लाल विष्णुलाल पांड्या ने आनन्द विक्रम संवत की कल्पना कर इसका समाधान किया और रासो में आई सभी तिथियों को सत्य सिद्ध कर दिया। उनके अनुसार आनन्द विक्रम संवत और विक्रम संवत में 90 वर्ष का अन्तर पड़ता है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में यह दोहा दिया है -: *एकादस पै पंचदह विक्रम साक अनन्द/ तिहि रिपु जयपुर हरन को भय प्रिथिराज नरिंद*। इस प्राकल्पना की आलोचना भी ओझा जी ने की है। उनके अनुसार रासो में दिये गये संवतों में प्रत्येक स्थान पर 90 या 91 वर्ष का अन्तर नहीं है। स्वयं पांड्या जी पहले तो 100 वर्ष का अन्तर बताते हैं, फिर 90-91 वर्ष का। अन्य चौहान जातियों के इतिहास में भी केवल कुछ ही स्थानों पर संवत् संबंधी इस प्रकार का अन्तर मिलता है। 'विक्रम साक आनन्द' में 'अनन्द' शब्द के अर्थ के साथ खींच-नवरहित अर्थ स्पष्ट नही = नन्द+तान की गयी है। यहाँ पर अं है क्योंकि मूल में 100 सूचक कोई शब्द नहीं है। पॉड्या जी ने अनन्द का अर्थ दुख किया है, परन्तु रासो संस्कृत का नहीं भाषा का

काव्य है अतः उसे संस्कृत के नियमों में नहीं जकड़ा जा सकता। इन आपत्तियों के अपनी जगह होते हुए भी इस बात के लिए क्या तर्क है कि रासो के संवतों में कुछ विशेष समानता है। यदि अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना निराधार है तो संवतों में 90-91 वर्ष का अन्तर ही क्यों पाया जाता है।

1.नखशिख वर्णन :- इस वर्णन में चंद ने परंपरा का पालन करते हुए पारंपरिक उपमानों के द्वारा पद्मावती के रूप-सौंदर्य को निर्मित किया है। सुग्गे ने पद्मावती के समक्ष जब पृथ्वीराज के रूप-गुण की प्रशंसा की तब उसके मन में अनुराग पैदा हो गया। इस वर्णन में संयोग शृंगार का मोहक चित्र कवि ने खींचा है- सुनत स्रवन प्रथिराज जस। उमँग बाल बिधि अंग॥ / तन मन चित चहुँवान पर। बस्यौ सुरत्तह रंग॥ जब तक पद्मावती का संदेश डॉ. श्याम सुन्दर दास का मानना है कि आनन्द विक्रम की कल्पना सर्वथा नवीन नहीं है। औरंगजेब के पुत्र शहजादे मुअज्जम के दरबारी कवि जैतसिंह ने शाहजहाँ की मृत्यु के वर्णन में विक्रम संवत के सौ वर्ष कम के अर्थ में अनन्द संवत् का उल्लेख किया है:- सोरह बाईस हते संवत अनन्द तब/ माघमास बदि तिथिय भणउ त्रोदसी सोम तब/ दियड पुत्र सिक छत्र साहिजहान तजेउ वपु/ चढ़ि विमान सुरलोक गयेउ मिस्त्री निवास तपु/ यहाँ यह याद दिलाना उचित होगा कि पृथ्वीराज रासो के लघुतम संस्करण में संवतों का उल्लेख ही नहीं है। संयोगिता प्रसंग- इस अंश को रासो का सर्वाधिक प्रामाणिक अंश माना गया है, लेकिन इसकी प्रामाणिकता पर भी विद्वानों ने प्रश्न उठाए हैं। ओझा जी का कहना है कि, " पृथ्वीराज और जयचंद की परस्पर लड़ाई और संयोगिता स्वयंवर की कथा भी ऐतिहासिक नहीं है, क्योंकि 'रंभामंजरी' नाटिका में उस संपूर्ण कथा का उल्लेख नहीं है। " उनके द्वारा सभी विवाहों को नकारना उचित नहीं है। उनका कहना है कि पृथ्वीराज 36 नहीं, केवल तीस वर्षों तक ही जीवित रहा। यदि ओझा जी की बात मानी जाए तो अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों से प्रामाणित उसके पुत्र गोविंदराज का होना संदिग्ध हो जाएगा।

डॉ दशरथ शर्मा ने 'सुर्जन चरित' और 'पृथ्वीराज विजय' के हवाले से संयोगिता के अस्तित्व को स्वीकार किया है। 'सुर्जन चरित' की कांतिमती के स्वयंवर की कथा संयोगिता से मिलती है। कन्नौज

कुमारी कांतिमति ही संयोगिता है। 'पुरातन प्रबंध संग्रह' के एक प्रबंध के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर का पुत्र, दिल्ली का शासक और जयचंद का शत्रु था। उसने गजनी के शासक को सात बार पराजित किया, पकड़ा और छोड़ दिया। अंतिम युद्ध में वह पकड़ा गया और उस समय चंद एक गुफ़ा में कैद था। वे कहते हैं, " जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सब युक्तियाँ हेत्वाभास मात्र हैं, उस कान्तिमती संयोगिता को हम पृथ्वीराज की परम प्रेयसी रानी माने तो दोष ही क्या है? वह चंद्रमुखी अब भ्रमराहु द्वारा कितने समय तक ग्रस्त रहेगी? क्या आपका इतिहासाध्ययन, जाप एवं संयुक्ति मनन अब भी इसे भ्रम राक्षस के चंगुल से मुक्त न कर सकेगा।"

2.अंतिम युद्धः-

गोरी के साथ युद्धों की संख्या और पृथ्वीराज की मृत्यु के प्रसंग को लेकर भी पर्याप्त विवाद हुआ है। रासो के अनुसार इक्कीस बार गोरी को बंदी बनाया गया। अंतिम युद्ध में चौहान पराजित होता है और बंदी बनाकर गजनी ले जाया जाता है। चंद वहाँ पहुंचता है और शब्दबेधी बाण द्वारा गोरी का वध होता है और दोनों सखा एक दूसरे को मार देते हैं। ओझा जी के अनुसार गोरी की मौत पृथ्वीराज के हाथों सं 1249 में नहीं, किंतु सं 1226 चैत्र सुदि 3 को गक्खरों के हाथ से हुई थी। जब वह गक्खरों को परास्त कर लाहौर से गजनी आ रहा था, उस समय धमके के पास, नदी के किनारे नमाज पढ़ता हुआ मारा गया।

मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार चौहान और गोरी के बीच दो युद्ध हुए। एक में चौहान विजयी हुआ और दूसरे में मारा गया। 'तारीखे फ़रीश्ता' के अनुसार दिल्ली के हाकिम खांडेराय से मेल कर चौहान ने गोरी पर चढ़ाई की। प्रथम युद्ध हिजरी सन 582 (सं. 1243) में हुआ, जिसमें गोरी घायल हुआ और किसी तरह गजनी ले जाया गया। दूसरे युद्ध में चौहान को धोखा देकर युद्ध किया गया। वह भागने लगा और सरस्वती नदी की सीमा पर पकड़ा गया और सुल्तान की आज्ञा से कत्ल कर दिया गया। 'ताजु-लमासिर' का लेखक युद्धों की संख्या के विषय में मौन है। वह कहता है

कि अंतिम युद्ध में चौहान बंदी बनाया गया और उसे प्राणदान दे दिया गया। बाद में उसे षडयंत्र में लिप्त पाकर शिरोच्छेदन करवा दिया गया। 'तबकारे नासिरी' के अनुसार दो युद्ध हुए। दूसरे आक्रमण में जम्बू राजा की सहायता से गोरी ने बदला लिया। युद्धस्थल में जिस समय पृथ्वीराज हाथी से उतरकर, घोड़े पर सवार होकर भाग रहा था, उसे पकड़ कर कत्ल कर दिया गया। 'जमाउले हिकायत' के अनुसार रात्रि काल में गोरी अपनी सेना के साथ धोखे से चौहान के पड़ाव पर पहुंचा और उसे बंदी बना लिया। डॉ. हबीबुल्ला ने लिखा है 'उसके (पृथ्वीराज) कुछ सिक्कों पर संस्कृत के अतिरिक्त हम्मीर शब्द उत्कीर्ण मिलता है, जो इस बात का प्रदर्शक है कि उसने मुइजुद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली थी।" इसी आधार पर संभवतः अमृतलाल शोल ने लिखा है, 'पृथ्वीराज के कुछ ताँबे के पैसे मिले हैं। थोड़े से ऐसे भी पैसे मिलते हैं जिनके एक ओर पृथ्वीराज का नाम है, दूसरी ओर सुल्तान मुहम्मद साम लिखा है। इन मुद्राओं से प्रमाणित होता है कि पृथ्वीराज कुछ दिनों के लिए अपनी स्वाधीनता गवाँकर, मुहम्मद गोरी के सामंत भी रहे और ये मुद्राएँ उसी सामंत-काल में बनी हैं। 'ताज-उल-मा-आसिर' से भी इसी व्यवस्था का समर्थन होता है।

भारतीय ग्रन्थों में इन प्रसंगों का भिन्न प्रकार से वर्णन मिलता है। 'पुरातन प्रबंध संग्रह' जैन ऐतिहासिक परम्परा का ग्रन्थ है। इसके अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर का पुत्र था और उसने गजनी के शासक को सात बार पकड़ा और छोड़ दिया। प्रताप सिंह जो उसका दूसरा मंत्री था, उसी के संकेत पर उसने मंत्री कैमास का वध किया जिसका वर्णन चंद ने दूसरे दिन किया। प्रतापसिंह द्वारा बतायी गयी युक्ति से पृथ्वीराज पकड़ा गया और कैद में डाल दिया गया। चंद इस समय गुफा में बन्द था। प्रताप सिंह बंदी पृथ्वीराज के पास गया तो पृथ्वीराज ने उससे अपना धनुष माँगा। प्रताप सिंह ने सारी बात गोरी से कह दी। सुल्तान ने एक लोहे की मूर्ति बनवाकर दो, पृथ्वीराज ने उसके अपने बाण से टुकड़े-टुकड़े कर दिये किन्तु अपना धनुष फेंक कर कहा, 'मैं अपना कार्य न कर सका,

कोई दूसरा व्यक्ति मारा गया।' उसके बाद सुल्तान ने पृथ्वीराज को एक बड़े गड्ढे में डाल दिया और उसे पत्थरों से भरवा दिया। इस प्रकार उसका अन्त हुआ। राजशेखर सुरि रचित 'प्रबंध कोश (सं. 1405) में लिखा है कि पृथ्वीराज ने गोरी को बीस बार बन्दी बनाया। 'प्रबंध चिन्तामणि' (वि. 1361) में पृथ्वीराज ने म्लेछराज को इक्कीस बार हराया, लेकिन अंतिम युद्ध में उसके द्वारा बंदी बनाकर मार दिया गया। संवत् 1624 वि. में लिखा गया 'सुर्जन चरित्र' भी रासो की ही पुष्टि करता है। उसके अनुसार पृथ्वीराज ने गोरी को इक्कीस बार बन्दी बनाया था। अन्त में वे शब्दभेदी बाण द्वारा उसका बधकर स्वयं आत्महत्या कर लेते हैं। 'हम्मीर महाकाव्य' के अनुसार गोरी सात बार बन्दी बनाया जाता है। अन्त में अश्वशाला के अधिकारी सुल्तान से मिल गये और उन्होंने युद्ध के लिए पृथ्वीराज को नर्तक घोड़ा दे दिया। युद्ध छिड़ते ही, जैसे ही रणवाद्य बजे, घोड़ा नाचने लगा और पृथ्वीराज बन्दी बना लिया गया जहाँ उसने अनशन करके प्राण त्याग दिया।

2.2.4 अथ पद्मावती समय का काव्य-सौंदर्य

'पद्मावती समय' पृथ्वीराज रासो के बृहद संस्करण का बीसवां समय है। इसमें पृथ्वीराज चौहान के चौथे विवाह की कथा काव्यात्मक तरीके से कही गई है। इस कथा को लेकर विद्वानों में मत वैभिन्य है। कुछ विद्वान इस विवाह को काल्पनिक मानते हैं। इस आधार पर इस समय को ही प्रक्षिप्त घोषित करने का प्रयास करते हैं। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' में इस समय को स्वीकार नहीं किया है।

'पद्मावती समय' का कथानक संक्षिप्त परंतु घटना-प्रधान है। दिल्ली के पूर्व दिशा में समुद्र शिखर नामक विशाल किले से विजय नामक यादववंशी राजा राज्य करता था। इसकी रानी पद्मसेन और पुत्री पद्मावती थी। पद्मावती अनिंद्य सुंदरी थी। जिसका नखशिख वर्णन चंद ने किया है। राजमहल के उद्यान में क्रीड़ा करते हुए पद्मावती के लाल होंठों को बिम्बा फल समझकर एक शुक उस पर झपट पड़ा। पद्मावती ने उसे पकड़ लिया और सोने के पिंजरे में बंद कर दिया। तोता पद्मावती के रूप-सौंदर्य से मोहित हो गया और सोचने लगा कि ऐसी सुंदरी के लिए सर्वाधिक योग्य वर तो

पृथ्वीराज चौहान ही हो सकता है। एक दिन जब पद्मावती ने शुक से उसका निवास स्थान पूछा तो उसने दिल्ली बताया, और वहां के राजा पृथ्वीराज की महानता और वीरता का ऐसा वर्णन किया कि पद्मावती को श्रवण-जन्य प्रेम हो गया। इधर उसके पिता ने राजपुरोहित को बेटी के लिए योग्य वर की तलाश करने भेजा। जिसने शिवालिक पर्वत की तलहटी में स्थित कुमायूं किले के राजा कुमोदमणि से पद्मावती का विवाह तय कर दिया। कुमोदमणि विशाल बारात सजाकर समुद्रशिखर के लिए चल पड़ा। राजा विजय ने भी विवाह की भव्य तैयारी प्रारंभ कर दी, लेकिन पद्मावती का मन पृथ्वीराज के लिए व्याकुल था। उसने शुक को एक पत्र देकर पृथ्वीराज के लिए संदेशा भेजा कि वह रुक्मिणी की तरह उसका हरण कर ले। वह नगर के शिवमंदिर में प्रात:काल एउसका इंतजार करेगी। पत्र मिलते ही पृथ्वीराज चामुंड राय को दिल्ली की गद्दी सौंप कर समुद्रशिखर के लिए निकल पड़ा। कुमोदमणि के पहुंचने के साथ ही चौहान भी गुप्त रूप से वहां पहुंच गया, लेकिन इस बात की खबर गोरी को हो गई और वह चौहान के लौटने का इंतजार करने लगा। जब सारा नगर विवाह की तैयारियों में मगन था, तभी शुक ने पृथ्वीराज के आगमन की सूचना पद्मावती को दी। पद्मावती सोलह शृंगार कर मंदिर को निकल पड़ी। पृथ्वीराज उसे घोड़े पर बैठाकर प्रस्थान कर गया। इसकी खबर मिलते ही राजा विजय और कुमोदमणि दोनों चौहान के पीछे लग गए। उनके बीच भयंकर युद्ध हुआ जिसमें कुमोदमणि के सारे योद्धा मारे गए। इसी समय घात लगाकर बैठे गोरी ने पृथ्वीराज की सेना पर आक्रमण कर दिया। भयंकर युद्द हुआ। आरंभ में चौहान कमजोर पड़ रहा था। खुद की पराजय देख पृथ्वीराज क्रोधित हो गया और गोरी की हाथियों की सेना पर टूट पड़ा। उसने अपनी तलवार से हाथियों के सिर फ़ाड़ दिए। हाथी भागने लगे और अपनी ही सेना को कुचल दिए। मौका देख पृथ्वीराज ने गोरी को कैद कर लिया। पृथ्वीराज पद्मावती को लेकर दिल्ली पहुंचा और घूमधाम से विवाह किया। उसने आठ हजार घोड़े लेकर गोरी को भी मुक्त कर दिया।

'पद्मावती समय' का कथानक कृत्रिम रूप से निर्मित हुआ है। इससे 'पृथ्वीराज रासो' के कथा-प्रवाह में किसी तरह की मदद नहीं मिलती है। यह पूरा प्रसंग भारतीय साहित्य परंपरा में स्थापित कथानक-रुढ़ियों के पालन हेतु रचा गया है। शुक के माध्यम से प्रेम का वहन, श्रवणजन्य अनुराग,

शिव मंदिर में मुलाकात, कन्या हरण, युद्ध जैसी स्थापित कथानक रुढ़ियों का कृत्रिम तरीके से इस प्रसंग में अवतरण किया गया है। कथा का प्रत्येक मोड़ पूर्व अनुमानित है। इसमें किसी प्रकार की नवीनता नहीं है। युद्ध-वर्णन के आयोजन और पृथ्वीराज की वीरता के प्रदर्शन के लिए बगैर किसी कारण के गोरी को अनावश्यक रूप से इस प्रसंग में लाया गया है। इसके कथानक का सौंदर्य वर्णनों में है, घटना-प्रसंगों में नहीं। पात्रों के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास नहीं हुआ है। पद्मावती एक आम स्त्री की तरह प्रकट होती है और लुप्त हो जाती है। उसका नखशिख वर्णन उसके रूप के वैशिष्ट्य को रेखांकित नहीं कर पाता है। जिस प्रकार 'कयमास वध' में पृथ्वीराज का अंतर्द्वंद्व उभर कर आता है, वैसा कोई भी दृश्य इस समय में नहीं है। गोरी, कुमोदमणि और राजा विजयपाल महज युद्ध के लिए परिदृश्य में आते हैं और लुप्त हो जाते हैं। मार्मिक प्रसंगों की पहचान और उसके वर्णन-कौशल में कवि की योग्यता की परीक्षा होती है। ऐसे कुछ प्रसंगों की उद्भावना चंद ने की है। पृथ्वीराज के प्रेम में पड़ी पद्मावती को जब पता चलता है कि उसका विवाह किसी और से तय हो गया है तो वह एक पत्र चौहान को भेजती है जिसमें उसकी व्यग्रता साफ-साफ झलकती है- दिष्षँत दिट्ठिय उच्चरिय वर/ इक पलक्क बिलंब न करिय// अलगारिरयनि दिन पँच मँह/ ज्यौ रुकमिनि कन्हर वरिय// अर्थात जैसे ही मेरा पत्र आपको मिले एक पल विलम्ब किए बिना मेरे पास आइए और उसी प्रकार मेरा हरण कीजिए जिस प्रकार कृष्ण ने रुक्मिणी का किया था।

चंदवरदाई अपने वस्तु-वर्णनों के लिए ख्यात हैं। 'पद्मावती समय' में दुर्ग-वर्णन, नगर-वर्णन, युद्ध-वर्णन, विवाह-वर्णन में कवि का यह कौशल निखर कर आता है। इस समय का आरंभ ही राजा विजयपाल के समुद्रशिषर दुर्ग के वर्णन से होता है। दुर्ग के वैभव द्वारा राजा के ऐश्वर्य के उद्घाटित करना कवि का लक्ष्य है। वह कहता है कि राजा के दुर्ग में पाँच सुरों का वाद्ययंत्र चारो प्रहर बजता रहता है। सोने और रत्नों से सुसज्जित साज और जीन वाले दस हजार घोड़े उसके पास हैं- धुनि निसान बहु साद नाद सुर बजत पंच दिन/ दस हजार हय चढ़त हेम नग जटित साज तिन॥ उसके पास अगणित हाथी और तीन शंख पैदल सैनिक हैं। विवाह के विविध प्रसंगों का वर्णन भी कवि ने मन से किया है। इसमें भारतीय विवाह-पद्धति की विशिष्टता निखर कर आती है। पुरोहित जब

कुमोदमणि को पद्मावती के लिए उपयुक्त वर के रूप में स्वीकार कर लेता है तब तमाम विधि-विधान से उसकी आरती उतारता है- नारिकेल फल परठि दुज/ चौक पूरि मन मुत्ति// दई जु कन्या वचन वर/ अति अनंदकरि जुत्ति// कुमोदमणि के बारात का भी बहुत ही यथार्थ वर्णन चंद ने किया है। दस हजार बारातियों के साथ पाँच सौ मदमस्त हाथी ऐसे चले जैसे काले पहाड़ पर सफेद बगुले की पंक्ति उड़ रही हो। इसी तरह पृथ्वीराज के साथ पद्मावती के विवाह के वर्णन में भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल स्वरूप छन कर आता है। उसके लिए बाँस का मंडप बनाया गया। ब्राह्मण वेद का पाठ कर रहे हैं। होम के लिए वेदी बनाई गई है- हर बाँसह मंडप बनाय करि भाँवरि गंठिय/ ब्रह्म वेद उच्चरहि होम चौरी जु प्रत्ति वर// इसी प्रकार पृथ्वीराज, कुमोदमणि और गोरी की सेना के एक-एक पक्ष का वर्णन कवि ने किया है। गोरी की सेना का वर्णन करते हुए चंद ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। गोरी की सेना में खुरासन, मुल्तान, गांधार आदि देशों के सैनिक हैं जो अचूक अस्त्र चलाते हैं। उनकी आँखें बिल्ली की तरह है और मुख सियार और लोमड़ी के समान है- मजारी चषी, मुष्ष जंबुक्क लारी/ हजारी हजारी हँकैं जोध भारी// इन वर्णनों में चंद की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का अनुमान होता है। जीवन और जगत की बहुत ही गहरी जानकारी चंद को थी।

'पृथ्वीराज रासो' वीरगाथाकाव्य है, इसलिए इसमें वीर रस की प्रधानता है। 'पद्मावती समय' में पृथ्वीराज चौहान एक साथ तीन राजाओं के साथ युद्ध करता है, जिसका बेहद कलात्मक वर्णन चंद ने किया है। इसमें वीर रस के साथ उसके समानधर्मा रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों की भी योजना की गई है। इन रसों के आयोजन में अतिश्योक्ति के साथ ही स्वाभाविक और विश्वसनीय वर्णन भी मिलता है, जो सौंदर्य की उत्पत्ति करता है। वीर रस का कोई भी वर्णन नायक के शौर्य-वर्णन के बिना अधूरा होता है। चंद जब भी वीर रस का आयोजन करने चलता है पृथ्वीराज के शौर्य का वर्णन अवश्य करता है। पृथ्वीराज पद्मावती को लेकर भाग रहा है, विजपाल की सेना उसका पीछा कर रही है। जब उसकी सेना चौहान के करीब पहुंच जाती है और युद्ध अवश्यंभावी हो जाता है तो पृथ्वीराज अपने घोड़े की लगाम मोड़ देता है। जैसे ही वह अपने घोड़े की लगाम

मोड़ता है आकाश में सूर्य रुक जाता है, शेषनाग के मस्तक पर टिकी धरती धँसने लगती है- उलटी जु राज प्रथिराज बाग। थकि सूर गगन धर धसत नाग/ सामंत सूर सब काल रूप। गहि लोह छोह बाहैं सु भूप॥ चंद युद्ध का केवल स्थूल वर्णन ही नहीं करता, वह उस दौरान मानव मन में चल रही हलचलों को भी महसूस करना नहीं भूलता। वह सेना की हलचलों और योद्धाओं की भंगिमाओं का चित्रण कर युद्ध की मनोदशा को चित्रित करता है। जब युद्ध का नगाड़ा बज गया तब कोई हार-जीत की चिंता नहीं करता, उसमें न कोई हारता है, और न ही जीतता है। गोरी और पृथ्वीराज की सेना टकराती है तो योद्धा कट-कट कर गिर रहे हैं, कहीं कबंध, कहीं मस्तक, कहीं हाथ, कहीं पैर और कहीं अंतड़ी बिछी हुई है। वीभत्स रस की योजना करते हुए चंद लिखते हैं- न को हार नह जित्त। रहेइ न रहहिं सूरवर।। / धर उप्पर भर परत। करत अति जुद्ध महाभर॥ / कहौं कमध कहौं मथ्थ। कहौं कर जरन अंतरुरि॥ गोरी की सेना को सामने देख हिन्दुओं के रणवीर पृथ्वीराज उस पर इस प्रकार टूट पड़ता है जैसे हाथियों के झुंड पर सिंह टूटता है। इन पंक्तियों में वीर रस के सिद्धहस्त कवि चंद के कौशल को देख सकते हैं- गही तेग चहुवाँन हिंदवाँन रानं। गजं जूथ परिकोपि केहरि समानं॥ / करे रुंड मुंडं करी कुंभ फारे। बरँ सूर सामंत हुँकि गर्ज मारे।। पद्मावती के हरण के पश्चात विजयपाल के गढ़ में हलचल मच जाती है। सेना युद्द की तैयारी करने लगती है। यहाँ रौद्र रस का बहुत ही सुंदर संयोजन चंद ने किया है- बाजी सुबंब हय गय पलाँन। दौरे सुसज्जि दिस्सह दिसांन।। तुम्ह लेहु लेहु मुख जंपि जोध। हन्नाह सूर सब पहरि क्रोध॥

चंद ने शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों का भी सुंदर चित्रण किया है। 'पद्मावती समय' का आरंभ नायिका के लेकर सुग्गा पृथ्वीराज तक पहुंचता कुमोदमणि बारात लेकर आ गया। यह देखकर पद्मावती का मुख मलिन हो गया। उस पर विरह की रेखाएँ तैरने लगीं। वियोग में डूबी नायिका का चित्र खींचते हुए चंद लिखता है- बिलखि अवास कूँवरि बदन मनौ राहु छाया सुरत॥ / झंकति गवष्षि पल पल पुलकि दिषति पंथ दिल्ली सुपति॥ चंद ने संयोग और वियोग शृंगार के साथ वीर रस का भी अद्भुत संयोजन कई स्थलों पर किया है।

'पद्मावती समय' एक छोटा समय है, लेकिन इसमें दूहा, कवित्त, गाथा, पद्धरी, भुजंगी आदि छंदों का प्रयोग मिलता है। दूहा और कवित्त चंद का प्रिय छंद है। वीर रस के संयोजन में ये छंद काफ़ी सहायक हैं। चंद ने युद्ध वर्णनों में प्राय: कवित्त छंदों का प्रयोग किया है। उन्होंने अधिकांशत: वीर रस के लिए कवित्त, वीभत्स के लिए भुजंगी, श्रृंगार के लिए दूहा छंद का उपयोग किया है। इन प्रयोगों से यह अनुमान होता है कि चंद को छंदों का गहरा ज्ञान था। उन्होंने भारतीय परंपरा में रचे जा रहे कई छंदों को नवजीवन दिया और उनके द्वारा बहुप्रयुक्त दूहा, कवित और सवैया जैसे छंद ही आगे चलकर हिन्दी के प्रधान छंद के रूप में स्थापित हुए। चंद अलंकारों के प्रयोग में भी सिद्धहस्त हैं। वीर रस के वर्णन में अतिश्योक्ति का जैसा प्रयोग चंद ने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है। यह पंक्ति देखिए- कम्माँन बाँन छुट्टहिं अपार। लागंत लोह इमि सार धार॥ / घमसाँन घान सब बीर षेत। घन स्रोन बहत अरु रकत रेत॥ चंद को उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और उपमा भी बहुत प्रिय है। अनुप्रास के द्वारा नाद-सौंदर्य और उपमा-उत्प्रेक्षा के द्वारा बिम्ब-निर्माण में चंद ने अपार सफ़लता प्राप्त की है। इस संदर्भ में भमर भवहिं भुल्लहि सुभाव। मकरंद वास रस। में अनुप्रास, मनहुँ काम कामिनि रचिय। रचिय रूप की रास में उत्प्रेक्षा और सहस किरन झलहल कमल। रति समीप वर विंद। में उपमा अलंकार का प्रयोग विचारणीय है। इसके अतिरिक्त प्रतीप, भ्रांतिमान, रूपक, दृष्टांत आदि अलंकारों का सफ़ल प्रयोग भी कवि ने किया है।

चंद भाषा प्रयोग में भी बहुत कुशल हैं। शास्त्रीय भाषा और लोक-भाषा का सुंदर समन्वय इस महाकाव्य में हुआ है। इसकी भाषा भावानुकूल है। वीरता के प्रसंग में महाप्राण ध्वनियों का संयोजन किया गया है तो शृंगार के प्रसंग में अल्पप्राण वर्णों का। भाषा में प्रवाह की वजह से ही यह रचना सैकड़ों वर्षों तक लोक कंठ में विराजमान रही। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 'पद्मावती समय' चंद के महाकाव्य के सौंदर्य में अभिवृद्धि करने में समर्थ है। यह उनकी प्रतिष्ठा के अनुकूल है।

32.3 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का असली नाम अबुल हसन यमीनुद्दीन महमूद था। बाद में उन्होंने अपना उपनाम 'खुसरो' रखा। जलालुद्दीन खिलजी ने उन्हें 'अमीर' का खिताब दिया था। इन्हीं दोनों के मेल से वे अमीर खुसरो के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनका जन्म 1253 ई. में उत्तर प्रदेश के एटा जिले के एक कस्बे पटियाली में हुआ था। कुछ विद्वान इनका जन्म स्थान दिल्ली तो कुछ काबुल से पाँच मील दूर गोरवंद भी बताते हैं। खुसरो के पिता अमीर सैफ़ुद्दीन महमूद मध्य एशिया के लाचीन कबीले के सरदार थे। चंगेज खाँ के आक्रमणों से तंग आकर वे दिल्ली सल्तनत के सुल्तान अल्तमश के जमाने में दिल्ली आए और उसके कृपा पात्र बन गए। खुसरो की माता माया देवी उर्फ़ दौलत नाज या सय्यद मुबारक बेगम अमीर एमादुलमुल्क रावत की बेटी थीं, जो थोड़े ही वर्ष पहले इस्लाम में धर्मांतरित हुए थे। इस वजह से माया देवी के भीतर हिंदू संस्कार बचे हुए थे। अमीर खुसरो पर इसका गहरा असर हुआ। दस-बारह वर्ष के उम्र से ही खुसरो शेर लिखने लगे थे। उनके पहले काव्य गुरु दासख्वाजा शमसुद्दीन ख्वारज्मी थे। खुसरो की आवाज बहुत ही मधुर थी, इसलिए वे अपनी गजलों और नज्मों के पाठ से दर्शकों का मन मोह लेते थे। खुसरो की मां और पिता दिनों का परिवार चिश्ती संप्रदाय के प्रसिद्ध पीर हजरत निजामुद्दीन औलिया का अनुयायी था। इस वजह से कम उम्र में ही खुसरो ने उन्हें अपना गुरु मान लिया। खुसरो का विवाह सिल्विया से हुआ था, जिससे उसे चार बेटे और दो बेटियाँ थीं।

अमीर खुसरो जीविकोपार्जन हेतु दिल्ली के कई दरबारों में रहे। कहते हैं कि उसने लगभग साठ राजाओं और सामंतों के साथ काम किया। उसका पहला प्रशंसक बलबन का भतीजा अलाउद्दीन विशलू खाँ बारबक था। इसके बाद उसने बलबन के बेटे नासिरूद्दीन बुगरा खाँ की खिदमत की, जिसने उसे विशेष आत्मीयता देते हुए 'बुलबुले हजार दास्तान' की उपाधि दी। बुगरा खाँ के बंगाल चले जाने के बाद खुसरो ने बलबन के बड़े बेटे नासिरुद्दीन मुहम्मद कान का दामन पकड़ा और उसके साथ मुल्तान चला गया। यहाँ वह लगभग पाँच वर्षों तक रहा और इस दौरान उसने इस

प्रदेश की भाषा और साहित्य के साथ गहरा नाता स्थापित किया। 1286 ई. में हातिम खान के साथ वह अवध में दो साल रहा। 1288 ई. में वह दिल्ली आया और जीवन के अंतिम दिन तक यहीं रहा। इस दौरान वह कैकुवाद, जलालुद्दीन फ़िरोजशाह खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी, कुतबुद्दीन मुबारक शाह और गयासुद्दीन तुगलक जैसे अनेक वादशाहों और राजवंशों की सेवा की और उनकी तारीफ़ में कसीदे पढ़े। 1325 ई. में खुसरो गयासुद्दीन तुगलक के साथ बंगाल के अभियान पर निकला। तुगलक को निजामुद्दीन औलिया पसंद नहीं थे। उसने उन्हें बंगाल के अभियान से लौटने के पहले तक दिल्ली छोड़ देने का आदेश दिया। बंगाल के अभियान के दौरान तुगलक की मौत हो गई और इधर दिल्ली में औलिया ने भी अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। दिल्ली लौटने के बाद जब अमीर खुसरो को निजामुद्दीन के मौत की खबर मिली तो वह पागल हो गया। उसने अपनी सारी संपत्ति गरीबों को दान दे दी और गुरु की मजार पर काले कपड़े पहनकर बैठ गया। औलिया के देहांत के कुल छह माह बाद अमीर खुसरो ने भी देह त्याग दिया। वसीयत के अनुसार उसे गुरु के चरणों की ओर उसी कब्रिस्तान में दफ़न कर दिया गया।

2.3.1 पाठ्यांश : अमीर खुसरो

अमीर खुसरो की कव्वाली:-

'कव्वाली' शब्द की व्युत्पत्ति फ़ारसी भाषा के 'कौल' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है-कहना या प्रशंसा करना। सूफ़ी साधकों ने ईश्वर के सौंदर्य की प्रशंसा में भावोन्माद में जिन गीतों को गाया उसी से कव्वाली का जन्म हुआ। अमीर खुसरो ने इस विधा को काफ़ी ऊंचाई प्रदान की। कुछ विद्वान कव्वाली के विन्यास का श्रेय अमीर खुसरो को ही देते हैं। उनकी कुछ ही कव्वालियाँ मिलती हैं और उनमें भी कई की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया गया है। भोलानाथ तिवारी का कहना है "क़व्वाल लोग आज बहुत सी ऐसी क़व्वालियाँ गाते हैं जो अमीर ख़ुसरो की कही जाती हैं। इनमें कुछ में ख़ुसरो का नाम स्पष्ट हैं, कुछ में अस्पष्ट है तथा कुछ में नहीं है। यह कहना कठिन है कि इनमें कौन-कौन सी उनकी है और कौन-कौन सी उनकी नहीं है। कुछ क़व्वालों ने मुझे यह भी बताया कि ख़ुसरो का नाम चिपका कर दूसरों की क़व्वालियाँ भी उनकी बना कर कुछ क़व्वाल गाते हैं। इस तरह उनकी क़व्वालियों की प्रामाणिकता काफी संदिग्ध है।" फ़िर भी खुसरो की कुछ कव्वालियाँ

बेहद प्रसिद्ध और प्रामाणिक हैं, जिनमें से यह कव्वाली भी है। उनकी कवालियों में लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत का सुंदर समन्वय हुआ है।

छापातिलक तज दीन्ही रे -, तो से नैना मिला के।

प्रेम बटी का मदवा पिलाके

मतवारी कर दीन्ही रे, मो से नैना मिला के ।

'खुसरो' निज़ाम पै बलिबलि जाइए-,

मोहे सुहागन कीन्ही रे, मोसे नैना मिला के।

संदर्भ -प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी और उर्दू के दोआब के कवि अमीर खुसरो की हैं। यह उनकी एक कव्वाली है, जो बहुत ही लोकप्रिय है। इस कव्वाली के चलते ही कव्वाल लोग अमीर खुसरो को अपने गुरु की तरह पूजते हैं। अमीर खुसरो हजरत निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। यह कव्वाली उनकी तारीफ़ में गाया गया है।

प्रसंगई प्रभाव का इसमें गुरु की महानता और खुसरो के जीवन पर पड़ने वाले उनके करिश्मा - वर्णन है।खुसरो औलिया के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हैं।

व्याख्या -उपर्युक्त पंक्तियों में खुसरो कहते हैं कि गुरु निजामुद्दीन औलिया से नैन मिलाकार अर्थात उनसे ज्ञान प्राप्त कर या उनके प्रभाव में आकर मैंने प्रत्येक प्रकार की छाप यानी पहचान और तिलक यानी कर्मकांड को त्याग दिया है। मेरे गुरु ने मुझे प्रेम की भट्टी में बनी ज्ञान रूपी शराब पिलाई है, यह शराब पीकर मैं मतवाला हो गया हूँ अर्थात आनंद में डूब गया हूँ। कहने का तात्पर्य यह कि गुरु के ज्ञान से प्राप्त दृष्टि ने सांसारिकता के पाखंड को उजागर कर दिया है, और मैंने उसके बंधनों को तोड़ दिया है, जिससे दुनिया मुझे पागल कहती है, पर मैं ईश्वर के संग के आनन्द में डूबा हुआ हूं। प्रेम के मद में डूब कर मीरा, कबीर, जायसी सभी मतवाले हुए हैं। निजामुद्दीन औलिया के इस उपकार के कारण मैं खुद को उन पर बारवर करता हूँबार न्यौछा-, उन्होंने मुझे अपने दिव्यज्ञान द्वारा अल्लाह का साक्षात्कार करा कर सुहागन यानी सौभाग्यशाली बना दिया है। यह

मेरा सौभाग्य ही है कि औलिया से नैन मिलने अर्थात ज्ञान प्राप्त करने की वजह से आज मैं तमाम तरह की सांसारिक बाधाओं से मुक्त हो गया हूँ।

विशेष -

- इस कव्वाली के पहली पंक्ति और भावार्थ को लेकर पर्याप्त विवाद हुआ है। कुछ विचारकों का मानना है कि इसमें खुसरो ने औलिया के प्रभाव में छापतिलक को त्यागकर इस्लाम को -तिलक लगाने की परंपरा भारत के अनेक -स्वीकार करने की महत्ता स्थापित की है। छाप यों मसनातनी संप्रदाेंं रही है।
- उर्दू के विद्वान मानते हैं कि इस कव्वाली में 'छाप' से तात्पर्य राजसी पहचान और उससे जुड़े अहंकार से है। खुसरो कई दरबारों में रहे और अनेक राजाओं का यशोगान किया। औलिया के प्रभाव में वे ईश्वर की ओर उन्मुख हुए। उपर्युक्त पंक्तियों में छाप को छोड़ना मतलब, राजसी गुलामी और पद के अहंकार को त्यागना है। फिर भी 'तिलक' को त्यागने का संबंध हिन्दू कर्मकांडों से बना रह ही जाता है। यह बात दूसरी है कि कव्वाली की अन्य पंक्तियों से धर्मांतरण की ध्वनि नहीं आती।
- इस्लाम में शराब हराम है। उसको पीने ही नहीं, देखने पर भी मनाही। दूसरी पंक्ति में खुसरो कहते हैं कि प्रेम की भट्टी में बनी शराब पिलाकर औलिया ने मुझे मतवाला बना दिया है। एक तरह से यह इस्लाम की स्थापित मान्यता का विरोध भी है।
- यह कव्वाली औलिया के साथ खुसरो के लगाव को दर्शाता है। दोनों का रिश्ता इतना मजबूत था कि औलिया ने एक समय कहा था कि यदि इस्लाम इसकी इजाजत देता तो मैं एक ही कब्र में खुसरो के साथ दफ़न होना कबूल करता। औलिया की मौत के कुछ ही दिनों बाद खुसरो की भी मौत हो गई थी और खुसरो की इच्छा के अनुरूप औलिया की कब्र की पैर की ओर खुसरो को दफ़न किया गया।
- प्रेम में मतवाला होने के कई मोहक चित्र मीरा की कविता में मिलते हैं -*अपने घर को परदा कर लो, मैं अबला बौरानी।*

अमीर खुसरो के दोहे-:

अमीर खुसरो अपने दोहों के लिए ख्यात हैं। उन्होंने लगभग चौबीस दोहों की रचना की है।

1. **गौरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस,**

चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस ।।

संदर्भ -यह अमीर खुसरो का एक प्रसिद्ध दोहा है। इनके दोहे सूफ़ी रंग में रंगे हुए हैं। इसके लौकिक के साथ ही आध्यात्मिक अर्थ भी हैं। खुसरो के दोहे सांकेतिकता के कारण भी काफ़ी प्रसिद्ध और प्रभावी हैं।

प्रसंग -यह दोहा गुरु निजामुद्दीन औलिया की मौत पर लिखा गया था। यह एक तरह का मर्सिया है, जिसमें खुसरो ने अपने दिल के गहरे दर्द को बयान किया है। औलिया की मौत के बाद जीवन की निस्सारता की व्यंजना इस दोहे में है।

व्याख्या -निजामुद्दीन औलिया की मौत के बाद उनके शव को देखकर खुसरो के मन में वैराग्य पैदा हो गया है। अपने मनोभावों को काव्यात्मक तरीके से प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं कि मैंने गोरी रूपी आत्मा को सेज पर सोया हुआ देखा, वह अपने मुख पर अपने केश डाले हुए थी। केश के भीतर छुपा उसका चेहरा दिखाई नहीं पड़ रहा था। यह प्रियतमा के विदा होने का संकेत था अर्थात औलिया के नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने की सूचना थी। इसके बाद इस संसार में बने रहने की कोई वजह नहीं रह गई, इसलिए दूसरी पंक्ति में खुसरो कहते हैं कि जब गोरी ने मुख पर केश डाल दिया तो उससे सारे संसार में रात्रि हो गई है, और यह इस बात का संकेत है कि अब खुसरो को भी अपने घर चलना चाहिए। अर्थात अब खुसरो की आत्मा को भी इस नश्वर संसार से प्रस्थान करना चाहिए।

2. **खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग,**

तन मेरो मन पीउ को दोऊ भए एक रंग ।।

संदर्भ- उपरोक्त

प्रसंग- उपर्युक्त दोहे में आत्मा और परमात्मा के मिलन का वर्णन किया गया है। औलिया के प्रभाव में खुसरो सूफ़ी रंग में रंगे हुए थे। सूफ़ी आत्मा और परमात्मा के मिलन का बहुत ही मादक वर्णन करते थे। वे अद्वैतवाद के प्रभाव में आत्मा और परमात्मा की एकता पर बल देते थे। सूफ़ी परमात्मा की कल्पना अत्यंत सुंदर स्त्री के रूप में करते थे।

व्याख्या- खुसरो कहते हैं कि प्रियतम के साथ मिलन की सौभाग्यशाली रात्रि को मैं पूरी तरह से जगी रही। वह भी मेरे साथ जगता रहा। चिर विरह के बाद हुए इस मिलन में भला नींद कैसे आ सकती थी। उस रात्रि को मेरा तन प्रियतम के मन के साथ मिलकर एक ही रंग में रंग गया अर्थात दोनों का अलगाव समाप्त हो गया, वे एक हो गए। इस पंक्ति का मूल संदर्भ आध्यात्मिक है। लौकिक स्तर पर यह किसी प्रेमी और प्रेमिका के मिलन का अर्थ देता है, लेकिन आध्यात्मिक धरातल पर यह परमात्मा और जीवात्मा के मिलन की व्यंजना करता है। जीवात्मा परमात्मा के साथ मिलकर पूर्ण आनन्द की स्थिति को प्राप्त करती है। सांसारिक मोह के कारण निरंतर सोने या ईश्वर विमुख होने की स्थिति समाप्त हो गई है। परमात्मा से मिलन के बाद वह जाग्रत अवस्था को प्राप्त हो गई है। इस मिलन ने जीवात्मा और परमात्मा के अलगाव को समाप्त कर दिया है, और जीवात्मा का तन परमात्मा के मन के साथ मिलकर एक हो गया है।

3. **देख मैं अपने हाल को रोऊं, ज़ार ज़ार ।-ओ-**

वै गुनवन्ता बहुत है, हम हैं औगुन हार ।।

सन्दर्भ- उपरोक्त :

प्रसंग -उपर्युक्त पंक्तियों में खुसरो ईश्वर के समक्ष अपनी अक्षमता को प्रकट कर रहे हैं। भक्तिकाल के अनेक कवियों ने ईश्वर के समक्ष अपनी हीनता को प्रकट कर अहं का विलयन किया है। भगवान की भक्ति के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि आप ईश्वर के समक्ष प्रत्येक प्रकार के सांसारिक अहंकार का त्याग करें।

व्याख्या -खुसरो कहते हैं कि अपनी स्थिति को देख कर मैं जारफूट कर रो रहा हूँ। -जार अर्थात फूट-रिकता के प्रभाव में मैंने अपना कैसा हाल बना लिया है। मैं तमाम तरह के अवगुणों से भर सांसा गया हूँ। ईश्वर को प्राप्त करने के प्रयास के दौरान आज मुझे अहसास हो रहा है कि वह परमात्मा गुणों की खान है, और मेरे भीतर अवगुणों की माला पिरोई हुई है। अब भला मुझ अवगुणों की खान को वह परमात्मा क्यों स्वीकार करेगा। इसलिए आज मैं फूट फूट कर रो रहा हूँ।-

4. **चकवा चकवी दो जने उनको मारे न कोय ।**
   ईह मारे करतार कै रैन बिछोही होय ।।

सन्दर्भ उपरोक्त :-

प्रसंग -इस दोहे में चकवाके माध्यम से आत्मा चकवी पक्षी के रात्रिकालीन वियोग की जनश्रुति- और परमात्मा की अलगाव की व्यंजना की गई है।

व्याख्या -इस संसार में उपस्थित चकवा और चकवी की जो जोड़ी है, उसको कोई और न मारे, क्योंकि इनको तो पहले से ही करतार अर्थात ईश्वर ने मार रखा है। ईश्वर की मार ही है कि वे दोनों दिन में साथ रहते हैं लेकिन रात्रि में अलग हो जात हैं। चकवाचकवी की तरह ही जीवात्मा और - परमात्मा की जोड़ी है। जीवात्मा कभी परमात्मा के साथ थी, लेकिन अब वह उससे अलग है। यह अलगाव ही इतनी पीड़ादायक है कि जीवात्मा को किसी और चोट की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए ईश्वर के वियोग में पीड़ित जीव को किसी अन्य सांसारिक अत्याचार का शिकार नहीं बनाना चाहिए।

5. **सेज सूनी देख के रोजं दिन रैन ।-**
   पिया पिया कहती मैं पल भर सुख न चैन ।।

सन्दर्भ उपरोक्त :

प्रसंग- गुरु निजामुद्दीन औलिया की मौत के समय खुसरो दिल्ली से बाहर थे। जब लौट कर आए तो औलिया मर चुके थे। उनकी सूनी सेज को देखकर उन्होंने इस दोहे की रचना की। इस दोहे का एक अर्थ तो लौकिक है और दूसरा अलौकिक।

व्याख्या -इस दोहे में अमीर खुसरो औलिया की सूनी सेज देखकर कहते हैं कि रोज दिनरात उनकी -सूनी सेज देखकर मैं वियोग में पियाविरह में मैं इस कदर बेचैन हूँ कि मुझे पिया कहती हूँ। उनके-चैन नहीं है। इस दोहे का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जीवात्मा परमात्मा -पल भर के लिए भी सुख से जुदा होकर दिन रात बेचैन है, उसे एक पल का भी सुख नहीं है। परमात्मा से मिले बिना उसे शांति नहीं मिलने वाली है।

2.3.2 अमीर खुसरो का साहित्यिक परिचय -

अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य को 'अमीर' बनाने वाले अमीर खुसरो को खड़ी बोली का आदि कवि भी कहा जाता है। श्यामसुंदर दास ने लिखा है " -*अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि कवि ही नहीं हैं, वरन उन्होंने हिन्दी तथा फ़ारसीआदान प्रदान मे भी अरबी में परस्पर-भरसक सहायता पहुंचाई है।*"हिन्दी के वर्तमान स्वरुप का सूत्रपात करने का श्रेय भी खुसरो को दिया जाता है। हिन्दी भाषा के लिए प्रयुक्त हिंदी शब्द अमीर खुसरो द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दवी' के नज़दीक है।

खुसरो का अधिकांश प्राप्य लिखित साहित्य फ़ारसी में है। ये फारसी के विद्वान और ख्यातिप्राप्त साहित्यकार थे, फिर भी उन्हें 'हिन्दवी' बोलने पर नाज़ था। उन्होंने अपनी फारसी पुस्तक 'गुर्रतुल-कमाल-उल' की भूमिका में लिखा-*"चूं मन तूती ए हिन्दम, अज़ रासत पुर्सी ज़मन .हिन्दवी पुर्स, ता नग्ज गोयम."* अर्थात यदि सही पूछो तो मैं हिन्दुस्तान का तोता हूँ। यदि तुम मुझसे मीठी बातें करना चाहते हो तो हिन्दवी में बातें करो। खुसरो ने 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया हैहिन्दुस्तान से संबंधित सभी भाषाओं के लिए -, संस्कृत के लिए और खड़ी बोली अथवा हिन्दी या

उर्दू के लिए। आगे चलकर 'हिन्दवी' शब्द खड़ी बोली हिन्दी के लिए रूढ़ हो गया। 'गर्रतुलकमाल' की भूमिका में खुसरो ने लिखा है कि 'मैंने हिन्दवी में लिखे अपने कुछ नज्म व नस्त्र के अंश मित्रों में बाँट दिए।' उर्दू के विद्वानों ने इसका सामान्य अर्थ यह निकाला कि खुसरो को ये नज्म कुछ खास महत्व के नहीं लगे इसलिए उन्होंने उसे मित्रों में बाँट दिया। इसका यह भी संकेत निकाला गया कि 'हिन्दवी' में लिखी उनकी रचनाएँ बहुत कम थीं। इस कारण से ही उर्दू के विद्वानों ने 'हिन्दवी' की उनकी रचनाओं को न तो खोजा, और न ही सहेजा। लेकिन इसी भूमिका में एक जगह उन्होंने लिखा है कि 'मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ और हिन्दवी में जवाब देता हूँ।' यह 'हिन्दवी' के प्रति उनका लगाव दर्शाता है। सच तो यह है कि आज हिन्दुस्तान में अमीर खुसरो की लोकप्रियता और पहचान 'हिन्दवी' में लिखी उन रचनाओं की वजह से ही है, जिसमें हिन्दुस्तान की माटी की सुगन्ध है। यह अनायास नहीं है कि खुसरो बार बार अपनी पहचान हिन्दुस्तान और उसकी भाषा-'हिन्दवी' के द्वारा स्थापित करना चाहते हैं। हिन्दी की दुनिया ने भी उन्हें पर्याप्त सम्मान दिया। हरिऔध उन्हें तेरहवीं सदी के सर्वप्रधान हिन्दी कवि के रूप में याद करते हैं, तो रामनरेश त्रिपाठी उन्हें हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं। रामकुमार वर्मा का तो मानना है कि ' खुसरो ने हिन्दी साहित्य के एक युग परिवर्तनकारी कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है।'

विविध विधाओं का सूत्रपात कर अमीर खुसरो ने हिन्दी को समृद्ध किया। हिन्दी भाषा में दोहा, ग़ज़ल और कव्वाली के लेखन की शुरुआत इन्हीं से मानी जाती है। अमीर खुसरो की ये रचनाएँ श्रुति परम्परा में ही सुरक्षित रह सकीं। अतः अमीर खुसरो की उपलब्ध हिन्दी रचनाओं के बहुत से हिस्से को कई विद्वान् प्रक्षिप्त बताते हैं। उनकी रचनाएँ जनता के बीच रहीं और जनता ने अपने भावों और भाषा को उनमें घुलामिला दिया। इस वजह से उनके शुद्ध रूप की पहचान कर पाना - बहुत कठिन काम है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं, *"आदिकाल की विचारणीय सामग्री के रूप में एक महत्वपूर्ण तत्व है अमीर खुसरो के हिन्दी कृतित्व का। पर यह*

सामग्री भाषा और संवेदना की दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण है पाठ की प्रमाणिकता की दृष्टि से उतनी ही संदिग्ध।"

खुसरो के फ़ारसी साहित्य का लिखित रूप संरक्षित रहा क्योंकि उसको सत्ता और धर्म का संरक्षण प्राप्त था। हिन्दी को यह लाभ प्राप्त नहीं था इसलिए वह अपने मूल रूप को सुरक्षित नहीं रह सकी। सत्ता की पसंद की भाषा न होकर भी अमीर खुसरो की हिन्दी रचनायें आम लोगों के हृदय में जीवित रहीं। उन्होंने लोकजीवन के मूल से अपनी रचनाओं की सामग्री ली, इसलिए लोक-खुसरो को संजोया परम्परा ने, सींचा और गुनगुनाया। खुसरो का हिन्दी रचनासंसार इसी लोक - की धरोहर है। उन्होंने लोकगीतों में विभिन्न ऋतुओं के गीत गाये। भारतीय उत्सव, त्यौहार, शादी-ब्याह, आस्था आदि विषयों पर रचनाएँ की।

अमीर खुसरो की रचनाओं की संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है, पर इतना तय है कि उन्होंने दीर्घकालीन साहित्यिक सक्रियता के दौरान बहुत बड़ी मात्रा में साहित्य लेखन किया। खुसरो का समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी उनके साहित्य की विशालता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि इनकी रचनाओं की संख्या इतनी ज्यादा है कि उससे पूरा एक पुस्तकालय भर सकता है। वह उसकी प्रतिभा के विषय में लिखता है, " *खुसरो ने जैसा जीवन जिया, जैसी प्रसिद्धि और सम्मान अपने जीवन काल में पाया और जैसी बहुआयामी प्रतिभा का प्रस्फुटन उनको नसीब हुआ, वो अब तक के इतिहास में किसी को नसीब नहीं हुआ और न होगा।*" जामी ने इनकी रचनाओं की संख्या 99, अमीर राजी ने 199 और दुनिया भर के पुस्तकालयों की खाक झानकर नवाब अस्लहक खाँ ने कुल 45 रचनाओं का उल्लेख किया है। खुसरो की कुछ रचनाओं का नाम भर मिलता है, तो कुछ महज संकलन मात्र हैं। खुसरों ने गद्य और पद्य दोनों में लेखनी चलायी है। आइए अब हम खुसरो की उपलब्ध रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करते हैं -

क. मसनवियां फारसी रचनाएं- फ़ारसी भाषा में लिखे साहित्य की वजह से अमीर खुसरो विश्वकवि के रूप में स्थापित हैं। इस भाषा में उन्होंने जितनी मात्रा, व्यापकता और वैविध्य

के साथ लिखा, वह उन्हें इस भाषा का श्रेष्ठतम कवि सिद्ध करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता। मिर्जा गालिब, मीर और इकबाल जैसे उर्दू के कवियों ने खुसरो को बहुत ही सम्मान के साथ याद किया है। गालिब ने तो लिखा है- "गालिब मेरे कलाम में क्योंकर मजा न हो/ पीता हूं धोके खुसरूए शीरीं सुखन के पांव। " आइए अब हम खुसरो के फ़ारसी साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करते हैं-

ख. क. **काव्य संग्रह (दीवान)-**

ग. फारसी दीवान- 1. तोहफ्तुस्सिगर, 2. वसतुल हयात, 3. गुर्रतुल कमाल, 4. बकिया नकिया और 5. निहायतुल कमाल.

घ. 1. **तो हफ्तुस्सिग़र** - यह खुसरो का पहला दीवान है। उसने इसकी भूमिका भी लिखी है। यह बहुत ही कम्र उम्र में लिखा गया था इसीलिए इसके नाम का अर्थ है छोटी उम्र का तोहफ़ा। इसमें कुल 45 कसीदे, 5 तरजीबंद, कुछ कतए, एक मसनवी और दो मर्सिये शामिल हैं।

ङ. 2. **वस्तुल हयात** – 8441 छंदों वाली इस पुस्तक में हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया, कशली खाँ, बलबन, कैकुबाद, बुग़रा खाँ और जलालुद्दीन खिल्जी आदि की प्रशंसा में लिखे गए कुल 58 कसीदे हैं।

च. 3. **गुर्त्तुल कमाल** – इस ग्रन्थ में मसनवियां, रूबाइयां, गजलें, मर्सिये और कसीदें आदि हैं। इस ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है कि इसमें अमीर खुसरो ने स्वयं के विषय में ही कई बातें कही हैं साथ ही यह साहित्यिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है कि इसमें उन्होंने काव्य और उसके छंदों, अच्छी कविता के लक्षण और भारतीय कवियों के विषय में चर्चा की है।

छ. 4. **बकिया नकिया** - इसका अर्थ है 'बाकी साफ' । इसमें कसीदे, गज़ले, मसनवियां और रूबाइयां आदि संग्रहीत हैं।

ज. 5. **निहायतुल कमाल** – इसमें मुख्यतः ग़जलें संग्रहीत हैं। इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता खुसरो की भाषाई सामासिकता है जहाँ उन्होंने फारसी में हिन्दी की पहेली विधा लिखकर नया प्रयोग किया है।

अमीर खुसरो की चौदह मसनवियां उपलब्ध हैं -1. किरानुस्सादैन, 2. मफ्ताहुल फुतूह, 3. नूह-सिपहर, 4. तुगलकनामा, 5. मतलाउल अनवार, 6. वस्तुलहेवात, 7. शीरी खुसरो, 8. मजनू लैला, 9. आइनेइसकंदरी-, 10. हस्त बहिश्त, 11. खिज्रखाँ व देवलरानी (इश्किया)12. शिकायत नामा मोमिनपुर पटियाली आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इनमें से इनकी मसनवी नूहसिपहर महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें अमीर खुसरो के राष्ट्रप्रेम के दर्शन होते हैं। इसके अलावा इस मसनवी के तीसरे अध्याय में भारत के सम्बन्ध में कई बातें कही गई हैं। तत्कालीन भारत की भाषा, जनस्तक कई रोचक जीवन और संस्कृति के विषय में यह पु- जानकारियाँ उपलब्ध कराती है। इसकी रचना खुसरो ने ढलती उम्र में किया था।

झ. ग़ज़लें -

अमीर खुसरो फ़ारसी के आरंभिक तीन सर्वश्रेष्ठ गजलकारों में शुमार हैं। उनकी श्रेष्ठ गजलकारी के लिए उन्हें 'तूतीहिन्द-ए-' कहा जाता है। भारत की मिट्टी में गजल की खुश्बू बिखेरने का श्रेय भी खुसरो को ही है। कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दी में भी गजलें लिखी हैं, लेकिन उनकी अधिकांश गजलें फ़ारसी में हैं। वे गजलों को लिखने के साथ ही गाते भी थे। उनकी गजलों के मुख्य रूप से दो रंग हैंद -रबारीपन और व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित। खुसरो एक दरबारी कवि थे, इसलिए राजाओं के आस्वादन के लिए उन्होंने कुछ सतही गजलें भी लिखी हैं, लेकिन जो गजलें उनकी आत्मा की आवाज बनकर निकली हैं वह पाठकों को मुग्ध कर देती हैं। संगीत, लय और धुन में लिपटी तथा जीवन के गहन बोध से जन्मी खुसरों की गजलें आधुनिक भावबोध से भरी हुई हैं। प्रेम, विरह, जीवन की विसंगति और उपेक्षा का बोध उनकी गजलों के मूल में है। सूफ़ी तबीयत के कारण प्रेम और जुदाई से

जुड़ी उनकी गजलें आध्यात्मिक अर्थों से भरी हुई हैं। डॉ हामिदुल्ला नदवी ने ठीक ही लिखा है कि, " *विद्वानों ने एक अच्छी गजल की जो विशेषताएँ बताई हैं अथवा समय के साथ-साथ इसमें जिन गुणों का समावेश हो गया, वे सभी विशेषताएँ हमें खुसरो की गजलों में एक साथ मिलती हैं। इनकी गजलों को गजल काव्यक्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाना चाहिए।*" कुल मिलाकर कहा जाए तो खुसरों की गजलों ने एक ऐसी विधा की नींव रखी जिस पर आज भी उर्दू का अधिकांश और हिन्दी का अल्पांश आधारित है।

i) **क. गद्य रचनाएँ**- अरबी-फ़ारसी के साहित्य से प्रभावित होकर खुसरो ने गद्य-लेखन पर भी हाथ आजमाया। गद्य की उनकी कुल तीन रचनाओं का ही पता चलता है, जबकि उन्होंने बड़ी संख्या में गद्य-लेखन किया था। इन रचनाओं में साहित्य-लेखन के वैशिष्ट्य का रेखांकन, समकालीन इतिहास-लेखन और ईश वंदना मिलता है।

1. **एजाजे खुसरवी**- इसमें पूर्ववर्ती गद्य-लेखकों की कमियों को रेखांकित करते हुए साहित्य के प्रेरक तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में खुसरो एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि फ़ारसी गद्य में अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह एक तरह से फ़ारसी को भाषायी शुद्धता के अतिवादी आग्रहों से बचाने का प्रयास था। अलंकारों का सही प्रयोग, काव्य के गुण-दोषों की पहचान, औलिया की वंदना, पत्रों का संकलन एवं ज्योतिष, खगोल, संगीत आदि की विवेचना भी इसमें शामिल है।

2. **ख़जाइनुल फतूह**- अलाउद्दीन खिलजी के समय की घटनाओं पर आधारित यह एक इतिहास-ग्रंथ है, जिसमें अलाउद्दीन की प्रशंसा है। इस रचना में कई स्थलों पर खुसरो का कट्टर चेहरा भी उजागर हुआ है, जहाँ उसने इस्लाम और अलाउद्दीन की प्रशंसा में इस्लामी-कट्टरता और हिन्दू-हिंसा की नीति की खुलकर प्रशंसा की है। सोमनाथ मंदिर पर हुए आक्रमण और वहाँ हुए भारी रक्तपात को वह इस्लाम के विजय के रूप में वर्णित करता है।

लेकिन इसी रचना में वह भारत की भूरी-भूरी प्रशंसा भी करता है। वह अनेक स्थलों पर हिंदुओं और खासकर ब्राह्मणों के त्याग की भी प्रशंसा करता है।

3. **अफजललुलफवायद-** चार भागों में विभाजित इस रचना में हजरत निजामुद्दीन औलिया की वंदना है। इसकी भाषा सरल और सुबोध है।

ii) **हिन्दी रचनाएँ-**

हिन्दी में खुसरो का कोई व्यवस्थित ग्रन्थ परंपरा में उपलब्ध नहीं था। विद्वानों ने इधर-उधर बिखरी उनकी रचनाओं को संग्रहीत किया है। 'नागरी प्रचारणी सभा' वाराणसी से प्रकाशित खुसरो की हिन्दी कविता नामक पुस्तक के अनुसार अमीर खुसरो ने निन्यानवे पुस्तकों की रचना की, जिनमें बाईस उपलब्ध हैं। हिन्दी में खुसरो की तीन रचनाएं मानी जाती हैं, किन्तु इन तीनों में केवल एक 'खालिकबारी' उपलब्ध है। उनकी रचनाओं का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है-

खालिकबारी- यह अरबी, फारसी, और हिन्दी का छंदोबद्ध कोश है। अमीर खुसरो के नाम पर वर्षों से इसका चलन है, वैसे खुसरो द्वारा लिखे जाने को लेकर बहुत भी विवाद है। खुसरो ने इसका लेखन ईरान, तुर्की और अन्य इस्लामिक इलाकों से आने वाले लोगों को भारतीय भाषा, खासकर हिन्दी से परिचित करने के लिए किया था। कुछ विद्वान इसे एक भटीयारी के कहने पर लिखा गया भी मानते हैं। श्यामसुंदर दास का मानना है कि यह रचना हिन्दू और मुसलमानों के बीच परस्पर विचार-विनिमय के उद्देश्य से रची गयी थी। यह कई भागों में लिखी गई थी, जिसका बहुत ही छोटा सा अंश आज उपलब्ध है। अरबी, फ़ारसी और हिन्दी के लगभग बारह सौ शब्दों के पर्यायों को एकत्र कर उसके अर्थ को कविता के माध्यम से प्रस्तुत करने का अभिनव प्रयोग खुसरो ने इस पुस्तक में किया था, जिसकी बाद में एक परंपरा ही चल पड़ी। इसमें लगभग 215 शेर हैं। खड़ी बोली के ऐतिहासिक विकास-क्रम को समझने के लिए यह पुस्तक अनिवार्य है। सफ़दर शाह ने लिखा

है- "ख़ालिक़बारी की विशेषता तो केवल यह है कि वह अपने ढंग की प्रथम पुस्तक है । उस समय हिन्दी फ़ारसी का कोई शब्दकोश नहीं लिखा गया था। इन परिस्थितियों में अत्यंत संक्षिप्त परंतु कवितात्मक शब्दकोश लिख कर अमीर ख़ुसरो ने शब्दकोश लेखन का नेतृत्व किया। प्रथम प्रयास में कमी रह जाना स्वाभाविक है और 'ख़ालिक़बारी' इससे मुक्त नहीं है । यह भी सत्य है कि उसमें काफी चरण जोड़े गये हैं, जिन्हें मुल्लाओं ने जोड़ दिया है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि परिवर्तन एवं संशोधनों के उपरांत भी उस कविता का ढाँचा तथा उसका अधिकतर भाग अब भी अमीर ख़ुसरो का है।"

पहेलियाँ- रोचक तरीके से प्रश्न उपस्थित कर उत्तर खोजने की शैली बूझ-अबूझ पहेली के रूप में प्रचलित है। इन दोनों ही रूपों में खुसरो की पहेलियाँ मिलती हैं। पहेलियाँ लोकजीवन का हिस्सा रही हैं। यह दीर्घकाल से हिन्दी समाज का हिस्सा रही हैं। खुसरो का हिन्दी लेखन लोक जीवन से प्रेरित-प्रभावित और उस पर आधारित भी रहा है, इसलिए उन्होंने बड़ी संख्या में पहेलियों का लेखन-संकलन किया। भोलानाथ तिवारी के अनुसार खुसरो ने कुल 141 पहेलियों का लेखन किया। उनकी पहेलियों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है-

बूझ पहेली – इस तरह की पहेलियों का उत्तर पहेलियों में ही छुपा होता है, इसलिए इसे बूझ पहेली कहते हैं। संस्कृत भाषा में इसे अंतर्लापिका कहते हैं।

बीसों का सर काट लिया
ना मारा ना खून किया।

इस पहेली का उत्तर है-'नाखून'। दूसरी पंक्ति में ना और खून अलग-अलग लिखा हुआ है और उसे कविता में इस तरह पिरोया गया है कि आसानी से उसे पकड़ पाना कठिन है। लेकिन बूझने वाले इसे बूझ जाएंगे। पहली को बूझने अर्थात समझने का सूत्र पहेली के भीतर ही है, इसलिए इसे बूझ पहेली कहते हैं।

अबूझ पहेली – जिन पहेलियों का उत्तर पहेली के बाहर होता है और जिनको खोजना थोड़ा कठिन होता है, उन्हें अबूझ पहेली कहते हैं। संस्कृत में इसे बहिर्लापिका कहते हैं। ये पहेलियां जीवन के गहरे बोध द्वारा रची जाती हैं, इसलिए इसको समझने के लिए जीवन की सूक्ष्म जानकारी जरूरी है।

१. एक नार ने अचरज किया, सांप मार पिंजरे में दिया।

जों जों साँप ताल को खाए, सूखे ताल सांप मर जाए। (दिया बाती)

२. एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।

चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे। (आकाश)

मुकरियाँ- मुकरियों का सामान्य अर्थ है- कहकर मुकर जाना। इसे 'कह मुकरियाँ' भी कहते हैं। इस विधा में नायिका और उसकी सखी का बार्तालाप होता है, जिसमें नायिका कोई बात कहती है और उसकी सखी कहने वाले का नाम साजन बताती है, लेकिन नायिका इससे मुकर कर कुछ और ही जबाब बता देती है.-

राह चलत मोरा अंचरा गहे
मेरी सुने न अपनी कहे
ना कुछ मोसे झगड़ा-टंटा
ए सखी साजन ना सखी कांटा।

मुकरियाँ भी पहेली का ही एक प्रकार है। इसकी पहली तीन पंक्तियाँ पहेली होती है और चौथी पंक्ति में उसका जवाब होता है। इन पहेलियों और मुकरियों का उद्देश्य आम जन को मनोरंजन के साथ ही तार्किक और बौद्धिक बनाना भी रहा है। मुकरियाँ आम तौर पर 'साजन' के गुणों के आसपास ही लिखी जाती हैं, इसलिए इसमें प्रेम भाव की भी उपस्थिति रहती है। इस तरह की मुकरियाँ पहली बार लिखने का श्रेय खुसरो को ही है, जिसकी

परंपरा द्विवेदी युग तक चलती रही। भारतेंदु ने भी मुकरियाँ लिखीं। उनकी मुकरियों का लक्ष्य अंग्रेजी सत्ता होती थी। उन्होंने इस विधा को आधुनिक भावबोध से संपन्न कर दिया। विभिन्न विद्वानों के आकलन के अनुसार खुसरो ने लगभग 77 मुकरियाँ लिखी हैं।

निस्बतें- अरबी भाषा के शब्द 'निस्बत' का सामान्य अर्थ 'संबंध' है। इस विधा में दो शब्दों के बीच का सम्बन्ध या तुलना का आधार ज्ञात करना होता है, इसे भी हम एक तरह की पहेली कह सकते हैं। निस्बतों का उद्देश्य शब्दों के विविध अर्थों की खोज करना है। खुसरो की रुचि शब्द और उसके अर्थ में अत्यधिक थी, इसलिए आम जन को हंसी-हंसी में शब्दों के सूक्ष्म अर्थों तक पहुँचने के लिए उन्होंने निस्बतों की रचना की। इस विधा के वे पहले और अंतिम रचनाकार हैं। उन्होंने अधिकतम 22 निस्बतों की रचना की है। एक निस्बत देखिए-

गहने और दरख़्त में क्या निस्बत है?- पत्ता

गहने और दरख्त (वृक्ष) में क्या समानता है? दोनों में पत्ते होते हैं। कान के एक गहने का आकार वृक्ष के पत्ते की तरह होता है।

अनमेलियाँ/ ढकोसले- ढकोसला का सामान्य अर्थ ढोंग या दिखावा होता है। लोक में ऐसी उक्तियों का खूब चलन होता था जिसमें ऊटपटांग उक्तियों के द्वारा गूढ़ बातों को प्रकट किया जाता था। यह भी पहेली से मिलता-जुलता है। खुसरो ने सात-आठ अनमेलियाँ ही लिखी हैं, जो मौखिक रूप से चलन में रहीं। खुसरो के इन ढकोसलों के निहितार्थ कहीं नहीं मिलते, लेकिन उससे निकलने वाले सूफ़ी संदेश का अनुमान होता है। उनका एक प्रसिद्ध ढकोसला है-

खीर पकाई जतन से
चर्खा दिया जलाय
आया कुत्ता खा गया
बैठी तू ढोल बजा।

किसी सफ़र में प्यासे खुसरो को चार पनिहारिने मिलीं। उन्होंने खुसरो को पहचान लिया। खुसरो ने पानी मांगा तो उन्होंने चार अलग-अलग शब्द बोले- खीर, चर्खा, कुत्ता और ढोल। वे खुसरो के कवित्व की परीक्षा लेना चाहती थीं। जवाब में खुसरो ने यह ढकोसला तत्काल रचकर सुना दिया। जिसका सीधा मतलब तो यही है कि अब कुछ बचा नहीं इसलिए ला अब तू मुझे पानी पिला, लेकिन इससे सांसारिक नश्वरता का संकेत भी हमें मिलता है।

दो सुखने- फ़ारसी के 'सुखन' शब्द का मतलब है कथन या उक्ति। इस विधा में दो शब्दों को लेकर एक उक्ति कही जाती है, जिसका उत्तर एक ही होता है। निस्बत में जहाँ दो वस्तुओं के बीच के रिश्ते की खोज होती है, वहीं दो सुखने में दो वस्तुओं के भीतर मौजूद एक ही कारण की तलाश की जाती है। उदाहरण के लिए-

अनार क्यों न चखा?

वज़ीर क्यों न रखा?

उत्तर- दाना न था

अनार के भीतर दाना नहीं था इसलिए उसे चखने का कोई मतलब नहीं और जब घर में दाना ही नहीं है तो फिर वजीर कैसे रखेंगे। अभी तो खाने के ही लाले पड़े हैं। 'दो सुखने' व्यावहारिक ज्ञान, भाषा बोध और फ़ारसी-हिन्दी के समन्वय के लिए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। खुसरो के अलावा किसी और के सुखने नहीं मिलते हैं। खुसरो के अधिकतम 32 दो सुखने मिलते हैं, जिसमें से 21 हिन्दी और 12 फ़ारसी के हैं।

दोहे- दोहा हिन्दी साहित्य का बहुत ही प्राचीन और लोकप्रिय विधा है। गोरखनाथ के पहले से यह परंपरा चली आ रही है। खुसरो ने हिन्दी के इस लोकप्रिय छंद में भी हाथ आजमाया। वैसे बहुत सारे विद्वान खुसरो के नाम पर प्रचलित दोहों को उनका नहीं मानते, लेकिन ये दोहे उनके नाम के साथ कुछ इस कदर चिपक गए हैं कि उनको अब खुसरो का न मानना संभव नहीं है। जैसे खुसरो का यह दोहा आध्यात्मिक अर्थ और उनकी गुरुभक्ति दोनों के

लिहाज़ से खासा लोकप्रिय है, जो उन्होंने अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु पर कहा था-

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारी केस.

छाल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देश.

खुसरो के दोहों पर सूफ़ी चिंतन की स्पष्ट छाप है। इनके कुल चौबीस दोहों का पता चला है, जिसमें दस-बारह बेहद प्रामाणिक हैं।

गीत और कव्वाली- खुसरो को संगीत से बेहद लगाव था। संगीत की उनकी समझ भी बहुत अच्छी थी। उन्होंने कई रागों की रचना की और कई वाद्ययंत्र भी बनाए। अपनी गजलों को वे गाकर सुनाते थे, जिससे उनका अलग ही प्रभाव पड़ता था। हिन्दी की अन्य रचनाओं की तरह उनकी गीतों की प्रामाणिकता पर भी खासा विवाद है। खुसरो ने आम जन में प्रचलित गीतों के प्रभाव में ब्रज और खड़ी बोली में गीत लिखे। जो मौलिक गीत भी लिखे वे आम जन में ऐसे लोकप्रिय हुए कि वे खुसरो की छाप से बाहर निकल कर लोकगीत की तरह लोकप्रिय हो गए। प्रदीप कुमार खुसरो नामक विद्वान ने अथक परिश्रम के बाद खुसरो के कुल चौबीस गीतों का संकलन किया है। उन्होंने वाजिद अली शाह के नाम से प्रसिद्ध 'बाबुल मोरा मैहर छूटो जाए' को भी खुसरो का गीत सिद्ध किया है। खुसरो के इस गीत को देखिए-

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, चल तेरे पी ने बुलाई।

बहुत खेल खेली सखियन सों अंत करी लरिकाई।

न्हाय धोय के बस्तर पहिरे, सब ही सिंगार बनाई।

बिदा करने को कुटुंब सब आए, सिगरे लोग लुगाई।

चार कहारन डोली उठाई, संग परोहित नाई।

चले ही बनेगी होत कहा है, नैन नीर बहाई।

खुसरो के नाम से बहुत सारी कव्वालियां भी प्रसिद्ध हैं। कव्वाली एक प्रकार की धुन है, जिसमें गजल गायकी होती है। सूफ़ी साधकों की मजारों पर आम तौर पर इसका गायन होता है। इसमें अल्लाह की प्रशंसा की जाती है। गायन की विशेष शैली के द्वारा गजलों के आध्यात्मिक अर्थों का संकेत किया जाता है। इसमें भावोन्माद की स्थिति बनती रहती है। खुसरो की अनेक गजलों की जिसमें खड़ी बोली की प्रधानता है, कव्वाली की तरह गायन होता रहा है। 'छापा तिलक तज दीन्ही रे, तोसे नैना मिलाके' कव्वाली खुसरो के नाम से दुनिया भर में गाया जाता है।

गजल- खुसरो की अधिकांश गजलें फ़ारसी भाषा में मिलती हैं। उनकी तीन-चार गजलें ही ऐसी हैं, जिसमें कुछ पंक्तियाँ खड़ी बोली हिन्दी की हैं। हिन्दी-उर्दू वालों ने उस पर अपना दावा ठोका है। वैसे उर्दू के कई विद्वान इन गजलों में आए शब्दों के आधार पर इनकी प्रामाणिकता पर सवाल खड़ा करते हैं। 'जि हाल-ए-मिस्कीं मकुन तगाफ़ुल' और 'जब यार देखा नैन भर, दिल की गई चिन्ता उतर' जैसी गजलें खुसरो की मानी जाती हैं, और उन्हें हिन्दी और उर्दू का आरंभिक गजल भी कहा जाता है।

फ़ुटकर काव्य- खुसरो के नाम पर कुछ अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं। चम्मो भठिहारिन के नाम से जुड़ा एक छंद 'औरों की चौपहरी बाजे, चम्मो की अठपहरी', आँख के इलाज से संबंधित 'लोट फ़िटकरी मुर्दा संग', श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित हालात-ए-कन्हैया शीर्षक रचना और 'नजरान-ए-हिन्दी' ऐसी ही रचनाएँ हैं। इनमें से अंतिम दो अनुपलब्ध हैं। खुसरो की हिन्दी रचनाएँ फ़ारसी की तुलना में बेहद कम हैं, और मौखिक परंपरा में प्राप्त होने से मूल रूप में भी उपलब्ध नहीं हैं, फ़िर भी उनमें खुसरो की मौलिक प्रतिभा और भारतीय जीवन और संस्कृति के प्रति उनका गहरा लगाव साफ़ झलकता है। फ़ारसी और हिन्दी की रचनाओं में एक अंतर साफ़ है कि जहाँ फ़ारसी की रचनाएँ जीविका और पहचान के दबाव में लिखी गई हैं, वहीं हिन्दी की रचनाएँ उनके उन्मुक्त मन की उपज हैं। उनका

हिन्दी-काव्य दरबारीपन, बनावटीपन, कृत्रिमता, बोझिलता और एकांगीपन से मुक्त है। ये रचनाएँ मुख्यत: लोकरंजन के उद्देश्य से आम जन के लिए ही लिखी गई हैं। इन रचनाओं का मूल आधार लोकतत्त्व है। आरी, छाता, जूता जैसी दैनिक जीवन की वस्तुओं, विदाई, मिलन जैसे ग्रामीण कार्यकलाप, मोर, बिच्छू जैसे पशु-पक्षी, आम, जामुन जैसे वृक्ष, जड़ी-बूटियाँ, मौसम आदि सब कुछ खुसरो की हिन्दी कविता के विषय हैं। उनकी सूक्ष्म नजर कुम्हार की चाक और नाई के उस्तरे पर भी थी। वे भटिहारिनों से बातें करते थे। उनकी पहेलियाँ ग्रामीणों के बुद्धि-विलास का साधन थीं। राजेन्द्र टोकी के विचार हैं- " ये ठीक है कि जो रचनाएँ उन्होंने हिन्दवी में कीं उनमें सामान्य जन को समझ में आने वाले यही विषय हो सकते थे लेकिन इनके लिए भी लोक जीवन की गहरी समझ भी तो आवश्यक है जो इसमें पैठ कर ही संभव है। अगर ध्यान से देखा जाए तो इन पहेलियों में उस समय के सामाजिक जीवन के कुछ पक्षों पर भी प्रकाश पड़ता है। स्त्री पुरुष संबंध, आर्थिक विषमता, पारिवारिक रिश्ते आदि भी सांकेतिक रूप से इनमें नजर आ जाएँगे। "

सात दरबारों में रहने वाला एक कवि आम आदमी से कितना जुड़ा हुआ था, इसका अहसास भी इन रचनाओं को पढ़ कर होता है। असल में, हिन्दी अपने जन्म से ही आम आदमी की भाषा रही। वह उसी जनता के लिए आज भी लड़ रही है। सत्ता से उसे सदा चुनौती मिलती रही है, लेकिन उसने उसका सामना किया। खुसरो जैसे कवि हिन्दी के इस राह के राही रहे हैं।

खुसरो के साहित्य को विशिष्ट बनाता है उनका देश-प्रेम। उन्हें भारत से गहरा प्रेम था। उन्होंने कई स्थलों पर गर्व से कहा है कि 'मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ'। भारत से उनके लगाव की तीन वजहें थीं- भारत का मातृभूमि होना, हदीस में मुहम्मद शाह की हिदायत कि मातृभूमि से प्रेम ईमान का अनिवार्य हिस्सा है और गुरु औलिया का इस पाक जमीन से रिश्ता। खुसरो के पूर्वज तुर्की से आए थे, लेकिन खुसरो भारत में जन्मे थे। अलाउद्दीन खिलजी के बेटे

कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के कहने पर उन्होंने जीवन के उतर्रार्द्ध में 'नूह सिपहर' शीर्षक मसनवी लिखी, जिसके तीसरे अध्याय के लगभग 112 शेर भारत भूमि की तारीफ़ में लिखे गए हैं। इसमें उन्होंने भारत को इस्लामिक देशों से भी बेहतर बताया है। उन्होंने अपनी मातृभूमि के विषय में लिखा है कि, " किश्वरे हिन्द अस्त बहिश्ती बजमी" (हिन्दुस्तान दुनिया में जन्नत है।) इन स्पष्ट कथनों के अलावा हिन्दवी की रचनाओं में जिस अपनत्व के साथ उन्होंने भारतीय लोक जीवन को चित्रित किया है, उससे भी हम इस भूमि के साथ उनके लगाव को महसूस कर सकते हैं।

खुसरो के साहित्य पर सूफ़ी मत का खासा प्रभाव है। बचपन में ही उन्होंने औलिया की शागिर्दी स्वीकार कर ली थी, जो जीवन के अंतिम क्षण तक कायम रही। खुसरो का जीवन और साहित्य दोनों ही सूफ़ी रंग में रंगे हुए थे। फ़ारसी की रचनाओं के साथ ही हिन्दवी की रचना 'हालात-ए-कन्हैया' पर भी विद्वानों ने इस मत का प्रभाव स्वीकार किया है। इस रचना की अनुपलब्धता की वजह से इसे प्रमाणित करना कठिन है। दरबारी जीवन से जुड़े होने के बावजूद उससे निस्पृह रहने का भाव उनमें सूफ़ी दर्शन के प्रभाव में ही संभव हो सका। आध्यात्मिक संकेतों की वजह से खुसरों की रचनाओं की भावभूमि का विस्तार हुआ। उसमें विश्वबंधुत्व की भावना और सामाजिक समानता के संदेश का समावेश हुआ। एक गजल में वे कहते हैं- काफ़िरे-इश्कम मुसलमानी मरा दरकार नीस्त/ हर रगे मन तार गश्ता, हजाते जुन्नर नीस्त। (मैं इश्क में काफ़िर हूं, मुझे मुसलमानी की आवश्यकत नहीं। मेरी हर रग तार बन गयी है, मुझे जनेऊ की जरूरत नहीं।)

खुसरो की फ़ारसी रचनाओं की लोकप्रियता में उसके संगीत तत्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। खुसरो को संगीत का गहरा ज्ञान था। उन्होंने भारतीय और ईरानी संगीत का समन्वय कर विभिन्न रागों, तालों और वाद्ययंत्रों की रचना की। मिर्जा खाँ ने खुसरो द्वारा रचित बारह रागों का जिक्र किया है। उनके द्वारा निर्मित तालों की संख्या भी इतनी ही बतायी

जाती है। ख्याल गायकी में राग बहार और तीन ताल को खुसरो की देन स्वीकारा जाता है। तराना के निर्माता के रूप में भी इन्हें याद किया गया है। कव्वाली गायन की शुरुआत तो खुसरो ने की ही थी। बहुत सारे विद्वान सितार, ढोलक और तबला का अविष्कारक भी इन्हें मानते हैं, लेकिन अब यह माना जाने लगा है कि उन्होंने इन वाद्ययंत्रों में संगीत के अनुसार कुछ बदलाव भर किए थे।

खुसरो का साहित्य विपुल और वैविध्यपूर्ण है। बहुभाषाविद होने की वजह से उसमें अरबी, फ़ारसी, तुर्की, हिन्दवी और संस्कृत के शब्द ही नहीं, साहित्य संस्कार भी हैं। उनके साहित्य में दरबारी वैभव और सामान्य जन की सादगी एक साथ मिलती है। उन्होंने हिन्दी जमीन को साहित्य रचना की दिशा दी। हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के लेखक उनके दाय को दिल खोल कर स्वीकार करते हैं। उनके योगदान का समुचित आकलन अभी बाकी है। उनके जीवन और कर्म पर सैय्यद सबाहुद्दीन अब्दुर्रहमान की यह टिप्पणी बेहद सटीक है- “एक मानव के रूप में अमीर ख़ुसरो उन श्रेष्ठतम आत्माओं से एक है जिन्होंने भारत में जन्म लिया। एक दरबारी के रूप में उसे अपने सख़्त स्वभाव वाले राजाओं से भी आदर और सम्मान मिला। एक सूफ़ी के रूप में उसमें वे सब उत्कृष्ट गुण थे जो इस्लामिक सूफ़ीवादी अपने नायक में चाहते हैं। एक कवि के रूप में उसने न केवल अपने समकालीनों को हराया, बल्कि अतीत के कुछ बहुमुखी प्रतिभा संपन्न प्रमुख फ़ारसी कवियों से भी आगे निकल गये। एक गद्य लेखक के रूप में उनकी शैली और शब्द विन्यास अपना है जिसका दूसरों के द्वारा अनुकरण नहीं हो सकता। एक नागरिक के रूप में वे अपनी मातृभूमि से देश प्रेम में सर्वप्रथम हैं और एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के रूप में उन्हें इस बात पर गौरव का अधिकार तो मिलना ही चाहिए कि वे अपने देश के धर्मनिरपेक्षता में सर्वप्रमुख नायक और पथप्रदर्शक हैं। भारत के शास्त्रीय संगीत के इतिहास में एक माहिर संगीतज्ञ के रूप में उनकी स्मृति एक क़ीमती खजाने के रूप में सदा दिल में बनी रहेगी।” अमीर खुसरो के साहित्य-कर्म ने

भारतीय समाज को गौरवान्वित किया। यह सौभाग्य की बात है कि इस कवि का नाता हिन्दी साहित्य से रहा।

2.3.3 आदिकालीन सहित्य में खुसरो का योगदान -

अमीर खुसरो का साहित्य आदिकाल के अंतर्गत माना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकालीन फुटकल कवियों में खुसरो को स्थान दिया है। शुक्ल जी आदिकालीन साहित्य में उनके योगदान पर लिखते हैं, "*वीरगाथाकाल के समाप्त होते होते हमें जनता की बहुत कुछ असली बोलचाल और उसके बीच कहे सुने जाने वाले पद्यों की भाषा के बहुत - के खुसरो मियाँ और तिरहुत के कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देने वाले हैं दिल्ली पश्चिम की बोलचाल...विद्यापति, गीत, मुखप्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार हम खुसरो - की कृति मेंं पाते हैं उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली में।*" अर्थात उस काल की जनता की बोली का असली नमूना हमें अमीर खुसरो के साहित्य में मिलता है। भाषा के अलावा शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों के संचित प्रतिबिम्ब के अलावा अशिक्षित लोकमानस की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब भी हम अमीर खुसरो की रचनाओं में देख सकते हैं, क्योंकि लोकभाषा में अभिव्यक्ति इस प्रतिबिम्ब को पूर्णरूप प्रदान करती है। वाचिक परंपरा के कारण इन रचनाओं में कई प्रक्षिप्त अंश जुड़ गए हैं। खुसरो की रचनाएं ख़ासकर फुटकल रचनाएं कौतुहल, उक्तिवैचित्र्य, मनोरंजन और विनोद से भरपूर हैं, इसलिए यह आम लोगों की पसंद का काव्य बन गया और इसी लोकप्रियता के सहारे वह बिना किसी संरक्षण के जीवित रह सका। कबीर की अपेक्षा खुसरो की भाषा जनता की भाषा के अधिक करीब है। आदिकाल में जब अधिकांश साहित्य जनसाधारण से दूर चारण कविताई और शुष्क साधना में मशगूल था तब इन्होंने जनभाषा में लोकमन की लोकरंजक ढंग से अभिव्यक्ति की। अमीर खुसरो को कई राजाओं के शासन का अनुभव था अतः जनता के साथ ही तत्कालीन सुल्तानों का इतिहास इनकी फारसी रचनाओं में सुरक्षित है। उसमें तत्कालीन संस्कृति की विशेषताएं प्रामाणिक तौर पर मौजूद हैं।

खुसरो ने हिन्दी में कई नवीन विधाओं का सूत्रपात किया और लुप्तप्राय कई विधाओं को पुनः प्रचलन में लाया। उनका हिन्दी साहित्य साम्प्रदायिक शिक्षा और धार्मिक आडम्बर से दूर हिन्दू-मुस्लिम साझी विरासत का अनूठा नमूना है, जिसे शुक्ल जी के शुद्ध साहित्य की परिभाषा में रखा जा सकता है। भाषाई सामासिकता भी खुसरो की अभूतपूर्व उपलब्धि कही जा सकती है। इनकी रचनाएँ संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर विविधता से संपन्न हैं। उन्होंने हिन्दी के साथ फारसी का मेल कर सुन्दर रचनाएं कीं, जो उनके भाषा प्रयोग का अद्‌भुत नमूना हैं, जैसे -

ज़े हाल मिसकी मकुन तग़ाफुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ .

कि तावे हिज्राँ न दारम, ए जाँ .लगाय छतियां न लेहु काहे !

अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाएं खडी बोली और ब्रजभाषा में मिलती हैं। जहाँ उनकी पहेलियां, मुकरियां, और दोसुखने खडी बोली में हैं तो वहीं गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या लोकप्रचलित भाषा है। इस मत की पुष्टि रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन करता है कि "*खुसरो के व्यक्तित्व से एक और महत्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि हिन्दी का चरित्र एकदम आरम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है, वह सामासिक संस्कृति की सच्ची रचना है।*" इससे स्पष्ट है कि उन्हें फारसी, अरबी, खड़ीबोली और ब्रज पर समानाधिकार प्राप्त था। उनकी हिन्दी रचनाएं खड़ी बोली के आरंभिक स्वरुप का नायब उदाहरण पेश करती हैं। आदिकाल में जहाँ अधिकांश रचनायें जनभाषा से दूर हैं, वहीं खुसरो की रचनाएं जनता की भाषा के सबसे करीब पाई जाती हैं। आदिकाल के अधिकांश कवियों ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग न कर अपने से कई सौवि परम्परा की वर्ष पूर्व की क-भाषा का इस्तेमाल किया, जिसकी आलोचना आचार्य शुक्ल ने की। उनके विपरीत खुसरो ने अपने समय में प्रचलित बोलचाल की भाषा में साहित्य रचना की। साहित्य और जनता के भाषा के बीच की खाई को पाटने का काम खुसरो का साहित्य करता है। इस संदर्भ में रामकुमार वर्मा की टिपण्णी उल्लेखनीय है," *चारणकालीन रक्तरंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धत स्वरों में गूँज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गंभीर*

धार्मिक प्रवृति आत्मशासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण प्रकृति हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के कारण सदैव अविस्मरणीय रहेगा।"

अमीर खुसरो द्वारा काव्य में प्रयुक्त खड़ी बोली आधुनिक हिन्दी काव्यभाषा के स्वरूपनिर्माण के - अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतेंदु युग के कवि परंपरागत भाषा को ही काव्यभाषा बनाने के इतिहास में पक्ष में दिखाई देते हैं तो वहीं उनसे कई सौ वर्ष पहले खुसरो जनभाषा के पक्ष में अपनी साहित्य पताका लहराए हुए थे। हिन्दी भाषा के वर्तमान स्वरुप को सर्वप्रथम हिन्दवी नाम से पुकारने का श्रेय भी खुसरो को ही जाता है, जो वर्तमान हिन्दी के सबसे करीब है। आदिकाल में केन्द्रीय सत्ता के अभाव में वीरता की झूठी प्रशंसा में लिप्त चारणों और व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए संघर्षरत राजाओं के बीच हिन्द और हिन्दी के लिए अमीर खुसरो का प्रेम और झुकाव उनकी विशिष्टता है। उनके काव्य में राष्ट्रप्रेम की अभिव्यक्ति आदिकाल की इस रिक्तता को भरती है। उन्होंने साहित्य और संगीत के तालमेल से सौन्दर्य की जो सृष्टि की उसे सराहे बिना हिन्दी साहित्य की विरासत अधूरी समझी जायेगी। उन्होंने कई रागों के तालमेल से संगीत के नये रागों का आविष्कार किया, जिसमें कव्वाली सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है।

अपभ्रंश और अवहट्ट की ओर झुके आदिकालीन साहित्य को खड़ी बोली और ब्रजभाषा की ओर मोड़ने का युगविधायक कार्य अमीर खुसरो ने किया। उत्तर भारत की संपर्क भाषा की पहचान कर उन्होंने उसका नामकरण किया। दरबारों में रचे जा रहे आदिकालीन साहित्य से भिन्न उसे लोक की जमीन पर रचने का काम भी खुसरो ने किया। आगे चलकर भक्ति काव्य में खड़ी बोली और ब्रजभाषा मुख्य भाषा के रूप में समादृत हुई, इसका श्रेय भी उन्हें ही जाता है। खुसरो ने दोहों की रचना की। यह छंद भी आगे चलकर हिन्दी का प्रधान छंद बना। अमीर खुसरो का हिन्दी के आदिकालीन साहित्य पर दूरगामी प्रभाव है।

2.3.4 खुसरो की पहेलियों की विशेषताएं -

पहेलियाँ भारतीय जनमानस का अटूट हिस्सा हैं। पहेलियों के माध्यम से मनोरंजन की परंपरा आज भी क्षीण होती हुई जीवित है। अमीर खुसरो ने इन्हीं पहेलियों की रचना की, जो लोक में उनकी ख्याति का सबसे मजबूत आधार है। पहेली में रोचक तरीके से किसी प्रश्न या समस्या को प्रस्तुत किया जाता है और उत्तर की प्रतीक्षा की जाती है। कई बार पहेली में ही उस प्रश्न का उत्तर छिपा होता है, इसे बूझ पहेली कहा जाता है और कई बार उत्तर अलग से खोजना होता है, इसे अबूझ पहेली कहा जाता है। खुसरो ने भारतीय जनमानस में लोकप्रिय इस विधा को समझा और उसे अपनी रचनात्मकता का विषय बनाया। इन पहेलियों में रोचकता, कौतुहल, बाकचातुर्य-, वैचित्र्य और हास्य। ये लोक मनोरंजन की लोकप्रिय विधा रही है। लिखित ठिठोली के दर्शन होते हैं- परंपरा के अभाव में खुसरो के नाम से प्रचलित पहेलियों की वास्तविकता का अंदाज़ा लगाना हिन्दी के अध्येताओं और पाठकों के लिए चुनौतीपूर्ण है। खुसरो की लोकप्रियता का आधार उनकी पहेलियाँ ही हैं। उनकी पहेलियों में विषयवैविध्य और लालित्य का सुन्दर संयोजन है। बालकों से लेकर वयस्कों के चित्त को भाने वाली सामग्री उनकी पहेलियों में मिल जाती है, जिससे व्यापक वर्ग प्रभावित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल के अधिकांश साहित्य को शुष्क और अंतर्मुखी साधना से अतिरंजित मानकर शुद्ध साहित्य की कोटी में मानने से इनकार कर दिया। शुक्ल जी के इस आक्षेप की बड़ी वजह उस साहित्य का जनमानस की रूचि के अनुकूल न होना भी था। वहीं अमीर खुसरो की पहेलियों में मौजूद लोकानुभावों और लोकरंजक सामग्री के कारण ही कहीं-न-कहीं वे खुसरो की प्रशंसा करते हैं।" *ये बड़े विनोदी, मिलनसार और सहृदय थे, इसी से जनता की सब बातों में पूरा योग देना चाहते थे। जिस ढंग के दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ आदि साधारण जनता की बोलचाल में इन्हें प्रचलित मिलीं, उसी ढंग के पद्य और पहेलियाँ आदि कहने की उत्कंठा इन्हें भी हुई। इनकी पहेलियाँ और मुकरियों प्रसिद्ध हैं। इनमें उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता थी, यद्यपि कुछ रँगीले गीत और दोहे भी इन्होंने कहे हैं।"* खुसरो ने केवल शुष्क ज्ञान और साधनात्मक शब्दावली का सहारा लेकर जनसाधारण की समझ में आ सकने वाले विषय और शैली का चुनाव

नहीं किया। खुसरो की पहेलियाँ विशेषतः खड़ी बोली में लिखी गईं। कहींकहीं इन पर ब्रजभाषा - का प्रभाव भी है। खड़ी बोली में रचित पहेलियाँ, शुद्ध खड़ी बोली के प्रयोग का अद्‌भुत उदाहरण हैं। हिंदी के आरम्भिक दौर में भाषा प्रयोग का इतना शुद्ध और सुन्दर रूप मिलना दुर्लभ ही कहा जायेगा। एक उदाहरण के रूप में इसे समझा जा सकता है-

"एक थाल मोती से भरा,

सबके सिर औंधा धरा

चारों ओर वह थाली फिरे,

मोती उससे एक न गिरे"

उनकी पहेलियों की भाषा सहज-सरल और स्वाभाविक है। उसमें कोई क्लिष्टता या शब्दाडम्बर नहीं है। अमीर खुसरो के समय खड़ी बोली हिन्दी का स्वरुप वर्तमान हिन्दी की तरह स्पष्ट नहीं था। इसीलिये जिसे खुसरो हिन्दवी या देहलवी कहते हैं, उसमें अरबी, फ़ारसी, ब्रज और खड़ी बोली के शब्द एक-दूसरे से घुले-मिले हैं। उनकी पहेलियों

-में ब्रजभाषा के प्रयोग का एक नमूना देखिये

'एक पुरख औ नौलख नारी, सेज चढ़ी वह तिरिया सारी.

जले पुरुष देखे संसार, इन तिरियों का यही सिंगार.'

उपर्युक्त पहेली में प्रयुक्त पुरख, तिरिया आदि शब्द ब्रजभाषा के हैं।

उनके कई दोहासाथ गूढ़ अर्थ के लिए भी विख्यात हैं-पहेलियाँ अपने सामान्य के साथ-, जैसे - *उज्जवल बरन अधीर तन, एक चित्त दो ध्यानतो साधु है देखत में ., पर निपट पाप की खान।* इसमें जनता को धार्मिक ढोंग से बचने की सलाह भी है। खुसरो की पहेलियों का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन और विनोद है। रामकुमार वर्मा लिखते हैं," *उनमें न तो ह्रदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई संदेश ही। वह केवल मनोरंजन की सामग्री है। जीवन की गंभीरता से ऊबकर कोई भी व्यक्ति उससे विनोद पा सकता है। "*

प्रदीप शर्मा खुसरो ने लिखा है कि, " *कुछ पहेलियाँ अमीर खुसरो ने ऐसी भी लिखीं जो साथ में आध्यात्मिक साखियाँ या दोहे भी हैं।*" जीवन के सामान्य उदाहरणों से गूढ़ अर्थों की व्यंजना करना भी इसका लक्ष्य रहा है। एक पहेली है -'*मैं मोठी मोरे पिया आकाशबैरी /कैसे जाऊँ पी के पास- लोक मुंह दिखावेपी चाहें तो आपी आवें।-*' इस पहेली का जवाब है 'कबूतर', लेकिन इसमें जीव और ब्रह्म के अलौकिक संबंधों की ओर भी संकेत है।

खुसरो द्वारा लिखित कह मुकरियाँ, निस्बतें, दो सुखनें और ढकोसले भी पहेली के ही प्रकार हैं। इन सब पर व्यापकता के साथ विचार करने पर यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि खुसरो ने इनकी रचना भारत की अनपढ़ जनता के मनोरजन और बौद्धिक क्षमता के विकास के लिए किया था। बौद्धिक व्यायाम के साथ ही वे उनके भाषायी समझ को भी विकसित करना चाहते थे। इन पहेलियों को पढ़कर ग्रामीण लोक व्यवहार की खुसरो की समझ पर हम दंग रह जाते हैं। एक दरबारी कवि को बीर बहूटी और भुट्टा के विषय में भी पता होगा, इसका अनुमान नहीं होता। पहेलियों की रचना प्रकिया पर राजेन्द्र टोकी की यह प्रतिक्रिया विचारणीय है, " *सामान्य लोगों के बीच उन्होंने उनकी रुचि के अनुरूप ही अपनी प्रतिभा को प्रकट किया। जाहिर है लोगों की रुचि लिखने या किसी रचना को सुरक्षित रखने में नहीं होती। वे एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे तक सुनी बात पहुँचाने में रुचि रखते हैं। यही हुआ भी है। खुसरो से सुनी मुकरियाँ, पहेलियाँ, ढकोसले, गीत एक मुख से दूसरे मुख तक पहुँचते रहे। सामान्य जन से उनकी भाषा में ही बात की जा सकती थी।* " खुसरो की पहेलियाँ आम जन को उनकी ही भाषा और उनकी ही जमीन पर जाकर संवाद करने की एक कोशिश थी, जो उनके बाद कहीं और नहीं देखी गई। इस मामले में खुसरो हिन्दी साहित्य में दुर्लभ रचनाकार हैं। उनकी पहेलियों को देखकर यह तय कर पाना मुश्किल है कि उनको खुसरो ने रचा है, या उन्होंने ही खुसरो को रचा है। जन जीवन में वह इस कदर घुल गई हैं कि उन्होंने

अपनी विशिष्ट पहचान ही खो दी है। यही उनकी पहेलियों की सबसे बड़ी उपलब्धि है, और विशेषता भी।

2.4 कठिन शब्द

छंद-वैविध्य-परक रासउ-परंपरा : रासो साहित्य दो प्रकार के मिलते हैं। जिस रासो साहित्य में विविध प्रकार छंदो का प्रयोग किया गय है उसे छंद-वैविध्य-परक रासउ-परंपरा कहा गया है। यह विभाजन माता प्रसाद गुप्त ने किया है। 'पृथ्वीराज रासो' इसी परंपरा का महाकाव्य है।

पुरुषार्थ चतुष्ट्य : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्ट्य कहा जाता है।

सूफ़ी: सूफ़ी शब्द की उत्पत्ति 'सूफ़' से हुई है, जिसका अर्थ 'ऊन' होता है। अरब की गर्मी में मोटे सफ़ेद ऊन के कपड़े पहनकर परमात्मा के प्रेम में मगन रहने वाले फ़कीरों को सूफ़ी कहा गया। ये खुदा की राह पर चलने वाले दीनता और नम्रता के गुणों से परिपूर्ण साधक होते थे। इन्होंने प्रेम को जीवन का मूल-तत्त्व माना, और लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में परिवर्तित कर ईश्वर की उपासना की राह बतायी।

मसनवी- मसनवी का शाब्दिक अर्थ दो होता है। इसके हर शेर में दो मिस्रे होते हैं। यह एक प्रकार की तुकबंदी है, जिसमें किसी विषय का क्रमवार वर्णन होता है।

2.5 सहायक पुस्तकें

चंदवरदाई और उनका काव्य: विपिन बिहारी त्रिवेदी

पृथ्वीराज रासो की भाषा; नामवर सिंह

चंदवरदाई: सुमन राजे

चंदबरदाई: शान्ता सिंह

आदिकालीन काव्य: वासुदेव सिंह

पद्मावती समय: मोहनलाल तिवारी

अमीर खुसरो का हिन्दवी काव्य: गोपीचंद नारंग

अमीर खुसरो: व्यक्तित्व और कृतित्व: परमानन्द पांचाल

अमीर खुसरो एक बहुआयामी व्यक्तित्व: प्रदीप खुसरो

अमीर खुसरो: भोलानाथ तिवारी

अमीर खुसरो: राजेन्द्र टोकी

2.6 अभ्यास प्रश्न

1. चंदवरदाई का परिचय देते हुए 'पृथ्वीराज रासो' के काव्य-सौंदर्य का विश्लेषण कीजिए।

2. `पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के पक्ष-विपक्ष में तर्क दीजिए।

3. अमीर खुसरो की पहेलियों का वैशिष्ट्य बताइए।

4. अमीर खुसरो का साहित्यिक परिचय दीजिए।

इकाई -3

3 .इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 कबीर

3.2.1 पाठ्यांश: कबीर

3.2.2 कबीरदास की भक्ति-भावना

3.2.3 कबीरदास की समाज-चेतना

3.3 जायसी

3.3.1 पाठ्यांश: जायसी

3.3.2 जायसी का काव्य-वैभव

3.3.3 सूफ़ी काव्य परंपरा और पद्मावत

3.4 कठिन शब्द

3.5 सहायक पुस्तकें

3.6 अभ्यास प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप निर्गुण काव्यधारा के दो प्रमुख कवियों कबीर और जायसी के विषय में विस्तार से जान सकेंगे। आपके पाठ्यक्रम में शामिल इन कवियों के कुछ प्रमुख पदों की व्याख्या के द्वारा आप इनकी काव्यगत विशेषताओं को भी समझ सकेंगे। कबीरदास भक्तिकाल के पहले प्रमुख कवि हैं। उनके संक्षिप्त जीवन-परिचय के साथ ही उनकी भक्ति-भावना से भी आप परिचित होंगे। कबीर ने अपने समय और समाज के विषय में प्रत्यक्ष टिप्पणियाँ की हैं,

उसकी भी जानकारी इस इकाई में दी गई है। सूफ़ी काव्य परंपरा के परिचय के साथ ही आप जायसी के काव्य-वैभव से भी परिचित होंगे।

3.1 प्रस्तावना

भक्तिकाल की शुरुआत निर्गुण काव्य-धारा से होती है। इस धारा के सर्वाधिक प्रमुख कवि कबीर हैं। जुलाहा जाति में पालित कबीर ने सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया और निर्गुण राम की भक्ति का आदर्श समाज के सामने रखा। कबीर ने जातिव्यवस्था के भीतर पीस रही आम जनता को मुक्ति की राह दिखाई। उन्होंने धार्मिक कुरीतियों और पाखंडों का भी विरोध किया। अपने समय की सभी धार्मिक परंपराओं के साथ उन्होंने संवाद किया और भक्ति की सहज-सरल और सर्वसुलभ पद्धति को अपनाने का आग्रह किया। जायसी हिंदी के पहले विधिवत कवि हैं। सूफ़ी काव्य परंपरा का अनुसरण करते हुए उन्होंने अवधी भाषा में 'पद्मावत' की रचना की, जिसमें भारतीय जीवन सजीव रूप में प्रस्तुत हुआ है। उनकी कविता हिंदू-मुस्लिम जीवन की एकता का प्रमाण और परिणाम है। भारतीय और फ़ारसी साहित्य परंपरा का सुंदर समन्वय 'पद्मावत' में हुआ है। 'मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी' का गान करने वाले जायसी ने धार्मिक कट्टरता के ऊपर मानव-प्रेम की प्रतिष्ठा की है। उनकी कविता में लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यंजना हुई है।

3.2 कबीर: सामान्य परिचय

कबीरदास भक्तिकाल की निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भगवान की भक्ति का सीधा और सरल मार्ग दिखाया। शास्त्रीय ज्ञान को चुनौती देते हुए कबीर ने आँखिन देखी ज्ञान या अनुभवजनित ज्ञान की महत्ता स्थापित कर अशिक्षित आम जनता के बीच गौरव का भाव भर दिया। उन्होंने अपने समय और समाज में फ़ैली तमाम तरह की कुरीतियों पर सीधे-साधे तर्कों के द्वारा अचूक प्रहार कर उसमें बदलाव का प्रयास किया। उनकी भक्ति और कविता भारतीय समाज के अत्यंत पिछड़े समुदाय को संबोधित थी जिससे भारत की बहुसंख्यक आबादी के बीच इनको अपार लोकप्रियता हासिल हुई। कबीर के पदों का प्रसार हिन्दीभाषी समाज से बाहर गुजरात, पंजाब और असम तक में हुआ।

कबीरदास के जीवन से संबंधित अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ मिलती हैं। कहा जाता है कि इनका जन्म किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था, जिसने सामाजिक भय से वाराणसी के लहरतारा तालाब के पास उसे फेंक दिया। वह बालक नीरू और नीमा नामक नि:संतान दंपति को मिला जिन्होंने पाल-पोसकर उसे बड़ा किया। यह बात कहाँ तक सत्य है यह कहना कठिन है। परंतु, निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि कबीर का पालन-पोषण वाराणसी के एक ऐसे मुसलमान जुलाहा परिवार में हुआ था जिन्होंने एक दो पीढ़ी पहले ही इस्लाम धर्म को स्वीकार किया था। इस्लाम स्वीकार करने के पहले यह जुलाहा जाति नाथपंथी योगियों की शिष्य थी। कबीर के भीतर योग, हिन्दू और इस्लाम के विचारों की एकसमान उपस्थिति की यही मूल वजह है।

कबीर के जन्म को लेकर बहुत सारी धारणाएँ है पर इतना स्पष्ट है कि वे सिकन्दर लोदी (1488-1517 ई.) के समय में थे। अब तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर उनका जन्म सन 1399 ई. में काशी के लहरतारा इलाके में माना जाता है। ये विवाहित थे और इनके बच्चे भी थे। कबीर के गुरु को लेकर भी भ्रम की स्थिति है। इनके दो गुरु बताये जाते हैं- स्वामी रामानन्द और सूफ़ी संत शेख तकी। कबीर ने अपने एक पद '*घट-घट है अबिनासी सुनहु तकी तुम शेख*' में शेख तकी का नाम अश्रद्धा के साथ लिया है, इससे यह लगता है कि शेख तकी उनके गुरु नहीं थे। इतिहास के अनेकानेक प्रमाणों से पता चलता है कि रामानन्द के बारह शिष्यों में कबीर सर्वाधिक प्रमुख थे। उन्हें राम नाम के जाप की दीक्षा रामानन्द से ही मिली थी। कबीर ने कई स्थलों पर रामानन्द का नाम बहुत ही सम्मान के साथ लिया है। एक जहह वे लिखते हैं- *'सतगुरु के परताप से मिटि गयो सब दुख दंद/ कह कबीर दुविधा मिटि, गुरु मिलिया रामानंद।'* अत: रामानन्द को ही कबीर का गुरु मानना चाहिए। कबीर की मृत्यु को लेकर भी बहुत सारा मतभेद है। एक जनश्रुति के अनुसार कबीर का देहांत संवत 1575 अर्थात सन 1518 ई. में बिहार के एक शहर मगहर में हुआ था। काशी में मरने वाले व्यक्ति को स्वर्ग और मगहर में मरने वाले को नरक मिलता है इस बात की कबीर ने अपने कई पदों में आलोचना की है। शायद यही वजह है कि उनके अनुयायियों ने यह प्रचारित कर दिया हो कि उनकी मौत मगहर में हुई थी। चाहे जो हो लेकिन अबतक उपलब्ध

साक्ष्यों के आधार पर कबीर का जन्म सन 1399 को काशी में और देहांत सन 1518 को मगहर पर मानना चाहिए। इस प्रकार कबीर ने 120 वर्षों का दीर्घ जीवन जीया।

कबीर साक्षर नहीं थे उन्होंने स्वयं लिखा है-'मसि कागद छुयौ नहीं, कलम गहौ नहिं हाथ।' वे अपने पदों को गाया करते थे जो उनके भक्तों द्वारा देश भर में फ़ैलता था। कबीर के शिष्य धर्मदास द्वारा उनकी रचनाओं को सबसे पहले लिपिबद्ध किये जाने की सूचना मिलती है। कबीर के कुछ पद सिखों के धर्मग्रंथ *गुरुग्रंथसाहिब* में भी संकलित हैं जिन्हें सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। कबीर के नाम से पचासों ग्रंथों की जानकारी प्राप्त होती है लेकिन उनमें से कितनी प्रामाणिक है और कितनी अप्रामाणिक यह कहना कठिन है। आचार्य हजारी प्रसाद ने कबीर की रचनाओं के रूप में निम्न का उल्लेख किया है-

कबीर ग्रंथावली:- इस ग्रंथ की तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनका पाठानुसंधान कर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित किया गया। इसका संपादन श्री श्यामसुंदर ने किया था। इसकी आधारभूत प्रति के विषय में दावा किया जाता है कि यह कबीर की मृत्यु के पंद्रह वर्ष पहले ही तैयार की गयी थी।लेकिन यह दावा प्रामाणिक नहीं लगता।

आदिग्रंथ के पद:- सिखों के आदिग्रंथ *गुरुग्रंथसाहिब*का संकलन 1605 ई. में किया गया था। इसमें कबीर की बहुत से पद संग्रहित हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इन्हें अलग कर उनका संपादन किया है। कबीर के पदों का सबसे पुराना संग्रह इसे ही माना जाता है।

बीजक:- बीजक के विषय में यह प्रसिद्ध है कि कबीरदास ने स्वयं ही इस ग्रंथ को अपने दो शिष्यों जगजीवनदास और भगवानदास को दिया था। बाद में इस ग्रंथ को कबीर के प्रमुख शिष्य धर्मदास ने संग्रहित किया। इस ग्रंथ की कबीरपंथी संप्रदाय में बहुत अधिक प्रतिष्ठा है। इस रचना पर कई टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। बीजक का अर्थ होता है- गुप्त धन बताने वाली सूची। बीजक के तीन भाग हैं- साखी, सबद और रमैनी। 'साखी' दोहा छंद में लिखा जाता है। 'सबद' गेय पद होते हैं। रमैनी में सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा संकलित होता है।

3.2.1 पाठ्यांश : कबीरदास

1. राम भजा सोइ जीता जग मैं। राम भजा सोइ जीता रे।

हाथ सुमिरनी पेट कतरनी पढ़ै भागवत गीता रे।

हिरदै सुद्ध किया नहिं बोरे कहत सुनत दिन बीता रे।

आन देव की पूजा कीन्हीं हरि से रहा अमीता रे।

धन जोबन तेरा यही रहैगा अंत समय चलि रीता रे।

बाँवरिया बन में फ़ंद रोपै संग मैं फ़िरै निचीता रे।

कहै कबीर काल यौं मारै जैसे म्रिग कौं चीता है॥

शब्दार्थ:- सुमिरनी- इष्ट का या मंत्र का जप करने के लिए प्रयोग की जानेवाली मनकों की छोटी माला; कतरनी-कैंची; बोरे-पागल; आन देव- निर्गुण राम से भिन्न देवता; अमीता-अमित्र, विपरीत, विरुद्ध; जोबन-यौवन; रीता-खाली हाथ, बाँवरिया-बावली, शिकारी; बन-जंगल; फंद-फ़ँदा; निचीता-निश्चिंत

संदर्भ:- प्रस्तुत पंक्तियाँ भक्तिकाल के निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रसिद्ध संत कवि कबीर की हैं। संत कबीर ने अपनी रचनाओं के द्वारा भक्तिकाव्य की दिशा को निर्धारित और निर्देशित किया। उन्होंने संसार की नश्वरता का वर्णन करने के साथ ही उसकी विडंबना और विषमता की ओर भी भारतीय समाज का ध्यान आकृष्ट किया। एक विद्रोही कवि की तरह उन्होंने जात-पात, धार्मिक विषमता और सांप्रदायिक कट्टरता का विरोध किया। वे एक ऐसे समरस समाज के आकांक्षी थे जिसमें किसीए भी प्रकार की असमानता न हो। उनकी भक्ति के आधार निर्गुण राम थे।

प्रसंग:- उपरोक्त पद में कबीर जीवों से निर्गुण राम को भजने का आग्रह कर रहे हैं। उनका कहना है कि इस संसार के बंधन से केवल निर्गुण राम ही मुक्त कर सकता है। उसकी कृपा से माया का जीव

पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। संसार सागर में डूबा व्यक्ति अंत समय में खाली हाथ जाता है, जबकि राम की भक्ति में निमग्न जीव जीवन-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या:- कबीर कह रहे हैं कि जिसने भी राम का भजन किया है वही व्यक्ति इस संसार पर विजय प्राप्त कर सका है। राम की भक्ति के अलावा अन्य धार्मिक वाह्याचार आपको संसार के बंधन से आजाद नहीं कर पाएंगे। इस संसार में अनेक जीव हैं जिनके हाथों में राम नाम के सुमिरन की माला है, वे भगवद-गीता का पाठ करते रहते हैं, लेकिन दिन-रात पेट पालन में लगे रहते हैं। उनकी भक्ति केवल दिखावा है। कबीर उनको संबोधित करते हुए कहते हैं कि ऐ पगले! तुमको भक्ति का असली रूप समझाते हुए कितने दिन बीत गए, लेकिन आज तक तुमने अपने हृदय को शुद्ध नहीं किया, जबकि राम की भक्ति अशुद्ध हृदय से हो ही नहीं सकती। तुम लगातार अन्य देवताओं की पूजा करते रहे, और निर्गुण राम से मित्रता या अपनापन नहीं साध सके। निर्गुण राम के बिना तुम्हें इस भव-सागर से मुक्ति नहीं मिलेगी। तुम जिस संसार में डूबे हुए हो, उससे मिलने वाला धन और यौवन जीवन के अंतिम समय में यहीं रह जाएगा, और तुम्हें खाली हाथ ही जाना होगा। माया रूपी पागल ने संसार रूपी जंगल में अपना जाल फैला रखा है, जो राम का भजन करता है वही उसके जाल में नहीं फंसता है और इस संसार सागर में निश्चिंत होकर घूमता रहता है। अंत में कबीर कहते हैं कि राम का भजन नहीं करने वाले जीवों का अंत समय में काल उसी प्रकार शिकार करेगा, जिस प्रकार जंगल में चीता हिरण का शिकार करता है।

विशेष:-

- निर्गुण राम की भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन।
- अंतिम दो पंक्तियों में रूपक अलंकार का प्रयोग।
- भगदव-गीता के उल्लेख द्वारा धार्मिक पुस्तकों की आलोचना।

2. झूठे तन को क्या गरबावै । मरै तो पल भरि रहन न पावै ॥

खीर खाँड घृत पिंड सँवारा । प्रान गएँ लै बाहरि जारा ॥

जिहि सिरि रचि रचि बाँधत पागा । सो सिरु चंचु सँवारहिं कागा ॥

हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी । केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी ॥

कहै कबीर नर अजहुँ न जागै । जम का डंड मूँड महिं लागै ॥

शब्दार्थ:- गरबावै-घमंड करना; खाँड-शक्कर; घृत-घी; पिंड-शरीर; जारा-जलाना; सिरि-सिर; पागा-पगड़ी; चंचु-चोंच; कागा-कौआ; त्रिन-तृण, घास; कूरी- समूह, ढेर।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- उपरोक्त पंक्तियों में कबीरदास ने संसार की नश्वरता का वर्णन किया है। भारतीय चिंतन परंपरा में संसार को भ्रम और माया का एक रूप स्वीकार किया गया है। मनुष्य जिस शरीर और संपदा पर अभिमान करता है उसके प्रति भक्तों ने सदा सावधान किया है। कबीर आदि संतों की नजर में यह शरीर माया के बंधन में बधने का प्रधान सहायक है, इसलिए मनुष्य को इसके प्रति सावधान रहना चाहिए। इस शरीर के प्रति मोह ईश्वर-प्राप्ति में बाधक होता है, इस कारण संतों ने इसका मोह त्यागने का अनेक प्रकार से आग्रह किया है।

व्याख्या:- कबीरदास कहते हैं कि अपने तन पर झूठा गर्व क्यों करते हो क्योंकि यह तो नश्वर है, वह शरीर जिस पर तुम इतना घमंड करते हुए मरने के बाद पल भर के लिए भी कोई उसे रख नहीं पाता है। तात्पर्य यह कि जीवित शरीर पर लोग इतना अभिमान करते हैं, लेकिन जब वही शरीर मर जाता है तो परिवार वाले उसे जल्द-से-जल्द जला या दफ़ना देना चाहते हैं। खीर, शक्कर, घी आदि का पान कर मनुष्य जीवित शरीर को पालता-पोसता है, लेकिन जैसे ही प्राण निकलता है उसे बाहर ले जाकर जला दिया जाता है। जिस सिर को जीवित अवस्था में रच-रच कर पगड़ी बाँधकर सँवारा जाता है, प्राण निकल जाने के बाद उसी सिर को कौवे अपनी चोंच से सँवारते हैं। यहाँ कबीर व्यंग्य कर रहे हैं कि जिस शरीर को मनुष्य जीते-जी पगड़ी से सँवारता है, मरने के बाद कौवे अपनी चोंच से उसे विद्रूप या विकृत कर देते हैं। मृत शरीर को जब जलाते हैं, तब मनुष्य की हड्डियाँ ऐसे जलती हैं जैसे सूखी हुई लकड़ी, और सिर के बाल ऐसे जलते हैं जैसे सूखे घास की ढेरी जलती है। अंत में कबीर कहते हैं कि रोज अपनी आँखों से संसार की नश्वरता का यह दृश्य देखने के

बाद भी यदि मनुष्य अब भी नहीं जागता या सचेत होता है, तो एक दिन उसके सिर पर यमराज का डंडा आ बरसता है, अर्थात मृत्यु उसके सामने आ धमकती है। यानि की जब तक मनुष्य सांसारिक भ्रम के प्रति सचेत होता है, उसे मृत्यु घेर लेती है, और वह जीवन-मरण के बंधन से कभी आजाद नहीं हो पाता है।

विशेष:-

- सांसारिक नश्वरता के वर्णन द्वारा भगवद-भक्ति के प्रति उन्मुख करने की चेष्टा।
- संसार को भ्रम मानने वाले अद्वैतवाद का प्रभाव।
- जायसी के पद्मावत में इसी भाव की एक पंक्ति मिलती है- 'बिनु जिय पिंड छार कर जारा।'

3. चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े ।

नऊँ दुआर नरक धरि मुँदे दुरगंधि ही के बेढ़े ॥

जो जारै तौ हौइ भसम तन गाड़े क्रिमि कीट खाई ।

सूकर स्वान काग कौ भक्खिन तामैं कहा भलाई ॥

फूटै नैन हिरदै नहिं सूझै मति एकौ नहिं जाँनी ।

काँम क्रोध तिसनाँ के मारे बूड़ि मुएहु बिनु पाँनीं ॥

राम न जपहु कवन भ्रम भूले तुम तैं काल न दूरी ।

कोटि जतन करि यहु तन राखहु अंत अवस्था धूरी ॥

बालू के घरवा महि बैसे चेतत नहीं अयाँनाँ ।

कहै कबीर एक राम भजे बिनु बूड़े बहुत सियाँना ॥

शब्दार्थ:- नऊँ दुआर- नौ द्वार; दुरगंधि-दुर्गंध, बेढ़े- बेड़ा, जहाज; सूकर-सीकर, सियार; श्वान-कुत्ता; काग-कौवा; भक्खिन-भक्षण; तामैं-उसमें; मति-बुद्धि; तिसनाँ-तृष्णा; बूड़ि-डूबकर; कोटि जतन-करोड़ो प्रयास; अयाना-भोला; सयाना-शास्त्रज्ञानी।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- उपरोक्त पद में कबीर ने सांसारिक और शारीरिक सुख के अभिमान में मुग्ध मनुष्यों को सावधान किया है। उन्होंने सांसारिक जीवन की सीमाओं की ओर संकेत कर मनुष्य को ईश्वर की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी है।

व्याख्या:- सांसारिक उपलब्धियों के अभिमान में डूबे मनुष्यों को लक्ष्य कर कबीर कहते हैं कि अहंकार में भरकर तू टेढ़ा-टेढ़ा क्यों चलता है? तेरे शरीर के नौ द्वारों (दो नाक, दो कान, दो नेत्र, मुख, गुदा और शिश्न) पर नरकों को रखकर उन्हें मुद्रित कर दिया गया है, इसलिए तू दुर्गंधियों या दुर्गंधों का बेड़ा हो गया है। अर्थात तेरा शरीर गंदगी का भंडार है। जीवित रहते हुए यह शरीर गंदगी का आश्रय-स्थली तो है ही, प्राण निकलने के बाद जब यह शरीर जलाया जाता है तो जलकर भस्म या राख में परिवर्तित हो जाता है, और यदि उसे दफ़नाया जाता है तो उसे कीड़े-मकोड़े खा कर समाप्त कर देते हैं। यदि उसे कहीं फेंक दिया जाए तो सियार, कुत्ता और कौआ उसे खाते हैं, भला इसमें उस शरीर की कोई भलाई है? तुम्हारी आँखें फूट गई हैं और तूझे दिल में कुछ सूझता नहीं है, इसीलिए तुम्हारी बुद्धि में उस एक परमात्मा का ख्याल कभी नहीं आया। काम, क्रोध और तृष्णा में बंधा होने के कारण, तू बिना पानी के अर्थात भ्रमवश इस संसार-सागर में डूबकर मर रहा है। तू किस भ्रम में भूलकर राम के नाम का जाप नहीं करते हो, जबकि काल अर्थात मृत्यु तुमसे ज्यादा दूर नहीं है। इस नश्वर शरीर को सुरक्षित रखने के चाहे तुम करोड़ों उपाय कर लो, लेकिन अंतिम अवस्था में इसको धूल या मिट्टी में मिलना ही है। तू बालू के घर में बैठा है, तेरा शरीर क्षणभंगुर है, ऐ अज्ञानी! तब भी तू सचेत नहीं होता है। कबीर कहते हैं कि एक राम के भजन के बिना बहुत से ज्ञानी कहलाने वाले लोग इस संसार-सागर में डूब गए।

विशेष:-

- कई पाठों में नौ द्वार की जगह दस द्वार भी मिलता है। अभिलाष दास द्वारा संपादित 'बीजक' में यह पंक्ति इस प्रकार है- 'दशहूँ द्वार नरक भरि बूड़े'। उन्होंने दसवाँ द्वार खोपड़ी के तालू में माना है।
- सातवीं और आठवीं पंक्ति में वचन-वक्रता है।
- विभिन्न उदाहरणों के द्वारा शरीर की नश्वरता का चित्रण किया गया है।

4. माया महा ठगिनि हम जाँनी ।

तिरगुन फाँसि लिए कर डोले बोलै मधुरी वाँनी ॥

केसव कै कंवला होइ बैठी सिव के भवन भवानीं ।

पंडा कै मूरति होइ बैठी तीरथ हू मैं पाँनीं ॥

जोगी कै जोगिनि होइ बैठी राजा कै घरि राँनीं ।

काहू कै हीरा होइ बैठी काहू कै कौड़ी काँनीं ॥

भगताँ कै भगतिनि होइ बैठी तुरकाँ कै तुरकाँनीं ।

दास कबीर साहेब का बंदा जाकै हाथि बिकाँनी ॥

शब्दार्थ:- ठगिनि-ठगने या धोखा देने वाली; तिरगुन- सत्व, रज और तम नामक तीन गुण; कर- हाथ; वाँनी- वाणी; केसव- विष्णु; कंवला- कमला, लक्ष्मी, विष्णु की पत्नी; सिव-शिव; भवांनी- पार्वती, शिव की पत्नी; पंडा- तीर्थ स्थानों पर कर्मकांड कराने वाले पंडित।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- इस पद में कबीर ने माया के स्वरूप पर विचार किया है। ईश्वर प्राप्ति के मार्ग की सबसे बाधा माया है। माया के कुचक्र में फँसकर ही जीव संसार-सागर में भटकता रहता है और ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं हो पाता है। इसी कारण संतों और भक्तों ने माया की निंदा की है।

व्याख्या:- कबीर कहते हैं कि मैंने इस तथ्य को जान लिया है कि माया महाठगिनी या बहुत बड़ी ठगनेवाली है। यह अपने हाथों में सत्व, रज और तम का त्रिगुण रूपी फंदा लेकर घूमती रहती है और मीठी-मीठी बातें बोलकर जीवों को अपने जाल में फँसाती रहती है। संसार तीन गुणों के आधार पर संचालित होता है, इन तीनों पर माया का नियंत्रण है। कबीर मानते हैं कि माया का सबसे सशक्त रूप स्त्री है, यह स्त्री पत्नी के रूप में घर में रहती है, और जीव को ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं होने देती। माया के इस रूप से मनुष्य क्या, ईश्वर भी नहीं बच पाए हैं। कबीर कहते हैं कि यह माया केशव या विष्णु के घर में कमला या लक्ष्मी के रूप में और शिव के भवन में पार्वती के रूप में विराजमान है। माया की लीला यह है कि संसार में जिन साधनों को सांसारिक मुक्ति का माध्यम माना जाता है, उस पर भी उसका ही आधिपत्य है। भगवान की मूर्ति और गंगा के जल को मुक्ति का मार्ग मानते हैं, लेकिन कबीर कहते हैं कि यह माया पंडा के यहाँ मूर्ति के रूप में और तीर्थ स्थानों पर जल बनकर विराजमान है। तात्पर्य यह है कि जिस मूर्ति की उपासना और गंगाजल में स्नान से जीव उद्धार की कामना करता है, असल में वह उसे माया के बंधन में बाँधता है। इस माया से घर-द्वार त्यागने वाले जोगी भी मुक्त नहीं है, क्योंकि यह तो उसके साथ उसकी साधना की सहायिका योगिनी के रूप में सदा विराजमान है। यह राजा के घर में रानी बनकर निवास करती है। संसार में अमीर-गरीब सभी माया के बंधन में बँधे हुए हैं। ऐसा नहीं है कि जिसके पास बहुत अधिक संपदा है वही सांसारिकता में आबद्ध है, जिसके पास कुछ भी नहीं है वह भी संसार से विमुख नहीं है। कबीर कहते हैं कि यह माया किसी के यहाँ हीरा के रूप में उपस्थित है, तो किसी के यहाँ फूटी कौड़ी के रूप में। जिसके पास जितनी ही संपदा है, वह उसी में उलझा पड़ा है। यह माया भक्तों के यहाँ भक्तिन के रूप में और तुर्कों के यहाँ तुर्किनी के रूप में जमी हुई है। मतलब यह है कि संसार का कोई भी व्यक्ति माया के बंधन से मुक्त नहीं है। निष्कर्ष रूप में अंत में कबीर कहते हैं कि यह माया जिसने संसार पर ऐसा आधिपत्य जमा रखा है वह साहेब या निर्गुण राम के दास कबीर के हाथ बिकी हुई है, या कहें कबीर के अधीन है।

विशेष:-

- कबीर ने अनेक पदों में सत्व, रज और तम को त्रिगुण कहकर माया के रूप में उसकी आलोचना की है- 'पाखंड रूप रचो इन्ह तिरगुण'। उपनिषदों की मान्यता है कि भौतिक और मानसिक जगत त्रिगुणात्मक है, माया जीव को इसी में बाँधकर रखती है। सत्व, रज और तम के कार्य हैं मनुष्य के भीतर क्रमश: सुख, इच्छा और मूर्खता को जन्म देना। आध्यात्मिक सुख निष्कलुष होता है, उसमें इच्छा या मूर्खता नहीं होती। इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए माया के इस त्रिगुण रूपी बंधन से जीव को आजाद होना पड़ता है।
- इस पद में माया का मानवीकरण किया गया है, और उसे स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। कबीर ने अनेक पदों में नारी को माया का एक रूप बताया है। एक पद में वह कहते हैं- 'नारी नरक का कुंड है, विरला थामे बाग'। इस विचार के कारण कबीर की आलोचना भी हुई है। वैसे कबीर उन नारियों को ही माया का रूप मानते हैं जो पुरुष को सांसारिकता की ओर आकर्षित करती है। पतिव्रता नारी उनकी साधना का आदर्श हैं, तभी तो वह खुद को राम की 'बहुरिया' कहकर संबोधित करते हैं।

5. पंडित बाद वदै सो झूठा।

राम कहे दुनियां गति पावै खाँड कहे मुख मीठा॥

पावक कहे भूख जे दाझै जल कहें त्रिखा बुझाई।

भोजन कहें भूख जे भाजै तौ सब कोइ तिर जाई॥

नर कै संगि सुआ हरि बोलै हरि परताप न जाँनै।

जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं बहुरि सुरति नहिं आनै॥

साँची प्रीति बिखै माया सौं हरि भगतन सौं हाँसी।

कहै कबीर प्रेम नहिं उपजै बाँधै जमपुर जासी॥

शब्दार्थ:- बाद- विवाद, बहस; वदै-कथन करना, कहना; खाँड-गुड; पावक-आग; दाझै-जलना; त्रिखा-प्यास; भाजै-भाग जाए, दूर हो जाए; बिखै-विषय-वासना; जमपुर-यमपुरी, यमराज की पुरी।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- प्रस्तुत पद में कबीर ने नाम-स्मरण के ढोंग को उजागर किया है। सगुण भक्ति में ईश्वर के नाम की महिमा इस रूप में बताई गई है कि यदि मरते समय गलती से भी राम का नाम मुख पर आ गया तो वह व्यक्ति तर जाता है, जैसे अजामिल तर गया था। कबीर ने इस धारणा का खंडन किया है। वह अजपा-जाप का समर्थन करते हैं। वे राम के नाम के स्मरण को आंतरिक अनुभूति के साथ जोड़ने की सलाह देते हैं। विषय-वासनाओं में डूबा मनुष्य केवल ईश्वर का नाम लेकर मुक्त नहीं हो सकता, उसे पहले खुद को माया के बंधन से मुक्त करना होगा।

व्याख्या:- पंडित लोग बहस या विवाद करके जो यह पक्का करते हैं कि राम नाम जपने मात्र से मुक्ति मिल जाएगी, वह सब झूठ है। यदि राम का नाम ले लेने मात्र से दुनिया अर्थात जीवों को मुक्ति मिल जाती तो गुड़ कह देने मात्र से मुँह भी मीठा हो जाता। मतलब यह कि केवल राम के नाम का जाप करने से मुक्ति नहीं मिलती, बल्कि समस्त चेतना को उसकी ओर उन्मुख करना पड़ता है। कबीर अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि यदि भोजन कहने मात्र से भूख भाग जाए तो मैं यह स्वीकार कर सकता हूँ कि राम का नाम लेने मात्र से संसार के सभी जीव तर जाएंगे। मनुष्य के साथ-साथ उसका तोता भी हरि का नाम बोलता है लेकिन उसे हरि की महिमा के विषय में कुछ भी पता नहीं होता। उसका नाम-स्मरण ऊपरी स्तर पर ही होता है। इसी कारण जब कभी वह पिंजरे से निकल कर जंगल की ओर उड़ जाता है, तब फिर कभी हरि-नाम की स्मृति को मन में लेकर नहीं आता है। सांसारिक मनुष्यों को संबोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि तुझे सच्ची प्रीति विषयों और माया से है, और हरि-भक्तों को देखकर तुझे हँसी आती है। इससे ज्ञात होता है कि तुझमें हरि से प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, और तू अंत समय में बँधा हुआ यमपुर जाएगा। यहाँ कबीर कहना चाहते हैं कि ईश्वर के प्रति जिसकी आसक्ति केवल ऊपरी स्तर पर होगी, उसे मुक्ति

नहीं मिलेगी। वह मरने के बाद यमराज के फंदे में बँधकर नरक को जाएगा और जीवन-मरण के बंधन में बँधा रहेगा।

विशेष:-

- नाम-स्मरण के नाम पर व्याप्त पाखंड का खंडन।
- विभिन्न उदाहरणों द्वारा कबीर ने अपने मत को पुष्ट किया है।
- तोते के उदाहरण द्वारा राम-नाम के जाप के तोता-रटंत पद्धति का विरोध किया गया है।

3.2.2 कबीरदास की भक्ति-भावना:

कबीर भक्तिकाल के प्रसिद्ध भक्त कवि हैं। वे निर्गुण मार्ग के ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि और वैष्णव भक्त हैं। वे मूलत: भक्त हैं कवि बाद में। कबीर मध्यकाल के प्रसिद्ध संत रामानन्द के शिष्य हैं। रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण करने के पहले कबीर नाथों-सिद्धों की साधना पद्धति से प्रभावित थे लेकिन रामानन्द के प्रभाव में आकर उनका झुकाव वैष्णव भक्ति की ओर हुआ। 'मेरे संगी द्वै जणा, एक वैष्णव एक राम' और 'कबीर धनि ते सुन्दरी, जिनि जाय वैसनों पूत' कहकर वैष्णवों के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान निवेदित किया है। वैसे कबीर की भक्ति संकीर्ण नहीं है। वह उनके आराध्य के समान ही उदार और व्यापक है। उनके ईश्वर का द्वार सबके लिए खुला है। कबीर के लिए भक्ति ही सर्वस्व है। यह भगवान की अराधना के साथ-साथ उनके लिए सामाजिक एकता की स्थापना की राह भी खोलता है। भगवान की भक्ति में विद्यामान बाह्य-आडंबरों का विरोध करते हुए कबीर सहज-साधना को अपनी भक्ति का मूल घोषित करते हैं। नवधा भक्ति की राह पर चलने वाले कबीर भव-सागर से मुक्ति के लिए केवल राम नाम का सहारा लेते हैं। उनकी भक्ति पर भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद का पर्याप्त प्रभाव है। यही कारण है कि कबीर ईश्वर की एकता पर बहुत अधिक बल देते हैं। कबीर की भक्ति में निम्न विशेषताएँ विद्यमान हैं-

निर्गुण राम की अराधना:- कबीर ने अपने राम की कल्पना निर्गुण ब्रह्म के रूप में की है। उनका ब्रह्म ऐसा अनूप है जिसके न मुख है, न माथा है, न रूप है, न कुरूप है, जो पुष्प की सुगंध से भी

पतला है। वह मन और वाणी से अगोचर, अलख और निरंजन है, उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। वह केवल अनुभव की वस्तु है, इसीलिए उसे कबीर ने कई स्थलों पर 'गूँगे का गुड़' कहा है। वह तमाम सांसारिक गुणों से परे है। उसे सांसारिक गुणों के भीतर बाँधा ही नहीं जा सकता। कबीर ने अपने ब्रह्म को हरि, गोविंद, केशव आदि कई नामों से पुकारा है लेकिन इन सबमें उन्हें सर्वाधिक प्रिय राम है। लेकिन वे बार-बार लोगों को सचेत करते हैं कि यह राम वह नहीं हैं जो दशरथ के घर में पैदा हुए थे- *'दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना। राम नामकर मरम है आना।'* असल में कबीर के राम पुराण-प्रतिपादित अवतार नहीं थे, वे सगुण राम की अपेक्षा कहीं अधिक अगम और अपार हैं। भगवान के जिस गुणमय शरीर की कल्पना की गयी है कबीर को वह मान्य नहीं था। लेकिन अपने निर्गुण राम में वे केवल निषेधात्मक भाव का ही आरोपण नहीं करते। उनके राम सत्व, रज और तमोगुणों से अतीत हैं और इसीलिए निर्गुण हैं। अपने ब्रह्म के विशिष्ट स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कबीर कहते हैं-

"संतौ, धोखा कांसू कहिये।

गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छांडि क्यूँ बहिये।

अजर-अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।

नाति-स्वरूप वरण नहिं जाके घटि-घटि रह्यौ समाई।

प्यंड-ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अंत न होई।

प्यंड-ब्रह्माण्ड छांडि जे काहय कहै कबीर हरि सोई।"

रहस्यवाद :- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार जहाँ कवि अपने अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में अपने प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है उसे रहस्यवाद कहा जाता है। रहस्यवाद की अनेक स्थितियाँ बतायी गयी हैं, जैसे- जागृति, आत्मशुद्धि, आत्म-प्रकाश, जिज्ञासा, प्रयत्न, मिलन की आकांक्षा, अनिवर्चनीयता आदि। रहस्यवाद के दो रूप हैं- साधनात्मक और रहस्यात्मक। कबीर की कविता में रहस्यवाद की तमाम स्थितियों की सघन और व्यापक उपस्थिति है। उन पर साधनात्मक रहस्यवाद का अधिक प्रभाव है। कबीर ने भारतीय

अद्वैतवाद और विदेशी सूफ़ीवाद के दर्शन के मेल से अपने रहस्यवाद को खड़ा किया था। उनके यहाँ आत्मा और परमात्मा का रिश्ता और मिट्टी और घड़े जैसा है जो अद्वैतवाद का विचार है, और आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए अपने को मिटा देने के लिए अमादा है यह सूफ़ीवाद का प्रभाव है। रहस्यवाद का स्वरूप ऐकांतिक और व्यक्तिवादी होता है परंतु कबीर के रहस्यवाद में लोक के कल्याण की भावना भरी हुई है। कबीर ने आत्मा और परमात्मा के भावात्मक मिलन के बहुत ही सजीव और भावुक चित्रों की रचना की है। कबीर कहते हैं-

'बहुत दिनन थे प्रीतम पाए, भाग बड़े घर बैठे आए।

मन्दिर माँहि भया उजियारा,लै सूती अपना पिव प्यारा॥'

हठयोग की साधना :- नाथ पन्थ की साधना-पद्धति को हठयोग कहा जाता है। रामानन्द का शिष्य बनने के पहले कबीर पर इसका बहुत अधिक प्रभाव था। कबीर के अनेकानेक पदों में ब्रह्म प्राप्ति के लिए कुंडलिनी के जागरण का सूक्ष्म वर्णन मिलता है। भक्ति के प्रवाह में वे 'इड़ा', 'पिंगला', 'सुषुम्ना', 'अष्टचक्र', 'मूलाधारचक्र', 'सहस्त्रार चक्र', 'नाद-बिन्दु', 'उन्मनी' आदि का उल्लेख करते हैं। कबीर की भक्ति में हठयोग और मधुरा भक्ति का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। उनके लिए खेचरी जैसी जटिल मुद्रा के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार और केवल राम के नाम के जाप से परमपद को प्राप्त करने में किसी प्रकार का विरोधाभास नजर नहीं आता। कबीर कहते हैं कि ऐ अवधू, मेरा मन मतवाला हो गया है। यह उन्मन की अवस्था में पहुँचकर गगन रस पी रहा है, जिससे सारा जगत प्रकाशमय हो गया है- *'अवधू, मेरा मन मतवारा। उन्मनि चड्या गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।'*

सहज मार्ग का समर्थन:- कबीर ने भले ही हठयोग का समर्थन किया हो लेकिन उनकी भक्ति के मूल में सहज साधना ही है। वे भगवान की प्राप्ति के लिए घर-द्वार छोड़कर वन जाने और कठोर तपस्या करने के पक्षपाती नहीं थे। वैराग्य और योगियों की जटिल साधना का उन्होंने उपहास उड़ाया। उनका दृढ़ विश्वास था कि, ***'घर में जोग, भोग घर ही में। घर तजी वन नहीं जाओ॥'*** कबीर के लिए सहज साधना हरि प्राप्ति का सरलतम और सर्वश्रेष्ठ मार्ग था। उन्होंने विभिन्न प्रकार के अप्राकृतिक उपायों से इन्द्रियों के 'दमन' की जगह सहज साधना से उनके 'शमन' का पक्ष लिया। 'सहज' का

मार्ग अध्यात्म का मार्ग है। नाम से भले ही लगता हो कि यह सरल है लेकिन इस पर चलना आसान नहीं। कहते हैं सीधी रेखा खिंचना सबसे कठिन काम होता है। कबीर ने भी कहा-

"सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।

जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ॥"

राम के प्रति जिसकी सच्ची लगन है उसके लिए तो इस मार्ग पर चलना कठिन नहीं, लेकिन जिनके भीतर जरा सी भी दुविधा है वह तो इस राह पर चल नहीं पायेगा।

सदगुरु की महिमा :- कबीर की भक्ति में सदगुरु की बहुत अधिक महत्ता है। गुरु-सेवा को उन्होंने ने भगवत-भक्ति के समान कहा है। कबीर ने गुरु को गोविंद से अभिन्न माना है और अपनी अनेक साखियों में गुरु को उन्हीं विशेषणों से विभूषित किया है जिनका प्रयोग वे अपने राम के लिए करते हैं। कबीर निरंतर गुरु-स्मरण को महत्त्व देते हैं और उसका मिलना भगवान का अनुग्रह मानते हैं। गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिल सकता और ज्ञान के बिना ईश्वर तक पहुँचना कठिन है। अपनी एक साखी में वे कहते हैं कि सतगुरु के मिलने के पहले तक तो मैं पत्थर की ही पूजा करता रहा, उनके मिलन के बाद ही मैं इस बोझ से मुक्त हुआ। वे सतगुरु के उपकारों की बार-बार चर्चा करते हैं। एक पद में कबीर कहते हैं-

"सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥"

नाम-स्मरण :- कबीर की भक्ति का केंद्रीय शब्द है 'सुमिरण', अर्थात भगवान के नाम और रूप का स्मरण। कबीर को यह महामन्त्र उनके गुरु से प्राप्त हुआ था। यह उन्हें तमाम पाखंडों और कर्मकांडों से बचाता है। कबीर ने राम के नाम के जप को बहुत अधिक महत्त्व अपनी भक्ति में दिया है।मन, वाणी और कर्म से भगवान के नाम के स्मरण से मनुष्य तमाम सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। कबीर का विश्वास है कि राम का नाम माया से बचाता है, काल-भय से मुक्त करता है और निन्दादि के प्रभाव से ऊपर रखता है। भव-सागर को पार करने में राम का नाम नौका की भूमिका अदा करता है। प्रेमपूर्वक राम-नाम के स्मरण से मनुष्य क्या जानवर का भी उद्धार संभव है। कबीर

राम के नाम को ब्रह्म का सार कहते हैं और उनके लिए इसका सुमिरण ही भगवान की भक्ति और भजन है। कबीर के शब्द हैं-

"भगति भजन हरिनांव है, दूजा दुक्ख अपार।

मनसा वाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार॥"

दाम्पत्य भाव की भक्ति :- कबीर की भक्ति में प्रेम तत्त्व की प्रधानता की एक वजह उसमें मिलने वाला दाम्पत्य भाव है। कबीर की भक्ति में यह भाव बहुत ही प्रबल है। उनके पदों में दाम्पत्य भाव के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण है। संयोग पक्ष में मिलन की उत्कट अभिलाषा और वियोग पक्ष में विरह की कारुणिक वेदना का दर्शन कबीर के पदों में मिलता है। वैसे संयोग पक्ष उतना सबल नहीं है जितना वियोग पक्ष। कबीर की भक्ति में सबसे अधिक विभोर कर देने वाला भाव कान्ताभाव का विरह है। भावगम्य भगवान को प्राप्त करने के लिए कबीर उनके समक्ष नारी बन जाते हैं और उसकी विरह की ज्वाला में जलने लगते हैं। विरह की इन लहरों में जितनी ज्वाला है उतनी ही मादकता और तीव्रता भी। कबीर-वाणी में प्रतीक्षा, आतुरता, उन्माद, उन्निद्रता, व्याकुलता, सन्देह, मिलन-प्रयत्न, अभिलाषा आदि भावों की सहज उपस्थिति है। राम के विरह-वाण की तीक्ष्णता का अहसास सबको नहीं हो सकता। उससे उत्पन्न पीड़ा वही समझ सकता है जो उससे आबद्ध हो। कबीर के बालम उनके घर में नहीं है तो उनके शरीर के पोर-पोर में पीड़ा हो रही है। उनके बिना न उन्हें भूख लग रही है और न ही नींद आ रही है। दर्द का आलम यह है कि लगता है कि जान ही चली जाएगी, इसके बचने की केवल एक ही राह है कि बालम से मिलना हो-

"बालम आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहे तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे।
दिल से नहीं दिल लगायो, तब लग कैसा सनेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे।
कामिनी को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपकारी, पिवसों कहै सुनाय रे।

अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे।"

दास्य भाव :- जो मनुष्य संसार को पार करने का इरादा करके प्रीतिपूर्वक 'राम' का स्मरण करता है वह 'दास भक्त' कहलाता है। परमात्मा को अहंकार से मुक्त ऐसे भक्त अत्यंत प्रिय हैं। इसीलिए परमात्मा के समक्ष अपनी दीनता का प्रदर्शन भक्तिकाल के सभी कवियों ने किया है। सूर भी अपने कृष्ण के दास हैं और तुलसी भी। कबीर का स्वर इन सबमें सबसे नीचा है। जो कबीर धर्म के तत्कालीन ठेकेदारों को ललकारते हुए उन्हें 'पांडे' और 'शेख' पुकारते हैं वही जब अपने राम को समक्ष होते हैं तो खुद को कुत्ता तक कहने में परहेज नहीं करते। कबीर परमात्मा का गुलाम बन कर उनके हाथों बिकने को भी तैयार हैं- 'मैं गुलाम मोहिं बेचो गुसाईं'। वे परमात्मा के समक्ष अपने स्वाभिमान को मिटाकर कुत्ता तक बन जाते हैं- *'कबीर कुत्ता राम का, मुतिया मेरा नाउं। गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउं'।*

भगवान की शरणागति :- कबीर अपनी भक्ति के अंत में अपनी समस्त कमजोरियों को स्वीकार करते हुए अपनी समग्र शक्ति और सामर्थ्य को राम के समक्ष समर्पित कर उनके शरणागत हो जाते हैं। उनकी कविता में इस शरणागति के कई स्तर हैं। पहले स्तर पर वे अपनी विवशता का अनुभव करते हुए उसके साथ ही भगवान की शरण में चले जाते हैं- '*कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।'* फ़िर वे राम के प्रति अनन्य भाव का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं-'कहै कबीर सरनाईं आयो, आंन देव नहीं मानौ।' शरणागति के अगले चरण में कबीर अहं का विसर्जन कर मोह-माया के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं- *'मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा। तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा।'* अंत में वे परमात्मा के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण कर मौन ग्रहण कर लेते हैं- *'तेरी गति तूं ही जांनै, कबीरा तो सरनां।* भगवान की शरणागति में चले जाने के पश्चात भक्त को केवल उसी का सहारा रहता है। कबीर को अपने राम के रक्षत्व पर पूर्ण भरोसा है। वे कहते हैं- *'हम न मरैं मरिहै संसारा। हमको मिला जियावन हारा।'*

3.2.3 कबीरदास की सामाजिक चेतना:-

कबीरदास एक ऐसे समय में सक्रिय थे जब भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। भारत के अलग-अलग संप्रदायों के बीच चली आ रही भेदभाव की खाई इस्लाम के राजनीतिक विजय के बाद और अधिक विकृत हो गयी थी। इस्लाम के आगमन के कारण धार्मिक अत्याचार का एक नया दौर आरंभ हुआ। सामाजिक हालात बिगड़ गये। आम इंसान चौराहे पर खड़ा होने के लिए मजबूर था। उसके पास धार्मिक स्तर पर इतने सारे विकल्प उपलब्ध हो गये कि वह अनिर्णय की स्थिति में पहुँच गया। किसी भी राह का चयन उसके लिए कठिन था। ढोंगी बाबा और मौलवियों ने भोले-भाले लोगों को अपने जाल में फ़ँसाकर उनका जीना मुश्किल कर दिया। हिन्दू समाज का बहुत बड़ा हिस्सा वर्णाश्रम व्यवस्था की क्रूरता के साथ-साथ सत्ता पक्ष का उत्पीड़न सहने के लिए भी अभिशप्त था।व्यक्तिगत जीवन की बहुत सारी मुश्किलों में फ़ँसा आम आदमी, चाहे वह जिस भी धर्म और पंथ का हो, धार्मिक कर्मकांड़ों और कुरीतियों के कुचक्र में घिरने के लिए मजबूर था।योगी, पंडित, दिगंबर, उदासी, मौलवी, शाक्त, सन्यासी, तांत्रिक सभी उसे अपने मार्ग की ओर आकर्षित करना चाहते थे। कबीर ने अपने एक पद में धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त इस अराजकता की ओर इस प्रकार संकेत किया है-

इक पठहिं पाठ, इक भ्रमै उदास, इक नगन निरंतर, रहै निवास॥

इक जोग जुगति तन हुंहि खीन, ऍसे रांम नां संगि रहै न लीन।

इक हूँहि दीन एक देहीं दान, इक करै कलापी सुरापांन।

इक तंत-मंत औषध (प्र) वांन, इक सकल सिद्ध राषै अपांन।

इक तीरथ-व्रत करि काय जीति, ऍसे रांम-नांमसूँ करैं न प्रीति।

इक धोम ध्यूंटि तन होंहि स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रांमनाम।

ऐसे समय में कबीर ने अपनी कविता के द्वारा न केवल अपने समाज में फ़ैली अनेकानेक कुरीतियों का साहसिक विरोध किया बल्कि निर्गुण राम की अराधना का सहज मार्ग भी बतलाया।भारतीय समाज में कबीर के द्वारा किये गये इस योगदान की चर्चा उन्हें बहुत अधिक महत्व नहीं देन वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास ग्रंथ में की। उनका कथन है- "उपासना के बाह्य स्वरूप

पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड की प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने (कबीर ने) खरी-खरी सुनाई और राम-रहीम की एकता समझ कर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासनाविधि के कारण मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कार-पूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत अधिक आकर्षित करता था।" (५१)

कबीर के सामाजिक विचारों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

सामाजिक समानता के पक्षधर :- भारत का मध्यकालीन समाज धर्म, संप्रदाय, जाति, अर्थ, भूगोल आदि कई आधारों पर विभाजित था। मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव की ऐसी दीवारें खड़ी कर दी गयीं थी कि उसे तोड़कर सहज मनुष्यता की स्थापना लगभग नामुमकिन था। कबीर ने अपने गुरु रामानन्द की राह पर चलते हुए अपनी रचनाओं के माध्यम से जात-पात, रंग-रूप और जन्म-कर्म-आधारित तमाम भेदभावों को मिटाकर केवल मानवता आधारित समाज की स्थापना का प्रयास किया। शास्त्रीय ज्ञान की उपेक्षा और आंखिन देखी ज्ञान पर विश्वास, राम नाम का जप, सहज साधना की राह, श्रम का सहज स्वीकार, संप्रदायमुक्त मानस और सर्वोच्च मानवीय मूल्य के रूप में प्रेम की स्वीकृति ही इस समाज के निर्माण का आधार था। उन्होंने ने हर उस विचार, प्रथा, मान्यता और संस्कार का विरोध किया जो मनुष्य के बीच अलगाव का कारण बनता है। उन्होंने प्रत्येक इंसान में एक परमात्मा का दर्शन किया और लोगों से अहंकार का त्याग कर आपसे में प्रेम से मिलकर रहने का संदेश दिया- '*साहेब हममें साहेब तुममें, जैसे प्राना बीज में/ मत कर बन्दा गुमान दिलमें, खोज देख ले तन में।*'

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पर बल :- कबीर के समय के एक बड़ी समस्या भारत के दो बड़े धर्मावलम्बियों के बीच का संघर्ष था। उस वक्त हिन्दू जनसंख्या के लिहाज से भारत का सबसे बड़ा समुदाय था जबकि मुसलमानों के पास केन्द्रीय सत्ता थी। दोनों अपने-अपने धर्मों के प्रति आग्रही और दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना से भरे हुए थे। कबीर के जीवन के विषय में प्राप्त सूचनाओं के आधार पर

यह स्पष्ट है कि उनका पालन-पोषण और व्यक्तित्व का निर्माण हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मानने वालों के बीच हुआ था। उनके माता-पिता मुसलमान थे तो गुरु रामानन्द हिन्दू। उनकी संवेदना की निर्मिति इस्लाम से हुई थी तो विचारों का विकास हिन्दुत्व के दर्शन के भीतर। इस कारण कबीर इन दोनों धर्मों की शक्ति और सीमा से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता स्थापना के लिए दो स्तरों पर प्रयास किया। पहले स्तर पर, उन्होंने इन दोनों धर्मों के भीतर विद्यमान धार्मिक विश्वासों का मेल कर अपने सिद्धांत का निर्माण किया। इस क्रम में उन्होंने इस्लाम के एकेश्वरवाद और हिन्दुओं के अद्वैतवाद का समन्वय कर अपने निर्गुण राम के स्वरूप का निर्धारण किया। इस्लाम को मानने वाले सूफ़ियों के प्रेम तत्त्व और हिन्दुओं के ब्रह्म की सर्वव्यापकता के सिद्धांत का मेल कर अपने ईश्वर के उदार चरित्र का निर्धारण किया। दूसरे स्तर पर, कबीर ने इन दोनों धर्मों में विद्यमान कुरीतियों और पाखंडों का उद्घाटन कर उनके बीच एकता की स्थापना का प्रयास किया। हिन्दू धर्म की जाति व्यवस्था का इस्लाम की समानता के सिद्धांत से खंडन किया और बौद्धों के अहिंसा से इस्लाम की हिंसा का विरोध किया। कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सतही एकता नहीं चाहते थे इसलिए उन्होंने समन्वय के साथ-साथ इन धर्मों में विद्यमान कमजोरियों के उद्घाटन में किसी प्रकार का संकोच न करते हुए कहा-

अरे इन दोहुन राह न पाई।

हिंदू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।

वेस्याके पायन-तर सोवै यह देखो हिंदुआई।

मुसलमानके पीर-औलिया मुर्गा मुर्गी खाई।

खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहिमें करै सगाई।

++++++++++++++++++++++++++

हिदुंनकी हिंदुवाई देखी तुरकनकी तुरकाई।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई।

'कौन राह ह्वै जाई' कहकर कबीर दोनों धर्मों की सीमाओं की संकेत करते हैं और इनमें निहित बुराइयों को त्यागकर इनके बीच एकता की स्थापना की राह बताते हैं। उन्होंने समाज के समक्ष मंदिर में बसने वाले राम और मस्जिद में बसने वाले अल्लाह को प्रत्येक स्त्री और पुरुष में खोजने का महान प्रस्ताव रखा। कबीर कहते हैं-

जो खोदाय मसजीद बसतु है और मुलुक केहि केरा।

तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा।

पूरब दिसा हरीकौ वासा पच्छिम अलह मुकामा।

दिलमें खोज दिलहिमें खोजौ इहैं करीमा-रामा।

जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा।

कबीर पोंगड़ा अलह-रामका सो गुरु पीर हमारा।

वर्णाश्रम व्यवस्था पर प्रश्न :- भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही वर्णाश्रम की व्यवस्था रही है। इसके तहत समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह व्यस्था जन्माधारित होती है। इसमें ब्राह्मण को श्रेष्ठ और ज्ञान का अधिकारी, क्षत्रिय को उसके बाद और सत्ता का अधिकारी, वैश्य को तीसरे स्थान पर और व्यापारिक गतिविधियों का कर्त्ताधर्त्ता और शूद्र को सबसे निचले पायदान पर और ऊपर के तीनों वर्णों के सेवक या दास के रूप में चिह्नित किया गया। इस व्यवस्था में निरंतर आ रही बुराइयों के कारण मध्यकाल में हिन्दू जनता का अधिकांश हिस्सा बेहद चिंतनीय और दयनीय जीवन जीने के लिए मजबूर था। कबीर ने इसको देखा भी था और भोगा भी था, इसलिए इनकी रचनाओं में वर्णाश्रम के प्रति जबरदस्त आक्रोश दिखाई देता है। उन्होंने सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों स्तरों पर अपने सरल तर्कों द्वारा इसका विरोध किया। वर्णाश्रम के सिद्धांत के अनुसार भगवान ने यह व्यवस्था बनायी है कि ब्राह्मणी के

गर्भ से पैदा हुआ मनुष्य ब्राह्मण होगा। इसका प्रतिवाद करते हुए लगभग गाली के लहजे में कबीर कहते हैं- *'जो तू बाभन बभनी जाया/ आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।'*

जातिप्रथा का विरोध :- वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर पेशा आधारित विभाजन होने की वजह से भारतीय समाज में जातिव्यवस्था का जन्म हुआ। जाति व्यवस्था ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण में कुछ खास बदलाव नहीं किया लेकिन शेष दो वर्णों को हजारों जातियों में बाँट दिया। कबीर के समय में भारतीय समाज हजारों जातियों में विभाजित था। कबीर इसकी सैद्धांतिक कमजोरियों के साथ-साथ व्यवहारिक कुरूपता को भी देख रहे थे इसलिए साफ़ शब्दों में घोषित किया कि, **"जात न पूछो साधकी, पूछ लीजिए ज्ञान/ मोल करो तरवारका, पड़ा रहन दो म्यान।**" कबीर के लिए कर्म-श्रम-आधारित ज्ञान तलवार की तरह वास्तविक एवं उपयोगी और जन्माधारित जाति म्यान की तरह निरर्थक एवं अनुपयोगी थी।

जातिप्रथा का एक अन्य स्याह पक्ष इस के आधार पर समाज में व्याप्त छूआछूत की भावना थी। इसके तहत ऊँची जाति के लोग अपने से नीची जाति के व्यक्तियों के हाथ का छूआ हुआ खाना नहीं खाते थे। इससे भी भयानक बात यह थी कि शूद्र जातियों की परछाई तक से शेष जातियों के लोग दूर भागते थे। इस वजह से भारत के शूद्र समाज को गाँव से बाहर रहना पड़ता था और मरे हुए जानवर तक का माँस खाना पड़ता था। कबीर ने इस अमानवीयता का विरोध करते हुए लिखा- '***एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा/ एक जोति मैं सब उतपना, कौन बाम्हन कौन सूदा।'***

धार्मिक कर्मकांडों का खंडन :- दुनिया का हर धर्म कर्मकांडों के तामझाम के द्वारा ही प्रसारित और संचालित होता है। कर्मकांडों के बगैर किसी भी धर्म की कल्पना असंभव है। संभव है कि जिस समय किसी धर्म का जन्म हुआ हो उस समय उसके संचालन के लिए बनाये गये रीतिरिवाजों की भूमिका प्रगतिशील रही हो, लेकिन धीरे-धीरे उसमें जड़ता आती जाती है और वह प्रतिक्रियावादी हो जाता है। कबीर के समय में हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, योगी, नाथ सभी धर्मों में कर्मकांडों की प्रधानता थी और इनकी समाज में व्याप्ति इस कदर थी कि आम इंसान का जीना मुहाल हो गया था। कबीर ने पूर्वग्रह मुक्त होकर इन धर्मों में विद्यमान कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया। हिन्दू

धर्म का मूख्य कर्मकांड मूर्तिपूजा है। कबीर ने उसका माखौल उड़ाते हुए लिखा- *'पाहन पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजूँ पहार/ तातै वह चक्की भली पीस खाये संसार।'* इस्लाम में पाँचों वक्त के नमाज और अजान की केन्द्रीय महत्ता है। कबीर ने इस पर व्यंग्य करते हुए लिखा- *'कांकर पत्थर जोरि कै, मस्जिद लई चुनाय/ ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय।'* कबीर योग मार्ग से प्रभावित थे लेकिन योगियों में विद्यमान दिखावे की भावना का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा- *'मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा/ आसन मारि मंदिरमें बैठ, ब्रह्म-छाँड़ि पूजन लागे पथरा/ कनवा फ़ड़ाय जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।'* इसके अलावा कबीर ने हिन्दू और इस्लाम धर्म के बहुत सारे कर्मकांडों का जीवन के छोटे-छोटे उदाहरणों और उनसे निर्मित मासूम तर्कों से इस प्रकार खंडन किया जिससे अधिकांश अशिक्षित जनता की चेतना विकसित हुई। कबीर के सामाजिक विचार आज भी हमारे लिए उपयोगी हैं क्योंकि मध्यकाल की बहुत सारी बुराइयाँ हमारे समय और समाज में भी व्याप्त हैं।

नारी के प्रति पिछड़ी दृष्टि :- समाज के विभिन्न वर्गों की पीड़ा को महसूसने और उस पर मरहम लगाने वाले कबीर नारी के जीवन और उसकी यातना को समझ पाने में सक्षम नहीं हो सके। यह जितनी उनके समय की सीमा थी उससे कहीं ज्यादा स्वयं कबीर की। उन्होंने अनेक स्थलों पर नारी की प्रत्यक्ष-परोक्ष आलोचना की। पारम्परिक रूप से नारी को माया का एक रूप मानने और उससे आम जन को सचेत करने की प्रथा रही है। कबीर ने इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए नारी को 'नरक का कुंड', 'बुद्धि का हरण करने वाली' और नागिन एवं धतूरे के समान जहरीली कहा। वैसी कबीर जिस नारी की आलोचना की करते हैं वह मायारूपी नारी है जो मनुष्यों को अपने जाल में फ़ँसाकर ईश्वरीय भक्ति से दूर ले जाती है- '***माया महाठगिनी हम जानी***'। परंतु माया के रूप में नारी की आलोचना करने के दौरान कबीर का स्वर ऐसा होता है कि उसकी परिधि में आम स्त्री भी चली आती है। कई स्थलों पर तो कबीर घर की स्त्री को भी उतना ही हानिकारक मानते हैं जितना मायारूपी नारी को। एक साखी में वे लिखते हैं- '*कबीर नारि पराई आपणीं, भुगत्या नरकहि जाइ/ आगि आगि सब एक है, तामैं हाथ न बाहि॥*' कबीर के लिए सती होने वाली नारी आदर्श है। सती जैसी क्रूर प्रथा की पीड़ा को नहीं महसूस पाने के कारण ही कबीर सती प्रथा का समर्थन करते हैं। भगवान के भक्ति के चरम पर पहुँच कर कबीर नारी हो जाते हैं और 'दुलहिन गावहूँ मगलाचार'

जैसी भावुक पंक्तियों का सृजन करते हैं। इससे कभी-कभी लगता है कि वे नारी के दुख को कुछ हद तक समझते हैं। यह संभव है कि स्त्री की सामाजिक स्थिति को लेकर कबीर के मन में दुविधा की स्थिति हो लेकिन समाज की अन्य कुरीतियों का स्पष्ट विरोध करने वाले कबीर से स्त्री के दर्द की स्पष्ट अभिव्यक्ति की अपेक्षा करना अनुचित नहीं है।

3.3 जायसी : सामान्य परिचय

जायसी भक्तिकाल की निर्गुण धारा के प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनका पूरा नाम मलिक मोहम्मद जायसी था। ये उत्तर प्रदेश के जायस नामक स्थान में रहते थे। जायसी का जन्म जायस में हुआ था या ये कहीं बाहर से आकर बसे थे इसको लेकर भ्रम की स्थिति है। स्वयं जायसी ने बाहर से आकर जायस में बसने की बात लिखी है- *'जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आय कवि कीन्ह बसानू।'* अपने जन्म के संबंध में उन्होंने लिखा है- '*भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर बा बदी॥*' परंतु इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इनके जन्म के समय के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जायसी अपने जमाने के प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर माने जाते थे। इनके गुरु के रूप में अनेक सूफ़ी संतों का जिक्र होता है। आचार्य शुक्ल ने शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) को जायसी का गुरु बताया है। जायसी पर शोध करने वाले विजयदेव नारायण साही का मानना है कि ये किसे सम्प्रदाय में विधिवत दीक्षित नहीं हुए थे। जायसी गाजीपुर और भोजपुर के राजा जगद्देव और अमेठी के राजा के दरबार में भी रहे। अमेठी में ही इनकी मृत्यु सन 1542 ई. में हुई थी।

जायसी बेहद कुरूप थे जिसकी पीड़ा कई स्थलों पर अभिव्यक्त होती है-*'मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु/ जेई मुँख देखा तेई हँसा सुना तौ आये आँसु।'* उनकी एक आँख में रोशनी नहीं थी और एक कान से सुनाई भी नहीं देता था। ऐसी किंवदन्ती है कि शेरशाह इनके रूप को देखकर एक बार हँस पड़ा था जिस पर जायसी बोले- '*मोंह का हँसेसि कि हँसेसि कोहारहि।*' जायसी भक्तिकाल के अकेले प्रमुख कवि हैं जिन्हें अपने कवि होने का अभिमान है। वे सूफ़ी बाद में हैं कवि पहले। अपने

कवि, और श्रेष्ठ कवि होने का जिक्र जायसी ने 'पद्मावत' में बार-बार की है। 'पद्मावत' के अंत में वे लिखते हैं-

'मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना सो पेम पीर गा पावा।।

जोरी लाइ एकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई॥'

विजयदेव नारायण साही ने जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत कवि कहा है। इनका रचनाकाल बाबर से लेकर शेरशाह के शासनकाल तक फ़ैला हुआ है। इनकी कुल तीन रचनाओं का पता चलता है-'आखिरी कलाम', 'अखरावट' और 'पद्मावत'। 'पद्मावत' जायसी की अंतिम रचना है और उनकी प्रसिद्धि का आधार स्तम्भ भी।

आखिरी कलाम:- इस पुस्तक की रचना के संबंध में जायसी ने लिखा है- *'नौ सौ बरस छतीस जो भये। तब एहि कथा के आखर कहे।'* तात्पर्य यह कि इसकी रचना हिजरी सन 936 अर्थात 1530 ई. में हुई थी। 'आखिरी कलाम' में बादशाह बाबर (शासनकाल- 1526-1530 ई.) की प्रशंसा है जो उचित ही है। जायसी ने इसकी रचना मुख्य रूप से इस्लाम में उल्लेखित कयामत के वर्णन के लिये किया था। सूफ़ी परंपरा के अनुसार इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा, गुरु की वंदना, जायस नगर का वर्णन भी मिलता है।

अखरावट :- इसका रचनाकाल स्पष्ट नहीं है। यह 1520 ई. से लेकर 1540 ई. के बीच कभी लिखी गयी थी। इसमें वर्णमाला के अक्षरों को लेकर सिद्धांत से भरी चौपाइयाँ लिखी गयी हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर और प्रेम आदि के विषय में विचार प्रकट किये गये हैं।

पद्मावत :- जायसी की प्रतिष्ठा का अक्षय स्रोत यही रचना है। इसके लेखन के आरंभ के विषय में कवि ने लिखा है कि-'*सन नौ सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।*' मतलब यह कि 927 हिजरी यानी सन 1520 में 'पद्मावत' का लेखन आरंभ हुआ। इसकी रचना मसनवी पद्धति के अनुसार हुई है इसलिए आरंभ में बादशाह शेरशाह की प्रशंसा है। शेरशाह ने दिल्ली पर सन 1540

से 1545 तक शासन किया था। इससे पता चलता है कि 'पद्मावत' की रचना भले ही सन 1520 में प्रारंभ हो गयी हो लेकिन इसकी समाप्ति शेरशाह के शासनकाल में ही हुई होगी। विद्वानों का मानना है कि इस रचना का लेखन सन 1540 तक सम्पन्न हो गया था।

'पद्मावत' दोहा-चौपायी शैली में लिखा गया एक प्रबंधकाव्य है। इसकी कथा का विभाजन 'खण्डों' में किया गया है। इसमें कुल 57 खण्ड हैं। यह प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें चितौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम कथा कही गयी है। रत्नसेन जब हीरामन नामक तोते से पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनता है तब अपने विवाहिता पत्नी नागमती को घर पर छोड़कर उसको प्राप्त करने चल पड़ता है। अनेक बाधाओं को पार करते हुए रत्नसेन पद्मावती से विवाह करने में सफ़ल होता है और उसे लेकर वापस चितौड़ पहुँचता है। इतनी कथा 'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध पक्ष है जिसमें कल्पना का ज्यादा मेल है। चितौड़ पहुँचकर रत्नसेन अपनी दोनों रानियों के साथ सुख से रहने लगता है। लेकिन राघवचेतन नामक एक पंडित रत्नसेन द्वारा राज्य से निकाल दिये जाने के बाद दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन के पास चला जाता है और उसके समक्ष पद्मावती के रूप का वर्णन कर उसे चितौड़ पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करता है। अलाउद्दीन आक्रमण करता है और धोखे से रत्नसेन को बंदी बना कर दिल्ली ले आने में सफ़ल हो जाता है। पद्मावती के कहने पर गोरा, बादल नामक दो वीर रत्नसेन को छुड़ा लाने में सफ़ल हो जाते हैं। इस बीच रत्नसेन के बंदी बनाये जाने की खबर सुन कुंभलनेर के राजा देवपाल ने अपनी एक दूती के माध्यम से पद्मावती के पास प्रेम प्रस्ताव भेजा। चितौड़ लौटने के बाद जब इसकी सूचना रत्नसेन को मिली तो उसने देवपाल पर आक्रमण कर दिया और इसी युद्ध में मारा गया। रत्नसेन का शव चितौड़ लाया गया और उसकी दोनों रानियाँ पति के शव के साथ सती हो गयीं। 'पद्मावत' का उत्तरार्द्ध पक्ष ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है।

'पद्मावत' में प्रेमगाथा का प्रौढ़ रूप देखने को मिलता है। इसमें कल्पना और इतिहास का अद्भुत मेल है। सूफ़ी सिद्धांत के प्रतिपादन के साथ-साथ भारतीय साहित्य रूपों का भी बेहतर सम्मिश्रण इसमें हुआ है। शुक्लजी के अनुसार यह 'हिन्दू हृदय के मर्म' को स्पर्श करने वाली रचना है।

नागमती का विरह वर्णन भारतीय नारी की दारुण दशा को सजीव कर देता है। इस कथा में जायसी ने प्रेम का ऐसा उदात्त चित्र प्रस्तुत किया जिसमें हर तरह की सांसारिक सीमाओं को पार कर जाने की क्षमता है। यह मानवता को प्रतिष्ठित करने वाली रचना है।

3.3.1 पाठ्यांश : जायसी

प्रस्तुत पाठ्यांश मलिक मुहम्मद जायसी की प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' के अंतिम खण्ड 'उपसंहार खण्ड' से लिया गया है। इस खण्ड की महत्ता इस बात में है कि इसके माध्यम से ही पद्मावत के प्रतीकात्मक अर्थ का संधान होता है। पहली चौपाई की तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठवीं पंक्ति में उपलब्ध निर्देशों के आधार पर बाद के आलोचकों ने चितौड़ को तन, राजा को मन, सिंहल द्वीप को हृदय, पद्मिनी को बुद्धि, सुआ को गुरु, नागमती को दुनिया धंधा, राघव दूत को शैतान और अलाउद्दीन खिलजी को माया का प्रतीक मानकर इस संपूर्ण महाकाव्य की सूफ़ी मत के अनुसार भाष्य प्रस्तुत किया।

'उपसंहार खण्ड' की प्रमाणिकता-अप्रमाणिकता को लेकर भी विद्वानों के बीच काफ़ी वाद-विवाद हुआ। माताप्रसाद गुप्त और वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वान इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। उनका तर्क यह है कि यह खण्ड पद्मावत की उपलब्ध सभी प्रतियों में नहीं मिलता और जिन एक-दो प्रतियों में मिलता है वे 'पाठ-परम्परा में सबसे नीची पीढ़ी' में आती हैं। इस खण्ड में निर्दिष्ट अन्योक्ति की व्याख्या के पद्मावत पर पूर्णरूपेण घटित न होने को भी इसके प्रक्षिप्त होने का कारण बताया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और गोविन्द त्रिगुणायत जैसे विद्वान इन तर्कों को नहीं मानते। गोविंद त्रिगुणायत का मानना है कि हिन्दू समाज में और खासकर हिन्दू विद्वानों के बीच अपनी रचना को सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए ही जायसी ने ग्रंथ के अंत में सूफ़ी और योगशास्त्र के गम्भीर सिध्दांतों की प्रतिष्ठा की। इसीलिए उन्हें अन्योक्ति और समासोक्ति शैलियों का आश्रय लेना पड़ा है। अन्योक्ति को हिन्दू समाज में लोकप्रिय बनाने के लिए ही इन अवतरणों में उसकी व्याख्या भी दी गयी है। इस खण्ड की भाषा में जैसा प्रवाह और अभिव्यक्ति-सौष्ठव है उसको भी देखकर यह जायसी कृत ही लगता है।

उपसंहार खण्ड

1. मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई॥
औ मन जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
कहाँ सो रतनसेन अब राजा। कहाँ सुआ अस बुधि उपराजा॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघव जेइ कीन्ह बखानू॥
कहँ सुरूप पदमावति रानी। काइ न रहा जग रही कहानी॥
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू॥
केइ न जगत जस बेंचा केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल॥1॥

शब्दार्थ: मुहमद कवि- मुहम्मद कवि अर्थात स्वयं जायसी। जोरी- जोड़ना। लाइ-लगाकर। रकत- रक्त, खून। लेई- गोंद। गाढ़ि- गहरा। प्रीति- प्रेम। नयनन्ह- आखों के। भेई- भिगोना। औ- और। मकु- । महं-में। चीन्हां- पहचानना। उपराजा-उत्पन्न किया। अस-ऐसा। बुधि- बुद्धि। कहँ- कहाँ। सुरूप- सुंदर। काइ न रहा- कोई भी अब नहीं रहा। धनि सोई- महान वही है। जस- जिसकी। कीरति- कीर्ति, यश। केइ न जगत जस बेंचा- किसने इस संसार में थोड़े के लिए अपना यश नहीं खोया? अर्थात बहुत से लोग ऐसे हैं। हम्ह सँवरै- हमें याद करेगा। दुइ बोल- दो शब्दों में, दो।

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ भक्तिकाल की निर्गुण धारा की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी की प्रतिनिधि रचना 'पद्मावत' के अंतिम खंड उपसंहार खण्ड से ली गयी हैं। जायसी ने हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परंपरा को शिखर पर पहुँचा दिया। इन पंक्तियों में कवि ने अपनी रचना के उद्देश्य को प्रतिपादित किया है।

प्रसंग:- जायसी हिन्दी के अकेले प्रसिद्ध भक्तिकालीन कवि हैं जिन्हें अपने कवि होने का गौरव-बोध था। प्रस्तुत पद में जायसी अपनी कविता की महत्ता की प्रतिष्ठा कर रहे हैं। इन पंक्तियों में उन्होंने कथा का उपसंहार करते हुए अपने प्रबंध विधान के हेतुओं की ओर भी संकेत किया है।

व्याख्या: मुहमद कवि अर्थात स्वयं जायसी ने समय-समय पर लिखे गए प्रसंगों को जोड़कर एक व्यवस्थित प्रबंध के रूप में 'पदमावत' की रचना कर सबको सुनाया है। इस प्रबंध को जिसने भी सुना वह 'प्रेम की पीर (पीड़ा)' से पुलकित हुआ है। इसके विविध प्रसंगों, घटनाओं और कथा-सूत्र को कवि ने रक्त की लेई से जोड़ा है। इसमें जिस प्रगाढ़ प्रेम का वर्णन है वह नयनों के जल में भिंगोकर रचित है अर्थात यह रचना कठिन विरह-प्रधान है। मैंने जानबूझ कर इस प्रबंध को गीत-संगीत में बाँधा है जिससे कि यह अमर हो जाये और इस जगत में यह मेरी पहचान बन कर रहे। जायसी की प्रकट लालसा थी कि 'पदमावत' के माध्यम से उसकी कीर्ति अमर हो जाये। पता नहीं अब रतनसेन नामक वह राजा कहाँ है और न जाने अब वह हीरामन तोता कहाँ है जिसने उसे ऐसी बुद्धि दी जिससे वह पदमावती के प्रेम में पड़ गया। अलाउद्दीन नामक सुलतान का भी अब कहीं अता-पता नहीं है और न ही उस राघव चेतन का ही कहीं अस्तित्व है जिसने अलाउद्दीन के समक्ष पदमावती के सौंदर्य का बखान किया था। और सबसे बड़ी बात यह कि इस संसार में अब वह परम सुन्दरी पदमावती भी नहीं है जो इस समस्त कथा के केन्द्र में थी। इस कथा का कोई भी पात्र आज जीवित नहीं है, यदि आज इस जग में कुछ शेष है तो केवल उनकी कहानी शेष है। वास्तव में इस संसार में वही मनुष्य धन्य है जिसकी कीर्ति अमर है, क्योंकि मनुष्य तो मर जाता है लेकिन उसका यश अमर रहता है। जिस प्रकार फ़ूल तो नष्ट हो जाता है लेकिन उसकी खुश्बू बची रह जाती है।

इस जगत में ऐसा कौन है जिसने यश को बेचने और खरीदने की चेष्टा नहीं की है। तात्पर्य यह कि इस संसार में हर व्यक्ति यश की लिप्सा रखता है और मैंने भी इसी यश की कामना के लिए इस ग्रंथ की रचना की है। ताकि भविष्य में जो कोई भी इस कहानी को पढ़े वह हमें स्मरण करे और हमारे बारे में दो बातें कहे।

विशेष:

प्रेमपीर- यह सूफ़ी साधना का केंद्रीय शब्द है। गुरु कृपा से जब सूफ़ी साधक दिव्य सौंदर्य के मूर्त रूप उस परमात्मा की झलक पा लेने के पश्चात वापस संसार की ओर प्रवृत होता है तब उसका ह्रदय प्रेम की पीर या आध्यात्मिक विरह वेदना से व्यथित हो उठता है।

उपर्युक्त चौपाई की दूसरी पंक्ति में कथा के सूत्रों को जोड़ने के लिए रक्त की लेई का रूपक जायसी पर अरबी-फ़ारसी प्रभाव को दर्शाता है। भारतीय परंपरा में रक्त की लेई जैसे रूपकों का प्रयोग कहीं नहीं दिखता। जायसी ने इस रूपक का प्रयोग 'पदमावत' की रचना में किये गये अपने कठिन श्रम को उद्घाटित करने के लिए किया है।

2. मुहमद बिरिध बैस जो भई। जोवन हुत, जो अवस्था गई।।

बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनहि देइ नीरू॥

दसन गए कं तुचा कपोला। बैन गए अनरुच देइ बोला॥

बुधि जो गई देइ हिय बौराई। गरब गएउ तरहुँत सिर नाई॥

सरवन गए ऊँच जो सुना। स्याही गई सीस भा धुना॥

भँवर गए केसहि देई भूवा। जोबन गएउ जीति लेइ जूवा॥

जौ लहि जीवन जोबन साथा। पुनि सो मीचु पराए हाथा॥

बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।

बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस॥2॥

शब्दार्थ: बिरिध- वृद्ध। बैस- वयस, उम्र। जोबन- यौवन। खीन-क्षीण। सरीरू- शरीर। दिस्टि- दृष्टि, नैनहिं- आखों में। नीरू- नीर, जल। कपोला- कपोल, गाल। बैन-वाणी। अनरुच- अरुचिकर। हिय- हृदय, दिल। बौराई-बावलापन। तरहुंत- नीचे की ओर। नाई- झुकाना। धुना- धुनी रूई। भूवा- काँस के फ़ूल, घुवा। सीस- शिर। रिस- क्रोध से। केइ यह दीन्ह असीस- किसने व्यर्थ ऐसा आशीर्वाद दिया।

संदर्भ: उपरोक्त

प्रसंग: प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने अपनी वृद्धावस्था का बहुत ही मार्मिक चित्र खिंचा है जिससे उनके जीवन के अंतिम दिनों की पीड़ा की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह पता चलता है कि जायसी

ने 'पदमावत' के अंतिम खंडों की रचना अपनी वृद्धावस्था के समय की थी। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि जायसी कम-से-कम सत्तर वर्ष की उम्र तक तो अवश्य ही जीये थे।

व्याख्या: मुहम्मद कवि कहते हैं कि वृद्धावस्था आ गयी है, यौवन जो कभी छाया रहता था वह अवस्था अब गुजर चुकी है। शरीर में पहले जो बल हुआ करता था वह इस शरीर को क्षीण (कमजोर) करके चला गया है। आंखों से दृष्टि चली गयी है या मंद पड़ गयी है और उसकी जगह पर नेत्रों में पानी ढल आया है। दातों के झर जाने से कपोल (गाल) पिचक गये हैं, मधुर वचन चले गये हैं और अब मेरी वाणी किसी को अच्छी नहीं लगती। मेरी बुद्धि क्षीण हो गयी है और इस वजह से मेरा ह्रदय बावला हो गया है, मेरा सारा गर्व नष्ट हो गया है जिससे मेरा सिर झुक गया है। कानों के सुनने की शक्ति समाप्त हो गयी है और अब मुझे ऊँचा सुनाई पड़ने लगा है, मेरे बालों का कालापन भी समाप्त हो गया है और वे धुनी हुई रुई के समान सफ़ेद दिखाई पड़ने लगे हैं। बालों की भंवरों जैसी कालिमा चली गयी है और वे धुआँ जैसे सफ़ेद हो गये हैं। यौवन जीवन का जुआ जीत कर चला गया है। असल में जीवन का आनन्द तभी तक है जब तक यौवन है उसके बाद तो वृध्दावस्था में दूसरे के सहारे रहना मृत्यु के समान है।

बूढ़ा हो जाने के बाद जब अनचाहे ही सिर हिलता रहता है तो उसे देखकर ऐसा लगता है जैसे वह बूढ़ा बूढ़ापा आने के क्रोध में अपना सिर धुन रहा हो। पता नहीं किसने मुझे बूढ़ा होने का आशीष दिया था अर्थात लम्बी उम्र का आशीर्वाद दिया था जिसका दुष्परिणाम आज मुझे भुगतना पड़ रहा है।

विशेष: इस पद में वृद्धावस्था की दारुण व्यथा के चित्रण के माध्यम से जगत के मिथ्यात्व की ओर संकेत किया गया है।

3.3.2 जायसी का काव्य-वैभव :-

हिंदी की सूफ़ी काव्यधारा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि जायसी हैं। सूफ़ी मत में दीक्षित होने के बावजूद उनके भीतर कवि होने का गर्व-बोध है। उनकी कविता ईश्वरीय वरदान नहीं बल्कि एक

सचेत प्रयास है। यह उनके कविता की सुगठित संरचना से भी पता चलता है। आइए जायसी की काव्यगत विशेषताओं पर विस्तार से विचार करते हैं-

कथानक: 'पद्मावत' एक मार्मिक प्रेम-कहानी है जिसमें कल्पना और इतिहास का सुंदर और रोचक समन्वय है। पद्मावत की कथा के दो हिस्से हैं-इसका पूर्वार्द्ध प्रेम की अलौकिक अनुभूति से दीप्त है और उतरार्द्ध यथार्थ की उच्च भूमि पर अवस्थित है। जायसी ने इस कथा को कहने के लिए प्रबंध-काव्य की परंपरागत संरचना का ही अनुसरण किया है। इसमें सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती और चितौड़गढ़ के राजा रत्नसेन की प्रेमकथा है। कथा के आरंभ में पद्मावती के जन्म और उसके युवा होने का वर्णन है। पद्मावती के युवती होने के बाद भी गन्धर्वसेन अहंकार की वजह से वर पक्ष की ओर से आए किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते हैं। पद्मावती अपनी काम-विकलता और पिता के स्वभाव की चर्चा अपने अत्यंत ज्ञानी तोते हीरामन से करती है। हीरामन उसके लिए योग्य वर खोजने का वादा करता है, लेकिन यह खबर राजा गन्धर्वसेन को लग जाती है और वह उसे मार डालने का आदेश देता है। पद्मावती के निवेदन पर उसकी जान तो बच जाती है, लेकिन आशंकित हीरामन एक दिन महल छोड़कर भाग जाता है। जंगल में एक बहेलिया उसे पकड़ लेता है और चितौड़ के एक ब्राह्मण को बेच देता है। ब्राह्मण उसके गुण से परिचित होकर अधिक धन के लिए उसे चितौड़ के राजा रत्नसेन को बेच देता है। एक दिन जब रत्नसेन शिकार पर गया है, तब उसकी रूपगर्विता रानी नागमती तोते से पूछती है कि क्या तुमने मुझसे सुंदर नारी इस दुनिया में देखी है! हीरामन ने पद्मावती के सौंदर्य का सरस वर्णन कर दिया। आशंका, ईर्ष्या और क्रोध से दग्ध नागमती ने तोते को मार डालने का आदेश दिया। नौकरानी मारने के लिए ले गई लेकिन राजा के भय से मारा नहीं। रत्नसेन ने वापस लौटते ही तोते के बारे में पूछा। हीरामन सामने लाया गया और उसने सारा वृतांत कह सुनाया। पद्मावती के रूप-सौंदर्य का वर्णन सुन रत्नसेन मूर्च्छित हो गया। चेतना लौटते ही वह योगी बनकर पद्मावती को खोजने सिंहलद्वीप के लिए निकल पड़ा। कलिंग के राजा की मदद से सोलह हजार कुँवरों के साथ अनेक कष्टों को सहते हुए सात समुद्र

पारकर अंतत: वह सिंहलद्वीप पहुँचा। हीरामन यह बताकर कि बसंत पंचमी को पद्मावती महादेव के मंदिर में पूजा के लिए आएगी, पद्मावती के पास चला गया। रत्नसेन उसी मंदिर में ध्यानलीन हो गया। पद्मावती मंदिर में पूजा करने के लिए आयी और जब उसका सामना रत्नसेन से हुआ तो रत्नसेन उसे देखकर मूर्च्छित हो गया। चैतन्य होते ही पश्चाताप में रत्नसेन आत्मदाह करने के लिए तत्पर हुआ, तब शिव-पार्वती ने उसके प्रेम की परीक्षा लेकर उसे सिहंलद्वीप में प्रवेश के लिए एक सिद्ध गुटिका दी। गुटिका की मदद से रत्नसेन ने योगियों के साथ सिंहलद्वीप को घेर लिया और पद्मावती की माँग की। युद्ध के पश्चात रत्नसेन बंदी बना लिया गया। सूली पर चढ़ाने के लिए जाते हुए रत्नसेन की रक्षा शिव ने भाट बनकर की। उन्होंने राजा को समझाया और अंतत: उसने रत्नसेन और पद्मावती का विवाह करा दिया और वे सुख से सिंहलद्वीप में रहने लगे। इधर वियोग में जल रही नागमती ने एक पक्षी से रत्नसेन के पास संदेशा भिजवाया। उस संदेशा को सुनकर रत्नसेन को चितौड़ की याद आ गयी और उसने वापस लौटने का निश्चय किया। तमाम अलौकिक घटनाओं और बाधाओं का सामना करते हुए रत्नसेन चितौड़ पहुंचा और दोनों रानियों के साथ सुख से रहने लगा। यहाँ तक की कथा 'पद्मावत' का पूर्वार्द्ध है, जिसमें कल्पना और अलौकिकता का खूब प्रयोग हुआ है। इसमें अनेक आध्यात्मिक संकेत भी हैं।

रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नाम का एक पंडित रहता था, जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन राजा ने दूज की तिथि पूछी। राघव ने कहा-आज, अन्य पंडितों ने कहा-कल। सही तिथि कल की थी, लेकिन राघव ने यक्षिणी के प्रभाव से उसी दिन आसमान में दूज का चाँद दिखा दिया। पर अगले दिन दूज का चाँद फिर दिखा। राजा ने इस छल के लिए राघव को देश निकाला दे दिया। पद्मावती ने अनिष्ट की आशंका से राघव को अपने पास बुलाया और उसे प्रसन्न करने के लिए अपने हाथ का एक कंगन दे दिया। गवाक्ष से जब वह कंगन दे रही थी, तब राघव ने उसके अपूर्व सौंदर्य को देख लिया और अचेत हो गया। चैतन्य होते ही वह दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के पास पहुँचा और उसके समक्ष पद्मावती के अपूर्व सौंदर्य का वर्णन किया। अलाउद्दीन ने एक दूत रत्नसेन के पास इस आशय के साथ भेजा कि वह अपनी रानी उसके पास भेज दे। रत्नसेन के इंकार

करने पर उसने चितौड़ पर आक्रमण कर दिया। आठ वर्ष तक वह गढ़ को घेरे रहा लेकिन उसे जीत नहीं पाया। उधर दिल्ली पर हरेव लोगों ने आक्रमण कर दिया। बेचैन अलाउद्दीन ने रणनीति बदल दी। उसने रत्नसेन के पास प्रस्ताव भेजा कि उसे रानी नहीं चाहिए, केवल वे पाँच रत्न चाहिए जो उसे समुद्र से मिले थे। रत्नसेन इस छल को समझ नहीं पाया और अलाउद्दीन को गढ़ में बुला लिया और कई दिनों तक उसकी आवभगत करता रहा। एक दिन अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मावती को देख लिया और उसके सौदर्य के प्रभाव से वहीं मूर्च्छित हो गया। उसने वापस लौटने की इच्छा जतायी। जब रत्नसेन उसे छोड़ने गढ़ के दरवाजे पर पहुँचा तो धोखे से अलाउद्दीन ने उसे कैद कर लिया और उसे दिल्ली ले आया। कुंभरनेर का राजा राव देवपाल रत्नसेन से ईर्ष्या करता था। इस परिस्थिति का लाभ लेते हुए उसने एक दूती के द्वारा पद्मावती के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह देवपाल को अपना ले। पद्मावती ने दूती को अपमानित कर वापस लौटा दिया और रत्नसेन की मुक्ति की योजना बनाने लगी। पद्मावती ने गोरा बादल के साथ एक योजना बनाई। उसने सोलह सौ पालकियों में सोलह सौ योद्धाओं और एक लोहार को दिल्ली की ओर प्रस्थान कराया और अलाउद्दीन के पास यह संदेशा भिजवाया कि पद्मावती उससे मिलने आ रही है। दस लाख मोहरों का लोभ देकर पालकियाँ दिल्ली के किले में पहुँच गईं। लोहार ने हथकड़ी काट दी और रत्नसेन योद्धाओं के साथ चितौड़ के लिए निकल पड़ा। गोरा कुछ योद्धाओं के साथ बादशाह की सेना का सामना करते हुए शहीद हो गया, लेकिन रत्नसेन सकुशल चितौड़ पहुँच गया। चितौड़ पहुँचकर रत्नसेन को देवपाल की कुटिल योजना पता चली। क्रोध में वह देवपाल से युद्ध करने निकल पड़ा। द्वद्व-युद्ध में दोनों मारे गए। बादल ने चितौड़ की रक्षा का प्रण किया। उसने शाही फ़ौज का सामना किया लेकिन पराजित हुआ। इधर दोनों रानियाँ रत्नसेन के शव के साथ सती हो गईं। अलाउद्दीन जब गढ़ में पहुँचा तो सबकुछ जल कर राख हो चुका था। जायसी अंत में लिखते हैं- 'जौहर भइ सब इस्तरी पुरुष भए संग्राम/ बादसाह गढ़ चूरा चितउर भा इस्लाम ॥'

जायसी ने यह कथा बहुत ही करीने से रची है। प्रबंध-काव्य के अनुरूप कथा आदि, मध्य और अंत में विभाजित है। पद्मावती के विवाह तक की कथा आरंभ है, विवाहोपरांत चितौड़ तक की कथा

उसका मध्य और राघवचेतन के दरबार से निकलने से लेकर पद्मावती सहित अन्य रानियों के सती हो जाने तक की कथा उसका अंत है। रत्नसेन और पद्मावती की मुख्य कथा के प्रवाह को तोता की कथा, महादेव-पार्वती का वृतांत, नागमती का विरह-वर्णन, राघवचेतन का छल, गोरा-बादल की वीरता, देवपाल और उसकी दूती का विश्वासघात जैसी सहायक कथाओं ने विकसित किया है। ये सहायक कथाएँ मुख्य कथा को पुष्ट और पूर्ण करती हैं। पद्मावती का नखशिख वर्णन, सिंहलद्वीप और चितौढ़गढ का वर्णन, नागमती का बारहमासा वर्णन और गोरा-बादल की वीरता जैसे रसात्मक वस्तु वर्णनों के द्वारा कथानक में अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि हुई है। कथा में सुसम्बद्धता के साथे ही स्वाभाविकता, उपदेशात्मकता और मार्मिकता का सुंदर संयोजन हुआ है। 'पद्मावत' में इतिहास, लोक जीवन, सूफ़ी सिद्धांत, लौकिक प्रेम और आध्यात्मिक संकेतों का अद्भुत सम्मिलन है। घटना का प्रवाह अत्यंत क्षिप्र है। सक्रिय प्रेम और त्याग की यह श्रेष्ठ रचना है। प्रेम की बलिवेदी पर सभी अपना प्राण अर्पित कर देते हैं। यह कहानी आम आदमी को ध्यान में रखकर लोकभाषा में लिखी गई है। यह एक मुसलमान कवि द्वारा हिंदू घर की कही गई कथा है। इसमें धार्मिक संकीर्णता के ऊपर मानव-प्रेम की प्रतिष्ठा की गई है।

महाकाव्यत्व: आचार्य विश्वनाथ द्वारा बताए गए महाकाव्य के अधिकांश गुण 'पद्मावत' में समाहित हैं। इसका नायक धीरोदात्त गुणों से संपन्न क्षत्रिय कुल में उत्पन्न वीर योद्धा और सच्चा प्रेमी रत्नसेन है। इसकी नायिका सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती अलौकिक रूप-सौंदर्य की मल्लिका है। शृंगार और वीर नामक प्रधान रसों के साथ ही अद्भुत, शांत, करुण आदि रसों का समायोजन इसमें हुआ है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि फलों का प्रतिपादन हुआ है, लेकिन उसमें भी मोक्ष की प्रधानता है। महाकाव्य की तरह इसकी कथा सर्गों में विभाजित नहीं है, लेकिन घटनाओं और वस्तु-वर्णनों के आधार पर इसे खंडों में विभक्त किया गया है। महाकाव्य में वस्तु-वर्णनों की प्रधानता रहती है, जायसी ने दुर्ग, नगर, यात्रा, रात्रि, समुद्र, पर्वत, खाद्य-पदार्थों, आचार-व्यवहार, नायिकाओं के रूप-सौंदर्य आदि का मनोहारी और सजीव वर्णन किया है। फ़ारसी

महाकाव्यों की मसनवी पद्धति का अनुसरण कर जायसी ने इस रचना को महाकाव्य की कसौटी पर कसने का सफल प्रयास किया है। इसमें भारतीय कथा साहित्य में प्रचलित अनेक कथानक रुढ़ियों का प्रयोग हुआ है, लेकिन उसमें भी जायसी ने अपनी जादुई कलम से नवीनता का संचार कर दिया है। रत्नसेन, पद्मावती, रत्नसेन और अलाउद्दीन के चरित्रों के निर्माण में भी कवि को अपार सफ़लता मिली है। इस आधार पर पद्मावत एक चरित-काव्य है। नागमती और पद्मावती के भीतर एक आम भारतीय स्त्री की छवि निखर कर आती है। इनमें ईर्ष्या, कलह, प्रतिद्वंद्विता और पातिव्रत्य के स्वाभाविक गुण हैं। रत्नसेन एक आदर्श-प्रेमी है तो अलाउद्दीन एक रूप-लोभी क्रूर राजा। दोनों के परस्पर विरोध चरित्रों के द्वंद्व से जायसी ने मानव-मन की विविध छवियाँ रची हैं। गोरा-बादल की वीरता का वर्णन पद्मावत की उपलब्धि है। इस महाकाव्य में ऐतिहासिक और लोक-कथाओं का सुंदर समन्वय हुआ है। लोक के विविध संस्कारों, रीतियों और व्यवहारों के विस्तृत वर्णन के कारण यह रचना संदर्भ-बहुला हो गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महाकाव्य की एक विशेषता इतिवृत की रचना भी बताई है। विविध संदर्भों की सूक्ष्म और हृदयग्राही वर्णनों द्वारा जायसी ने इसमें अत्यधिक सफ़लता पाई है। विवाह के दौरान स्त्री-मन में उठने वाले भावों की कितनी सुंदर व्यंजना इन पंक्तियों में मिलती है-

ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि ससुर हम गवनब काली। कित हम कित यह सरवर पाली॥

जायसी ने प्रकृति का वर्णन भी रम कर किया है। प्रकृति मानव की आदिम सहचरी है, इसलिए यह मानवीय भावों को प्रकट करने वाली सच्ची सहायिका भी है। जायसी ने प्रकृति का आलंबन और उद्दीपन दोनों रूपों में चित्रण किया है। आलंबन के रूप में उन्होंने नामपरिगणन शैली को अपनाकर प्राकृतिक वस्तुओं का नाम लिया है। समुद्र, द्वीप और दुर्ग का बहुत ही संश्लिष्ट एवं बिम्बात्मक चित्र पद्मावत में मिलता है। शृंगार के संयोग-वियोग वर्णन में प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण हुआ है। रत्नसेन-पद्मावती के मिलन के समय समस्त प्रकृति आह्लादित है- 'पद्मावति चाहत ऋतु पाई।

गगन सोहावन भूमि सोहाई/ चमकि बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥' यही प्रकृति नागमती के विरह में दुश्मन बन गई है-'खड्ग बीजु चमके चहुँ ओरा। बुन्दाबान बरसहिं घन मोरा/ ओनई घटा आइ चहुँ फ़ेरी। कंत! उबारु मदन हौं घेरी॥' प्रकृति आध्यात्मिक संकेतों से भरी होती है। बिजली का चमकना, बारिश का होना, सूरज का उगना और डूबना, प्राचीन काल से अज्ञात का संकेत माना जाता है। जायसी कहते हैं कि 'रवि शशि नखत दिपहिं ओहि जोती' अर्थात सूरज,चाँद और नक्षत्र उस परमात्मा की ज्योति से ही प्रकाशित हो रहे हैं। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण किया है, उसको संदेशवाहक बनाया है, उसके द्वारा वातावरण का निर्माण किया है और अनेक स्थलों पर उससे अलंकारों का काम भी लिया है। नागमति के बारहमासा-वर्णन से पता चलता है कि जायसी को प्राकृतिक व्यापारों की कितनी गहरी समझ थी। उनका प्रकृति-वर्णन मुख्यतया भारतीय परिवेश पर आधारित है, लेकिन उस पर फ़ारसी पद्धति का भी प्रभाव है।

रहस्यवाद : अज्ञात के प्रति जिज्ञासा की भावना को रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। रहस्यवाद दो तरह का होता है- साधनात्मक रहस्यवाद और भावात्मक रहस्यवाद। साधनात्मक रहस्यवाद में हठयोग की साधना द्वारा अज्ञात के रहस्य को भेदने का प्रयास किया जाता है जबकि भावात्मक रहस्यवाद में साधक परम सत्ता के साथ व्यक्तिगत संबंध का निर्माण कर उसके प्रति विशेष भावना का प्रदर्शन करता है। जायसी के काव्य में रहस्यवाद के इन दोनों रूपों का दर्शन होता है। जायसी का रहस्यवाद पद्मावती और रत्नसेन के प्रेम के माध्यम से प्रकट हुआ है। इसमें रत्नसेन का पद्मावती के प्रति अदम्य आकर्षण में आत्मा का परमात्मा के प्रति लगाव को सहज ही देखा जा सकता है। पद्मावती से रत्नसेन के मिलन की बाधाएँ ईश्वर से साधक के मिलन की बाधाओं के समान है। भारतीय परंपरा के अनुरूप ही जायसी ने प्रकृति के विविध व्यापारों में बहुत ही सुंदर तरीके से उस अज्ञात और रहस्यमयी सत्ता का बोध कराया है। प्रकृति के कण-कण में वे उस परम ज्योति का आभास पाते हैं- 'उन्ह बान्ह अस को जो न मारा, बेधि रहा सगरौ संसारा/ गगन नखत जो जाहि न गने, वै सब बान ओहि के हने/ धरती बान बेधि सब राखी, साखी ठाढ़ देहि सब साखी/ रोवँ-रोवँ

मानसु तन ठाढ़े, सूतहि सूत बेधि अस गाढ़े।' जायसी प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में उस अज्ञात की झलक देखते हैं, उन्हें लगता है कि धरती, नदी, पहाड़ सब उसकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जायसी के रहस्यवाद पर इन शब्दों में टिप्पणी करते हैं , " हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैत रहस्यवाद है तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत उच्च कोटि की है। वे सूफ़ियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का पुरुष के समागम के हेतु प्रकृति की शृंगार उत्कटता या विरह विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना 'पद्मावत' में अधिक मिलती है।" जायसी के रहस्यवाद में भारतीय और फ़ारसी परंपरा का सुंदर मेल हुआ है, वैसे उसका आधार भारतीय अद्वैतवाद है।

प्रेमाभिव्यक्ति :- पद्मावत में प्रेमगाथा की परंपरा को पूर्ण प्रौढ़ता मिली है। इसकी प्रेमाभिव्यक्ति पर फ़ारसी की प्रेम-पद्धति का खासा प्रभाव है। रत्नसेन-पद्मावती के लौकिक प्रेम में जगह-जगह पर विद्यमान आध्यात्मिक संकेतों में भी हम इसे देख सकते हैं। फ़ारसी काव्यों में लौकिक प्रेम ही अलौकिक प्रेम में रुपांतरित हो जाता है, जैसा 'पद्मावत' में हुआ है। इसमें नायिका अलौकिक सौंदर्य की मल्लिका होती है, जिसके रूप का वर्णन सुन कर नायक उसे पाने के लिए बेचैन हो जाता है। नायिका को प्राप्त करने के लिए वह विभिन्न बाधाओं को पार करता है, जैसा रत्नसेन पद्मावती के लिए करता है। अंतत: वह नायिका प्राप्त करता है और उसका लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी), अलौकिक प्रेम(इश्क हकीकी) में रुपांतरित हो जाता है।

जायसी ने 'पद्मावत' में प्रेम-तत्त्व की गहन विवेचना की है। उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन किया है- 'तीनि लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहिं सूझि/ प्रेम छाँडि नहिं लोन किछु जो देखा मन बूझि।' उनके लिए प्रेम ईश्वर के समान है। प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के अनेकानेक मार्मिक प्रसंगों की सरस व्यंजना उनके काव्य में मिलती है। वैसे जायसी का मन

संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष के चित्रण में अधिक रमा है। सूफ़ी मत में विरह-भावना साधना का अहम हिस्सा होती है। नागमति के वियोग का अतिरंजित वर्णन ईश्वर से जीव के वियोग को संकेतित करने के लिए ही किया गया है।

जायसी की प्रेम-व्यंजना लौकिक और अलौकिक दोनों धरातलों पर समान रूप से सक्रिय रहती है। प्रेम की विशेषता ही यह है कि वह चाहे-अनचाहे ही लौकिकता का अतिक्रमण कर देती है। नागमती-रत्नसेन का प्रेम मूलत: लौकिक धरातल पर घटित होता है, जबकि पद्मावती-रत्नसेन का प्रेम अध्यात्मिक संकेतों से भरा हुआ है। वैसे नागमती भी प्रेम के गहन क्षणों में लौकिकता के धरातल को पार कर जाती है। हीरामन के द्वारा प्रेम का संदेशा भेजते हुए नागमती कहती है कि उसे भोग या वासना की चाह नहीं है, वह तो केवल अपने पति को जी भर देखना चाहती है- 'मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंहं दीठि कै चाहनहारी॥' पद्मावती प्रतीक-कल्पना में भले ही ईश्वर का प्रतीक हो, लेकिन प्रेम के धरातल पर उसका आचरण आम स्त्री जैसा ही है। उसने दैहिक कामनाओं और लौकिक चाहतों को अकुंठ भाव से अभिव्यक्त किया है- 'परिउ अथाह, धाय। हौं जोबन उदधि गम्भीर/ तेहि चितवौं चारिहु दिसि जो गहि लावै तीर॥ ' जायसी की प्रेमाभिव्यक्ति के विषय में परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है कि, "प्रेम-वस्तु जायसी के कृतित्व की आधार-वस्तु है। प्रेम का अनुभव जायसी की सुविधा नहीं है, कवि व्यक्तित्व की समग्र क्षमता की कसौटी है। दैहिक और देहातीत, लौकिक और लोकोत्तर प्रेम की जितनी भंगिमाएँ अकेले 'पद्मावत' में उभरती हैं, जायसी के अन्य समकालीन कवियों के प्रेमाख्यान में संभव नहीं। हालाँकि रूढ़ियाँ वहीं हैं, प्रबंध रचना का ढर्रा वही है। जायसी का प्रेम-रसायन एक बड़ी सर्जनात्मक कल्पना का अंग है।"

विरह-वर्णन :- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी को 'प्रेम की पीर' का कवि कहा है, क्योंकि 'पद्मावत' में अनेक स्थलों पर विरह-वेदना का वर्णन हुआ है। नागमति के विरह-वर्णन की बहुत चर्चा हुई है, लेकिन इसके अतिरिक्त रत्नसेन, पद्मावती और अलाउद्दीन के विरह का भी वर्णन

मिलता है। प्रेम-वर्णन की तरह ही जायसी के विरह-वर्णन पर भी फ़ारसी का स्पष्ट प्रभाव है, इसलिए उसमें रुदन, मर मिटने की कामना, आँखों से आँसुओं के बहने का चित्रण मिलता है। सिंहलद्वीप में जब राजा रत्नसेन पद्मावती को न पाकर उसके विरह में रोता है तो उसकी आँखों से आँसू की जगह खून बहने लगता है- 'नैनही चली रकत की धारा। कथा भीजि भयेउ रतनारा॥'

रत्नसेन के सिंहलद्वीप चले जाने के बाद उसकी विवाहिता नागमती विरह में दग्ध हो जाती है। जायसी का भावुक हृदय नागमती के वियोग-वर्णन में डूब जाता है, और इसके परिणामस्वरूप वे नागमती की वेदना का ऐसा मर्मस्पर्शी और व्यापक वर्णन करते हैं कि वह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि बन जाता है। इस वर्णन मे नायिका की बाहरी अवस्था के साथ ही उसकी आंतरिक हलचलों का भी सूक्ष्म चित्रण हुआ है। नागमती के विरह का विस्तार समस्त प्रकृति में हुआ है। वह वेदना के चरम पर पहुंचकर अपने रानीत्व को भी भूल जाती है। जंगल-जंगल घूम कर अपनी पीड़ा कहती है- 'पिय सौं कहेहु सँदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग/ को धनि बिरहें जरि गई तेहिक धुँआ हम लाग।' नागमती के विरह-वर्णन में अतिरंजना और अतिश्योक्ति का भी खूब प्रयोग हुआ है। इसमें बारहमासा की भारतीय पद्धति का भी अनुसरण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने इसकी बहुत प्रशंसा की है, " इसी नागमती के विरह वर्णन के अंतर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दांपत्य जीवन का अत्यंत मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य-भावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यंत स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है।" नागमती की वेदना एक आम भारतीय नारी की वेदना है। उसमें रीतिकालीन नायिकाओं की तरह काम-भावना के आवेग में प्रिय की प्रतीक्षा नहीं है, बल्कि जीवन की आम जरुरतों के लिए उसके साथ होने की चाह है। आषाढ़ का महीना लग गया है, बारिश होने वाली है। नागमती को चिंता है कि अब तक पति नहीं आए, अब कौन हमारे टूटे हुए छप्पर को छाएगा- 'पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मंदिर को छावा?' जायसी ने नायिका की असहायता, प्रकृति से उसके

अपनापन और उसकी अत्यधिक कृश्कायता का भी वर्णन किया है। उनकी वेदना में लोक की संवेदना की प्रधानता है। उसका दर्द उस तक ही नहीं बल्कि समस्त प्रकृति में व्याप्त है।

शिल्पगत-सौंदर्य: जायसी एक सचेत कवि हैं, भक्तिकाल के अन्य कवियों की तरह उनकी कविता 'बाई-प्रोडक्ट' नहीं है, इसीलिए उनकी कविता शिल्पगत स्तर पर भी बहुत परिष्कृत और प्रौढ़ है। प्रेम-प्रधान काव्य होने के कारण पद्मावत का प्रधान रस तो शृंगार है, लेकिन दुखांतक होने की वजह से इसमें करुण-रस की भी प्रतिष्ठा है। प्रसंग के अनुरूप जायसी ने 'पद्मावत' में विविध रसों का समायोजन किया है। शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुंदर चित्रण यहाँ हुआ है। गोरा-बादल, रत्नसेन-देवपाल के युद्ध में वीर रस की सजीव झाँकियाँ उपलब्ध हैं। सिंहलद्वीप और समुद्र के वर्णन में अद्‌भुत और भयानक रसों का संयोजन हुआ है। 'पद्मावत' की अंतिम परिणति अलौकिक प्रेम में होता है, इसलिए इसमें शांत रस की भी सृष्टि हुई है।

जायसी ने कडवक-पद्धति का अनुसरण करते हुए चौपाई-दोहा छंद में 'पद्मावत' की रचना की है। उन्होंने प्रत्येक सात चौपाइयों के बाद एक दोहा रखा है, जबकि उनके पहले पाँच-पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहा रखने का चलन था। चौपाई सोलह मात्राओं का छंद होता है, लेकिन जायसी ने कहीं-कहीं पंद्रह मात्राओं की चौपाइयाँ भी रची हैं। दोहा छंद में उन्होंने और अधिक छूट ली है। तेरह-ग्यारह की यति के साथ चौबीस मात्राओं वाले दोहा छंद को जायसी ने कहीं बीस मात्राओं का बना दिया है, तो कहीं सोलह-सोलह की यति के साथ उसे बत्तीस मात्राओं का कर दिया है। तात्पर्य यह कि उन्होंने छंदों की रचना में पर्याप्त स्वतंत्रता ली है।

जायसी ने अलंकारों के सटीक और सधे प्रयोग द्वारा 'पद्मावत' के काव्य-सौंदर्य को नवीन ऊँचाई प्रदान की है। उन्होंने प्राय: सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिश्योक्ति उनके प्रिय अलंकार हैं। उन्होंने लंबे-लंबे सांगरूपकों का भी सृजन किया है। जायसी ने अधिकतर पारंपरिक उपमानों का ही प्रयोग किया है, लेकिन कई स्थलों पर उन्होंने नये और

मौलिक उपमानों का प्रयोग कर पाठकों को चमत्कृत कर दिया है। पद्मावती की बरौनियों का वर्णन करते हुए जायसी द्वारा प्रयुक्त उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार देखिए:

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जान दुह अनी॥

जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुद्र भए दुइ नैना॥

आत्मसजग कवि: हिन्दी आलोचना में जायसी को सूफ़ी संत साबित करने की होड़ रही है। 'पद्मावत' की आध्यात्मिक व्याख्या भी खूब हुई है, लेकिन मध्यकाल में जायसी अकेले कवि हैं जिनके भीतर अपने कवि होने का गहरा बोध विद्यमान है। उनकी कविता मात्र भक्ति के आवेग में सृजित नहीं हुई है, बल्कि वह कविताई का एक सचेत प्रयास है। 'पद्मावत' में अनेक स्थलों पर उन्होंने खुद को कवि के रूप में संबोधित किया है- 'हौं सब कविन्ह केर पछिलग्गा। किछु कहि चला तबल दइ डग्गा॥' इस विनम्रता के अतिरिक्त कवि होने का उन्हें गर्व भी है- 'मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत ना माँसु। / जेई मुँह देखा तेइँ हँसा सुना तो आए आँसु॥' इस विषय में विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि, 'जायसी मूलत: कवि हैं, सूफ़ी नहीं। कबीर ठेल कर कविता को बढ़ाते हैं, जायसी में हिंदी का सहज प्रवाह है। दाउद और कुतुबन ही पहले के हैं, और उनकी अवधी भाषा भी रोड़े अटकाती हुई दिखती है। कबीर संत की मुद्रा में अधिक दिखते हैं लेकिन जायसी की मुद्रा कवि की है। जायसी ने परंपरागत रुढ़ियों और रीतियों का निर्वाह करते हुए अपनी निर्मल मिठास के कारण सर्वत्र मौलिकता का समावेश किया है, जिससे न सिर्फ़ बात अनूठी होती है बल्कि उसमें निजी अनुभूति भी शामिल हो जाती है।'

3.3.3 सूफ़ी काव्य परंपरा और पद्मावत :-

भारतीय साहित्य में प्रेमगाथा काव्य की दीर्घकालीन परंपरा मिलती है। ऋग्वेद के दशम मंडल में उर्वशी-पुरूरवा की प्रेमकथा से इसका आरंभ माना जाता है। उपनिषदों, गुणाढ्य की बृहत्कथा, कथा सरित्सागर और संस्कृत के अनेक महाकाव्यों में विभिन्न प्रेमकथाओं का सृजन हुआ है। यह परंपरा प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में और अधिक विकसित हुई। प्राकृत भाषा की 'रयणसेहरी

कहा' में सिंहल और चितौड की प्रेम-कहानियों का वर्णन मिलता है। अपभ्रंश के आरंभिक कवि अद्दहमाण ने 'संदेश रासक' में एक विरहणी स्त्री के मनोभावों का सुंदर चित्रण किया है। 'हम्मीर रासो' और 'बीसलदेव रास' भी प्रेमाख्यानक काव्य ही हैं। असल में, अपभ्रंश में प्रेमाख्यानक काव्य की परंपरा 1000 ई. में 'ढोला मारू रा दूहा' से आरंभ होती है, और सूफ़ी प्रेमाख्यानकों के समानांतर बीसवीं सदी तक सक्रिय रहती है। इसीलिए हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों को शुध्द भारतीय प्रेमाख्यानक और सूफ़ी प्रेमाख्यानक नामक दो हिस्सों में विभाजित किया जाता है। हमें यहाँ सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्यों की परंपरा पर विचार करना है।

हिंदी साहित्य में सूफ़ी प्रेमकाव्यधारा की पहली रचना मुल्ला दाउद की 'चंदायन' को माना जाता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पहले के लिखे चार प्रेमाख्यानक काव्यों- 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती'- का जिक्र किया है। सूफ़ी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानक काव्यों द्वारा धार्मिक कट्टरता और क्रूर सत्ता-संघर्ष के समानान्तर व्यापक विश्व-बंधुत्व की भावना की स्थापना की। इन रचनाओं का मुख्य उद्देश्य मानव हृदय को उदार और विशाल बनाना था। उनके प्रेम-दर्शन के केंद्र में यह भाव था कि मानव-प्रेम ईश्वरीय प्रेम का ही एक रूप है, इसलिए ईश्वर के नाम पर मनुष्य से नफ़रत उचित नहीं है। इश्क हकीकी से इश्क मजाजी तक का सफ़र असल में एक आम इंसान के खास इंसान बन जाने का ही सफ़र है। ये सूफ़ी कवि मुसलमान थे, इस्लाम में इनकी गहरी आस्था थी, लेकिन इन्होंने हिंदू घरों की कथा लिखी। इन कथाओं में कहीं भी धार्मिक कट्टरता की झलक नहीं मिलती। ये इस्लाम के नहीं, मानव-प्रेम के प्रचारक थे। जायसी ने लिखा है- तिन्ह संतति उपराजा भातिहिं भाति कुलीन/ हिंदू तुरक दुवौ भय अपन अपने दीन/ । एक जगह उन्होंने और लिखा है- मातु के रक्त पिता के बिन्दू/ अपन दुवौ तुरुक और हिन्दू॥ इन प्रेमाख्यानक काव्यों ने तुलसी सहित अनेक कवियों को गहरे प्रभावित किया। आइए अब हम सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा पर विस्तार से विचार करते हैं-

चंदायन:- हिंदी में सूफ़ी काव्य-परंपरा का आरंभ मुल्ला दाऊद की रचना 'चंदायन' से होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'सूफ़ी परंपरा का प्रथम प्रेम-काव्य' कहा है। मुल्ला दाऊद उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के डलमऊ नगर के निवासी थे। 'चंदायन' का रचना-काल 1379 ई. माना जाता है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है। मसनवी पद्धति का अनुसरण करते हुए इसमें अल्लाह की स्तुति और शाहे-तख्त की प्रशंसा की गयी है। इसमें गोबर नगर के राजा सहदेव की पुत्री चंदा और वीर योद्धा लोरिक की प्रेम-कथा है। चंदा का विवाह चार वर्ष की अवस्था में बावन वीर से और लोरिक की शादी मैना से हुई थी। पति से असंतुष्ट चंदा मायके आ गई। राजापुर के राजा राव रूपचंद ने उसे महल की अटारी पर देखा और आसक्त होकर उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। लोरिक की वीरता से उसकी रक्षा हुई। चंदा लोरिक पर आसक्त हो गई, और मैना के विरोध करने पर दोनों राज्य छोड़कर भाग गये। रास्ते में बाववीर से लोरिक की लड़ाई, चंदा को साँप द्वारा डँसना, जुए में चंदा को हारना जैसे तीव्र घटनाक्रमों के बाद सिरजन नामक व्यापारी से मैना की पीड़ा जानकर लोरिक वापस मैना के पास आ गया।

मृगावती:- चिश्ती संप्रदाय के शेख बुरहान के शिष्य कुतुबन ने इस काव्य की रचना 1500 ई. में की थी। कुतुबन जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह का आश्रित था। कुछ विद्वान इसे बंगाल के हुसैनशाह का आश्रित भी बताते हैं। दोहा-चौपायी शैली में रचित इस काव्य में पाँच-पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है। यह मसनवी पद्धति में रचित एक घटना बहुल काव्य है। कथा का वर्णन दोहा, चौपाई, सोरठा और अरिल्ल छंदों में हुआ है। इसमें शामी और भारतीय कथा परंपराओं का सुंदर समन्वय किया गया है। इसकी भाषा अवधी है, लेकिन काव्यत्व की दृष्टि से यह कोई श्रेष्ठ रचना नहीं है।

चंद्रगिरि के राजा गणपति देव को दीर्घ साधना के पश्चात राजकुँवर नामक पुत्र की प्राति हुई। युवा होने पर आखेट खेलते समय यह बालक एक सप्तवर्णी मृगी पर आसक्त हो गया। वह मृगी एक अप्सरा थी और कंचन नगर के राजा रूपमुरारि की पुत्री थी। एक तालाब में स्नान के दौरान राजकुँवर ने उसका वस्त्र चुरा लिया और साथ रहने की शर्त पर उसे दूसरा वस्त्र दिया। तालाब के

किनारे बनाए भवन में युवराज मृगावती के साथ रहने लगा, लेकिन मृगावती का मन नहीं लग रहा था। एक दिन उसने अपना वस्त्र खोजा और उसे पहनकर उड़ कर भाग गई। राजकुँवर उसके वियोग में योगी हो गया और उसे खोजने निकल पड़ा। खोजते हुए वह एक अन्य देश में पहुँचा और उसकी राजकुमारी रूपमणि अथवा रुकमिनि की एक राक्षस से रक्षा की। इस बात से प्रसन्न होकर रुकमिनि के पिता ने उसका विवाह राजकुँवर से कर दिया। राजकुँवर का मन उदास था और एक दिन वह चुपके से वहाँ से भाग गया। विविध कठिनाईयों को पार करते हुए अंतत: वह उस राज्य में पहुँचा जहाँ मृगावती राज्य कर रही थी। दोनों ने विवाह कर लिया और लगभग बारह वर्षों तक साथ समय बिताया। उनके दो पुत्र हुए। एक दिन एक पथिक उसे रुकमिनि के वियोग की खबर सुनाता है। वह मृगावती को लेकर रुकमिनि के पास आता है, और फ़िर दोनों को लेकर अपने राज्य चंद्रगिरि पहुँचता है। वहाँ तीनों सुख से रहते हैं। एक दिन जंगल में आए एक खूंखार शेर का शिकार करने राजकुँवर जंगल जाता है, और एक हाथी के द्वारा कुचल दिया जाता है। दोनों रानियाँ उसके साथ सती हो जाती हैं। इस रचना में प्रेम-मार्ग की कठिनता के विवरण द्वारा भगवत-प्रेम का स्वरूप दिखाया गया है। कथा में जगह-जगह पर दिये गये रहस्यात्मक और आध्यात्मिक संकेत इसे सूफ़ी शैली का काव्य सिद्ध करते हैं। मुंशीराम शर्मा ने इसके विषय में लिखा है कि " इसमें प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण किया गया है। जिससे साधक की साधना का स्वरूप प्रकट होता है। बीच-बीच में रहस्य से भरी हुई सुंदर आध्यात्मिक उक्तियाँ और अन्योक्तियाँ इसमें भरी पड़ी हैं।" इसका कथानक किसी लोककथा से प्रेरित है। भारतीय परंपरा की अनेक कथानक रुढ़ियों का प्रयोग इसमें हुआ है।

मधुमालती :- सूफ़ी कवि मंझन ने इसकी रचना पंद्रहवीं सदी के उतरार्द्ध में किया था। मंझन के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका पूरा नाम शेख (मियाँ) गुफ़्तार मंझन था। ये एक सूफ़ी संत थे और इनके गुरु शेख गौस मुहम्मद थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि बारह वर्षों की तपस्या के पश्चात मिले आत्मज्ञान से प्रेरित होकर मंझन ने इसकी रचना की थी। इसके भीतर सूक्ष्म और आध्यात्मिक ज्ञान का समावेश है, इन पंक्तियों द्वारा कवि ने इसकी ओर संकेत किया है- 'बुझि

पढ़ै मोर आखर लोई'। इसके कथाशिल्प पर 'कथासरित्सागर' और 'हितोपदेश' का गहरा प्रभाव है। इसमें कई अंतर्कथाएं एक दूसरे के साथ गुम्फ़ित हैं, जिनकी चरम-परिणति मूलकथा में होती है। । कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की प्रधान-कथा के साथ ही चितबिस रामपुर के राजा चित्रसेन की बेटी प्रेमा और ताराचंद की सहायक कथा भी चलती है। कथा में अनेक स्थलों पर आध्यात्मिक संकेत दिए गए हैं। प्रकृति वर्णन में भी अज्ञात के प्रति आकर्षण देखा जा सकता है।

'पद्मावत' के पहले इस रचना की बहुत ख्याति थी। जायसी और उस्मान ने अपनी रचनाओं में इसका उल्लेख किया है। इसमें कल्पना की प्रचुरता है और वर्णन विस्तृत एवं हृदयग्राही है। मंझन ने बारहमासा का वर्णन सावन से आरंभ किया है। यह वर्णन जायसी से काफ़ी मिलता-जुलता है। जन्म-जन्मांतरों तक चलने वाले प्रेम की अखंडता का दर्शन कराकर मंझन ने इस रचना में प्रेमतत्व की व्यापकता और नित्यता को स्थापित किया है। उसे यह सारा जगत प्रेम के एक ऐसे रहस्यमय सूत्र में बँधा प्रतीत होता है, जिसके सहारे कोई साधक परम सत्ता तक पहुँच सकता है। इसमें विरह उसका प्रधान सहायक है। विरह में डूबा हुआ साधक ईश्वर को जगत के प्रत्येक वस्तु में पाता है। 'प्रेम दीप जाके हिय बारा । ते सब आदि अंत उजियारा । जगत काम फल जीवन ताही / प्रेम पीर जिय उपजा जाही । कोटि माहि विरला जग कोइ / जाहि सरीर विरह दुख होई / '

कुतुबन और जायसी आदि कवियों से अलग मंझन ने मधुमालती के सती होने की घटना का निराला वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि मधुमालती सती नहीं हुई, ऐसा करने की कोई वजह नहीं है क्योंकि कलियुग में सभी प्राणी नाशवान हैं, लेकिन उनका सत्य और प्रेम अनादि और अनंत है। इस रचना की तारीफ़ करते हुए मुंशीराम शर्मा लिखते हैं कि 'मधुमालती' में " काल्पनिक कथानक के अंतर्गत प्रकृति के दृश्यों का अतीव हृदयग्राही वर्णन उपलब्ध होता है। अव्यक्त की ओर से उसके मधुर संकेत पढ़ते ही बनते हैं। इस ग्रंथ में कवि ने अपनी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पूर्ण परिचय देते हुए हिंदुओं की भाँति जन्मजन्मांतरों के बीच प्रेम की सतत विद्यमानता दिखाई है।

मधुमालती में यह प्रेम पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता है। " मंझन ने प्रेम के विरह पक्ष पर विशेष ध्यान दिया है और अपनी कोमल भावनाओं को मनोहर कथा-सूत्र में बहुत सावधानी से बाँधा है।

पद्मावत :- मलिक मुहम्मद जायसी कृत यह रचना सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इस रचना के विषय में इसी इकाई में अन्यत्र विस्तार से चर्चा की गई है।

चित्रावली : 'चित्रावली' के रचनाकार उसमान जहाँगीर के जमाने में सक्रिय थे। ये उत्तर प्रदेश के गाजीपुर नगर के निवासी थे और इनका उपनाम 'मान' था। चिश्ती संप्रदाय के हाजी बाबा के शिष्य उसमाथे ने 1613 ई. में 'चित्रावली' का लेखन आरंभ किया। इस रचना पर 'पद्मावत' का अत्यधिक प्रभाव है। इसमें मसनवी पद्धति का अनुसरण करते हुए, बादशाह जहाँगीर की प्रशंसा की गई है। इसकी कहानी पूर्णतया कल्पित है, जो किसी लोकवार्ता पर आधारित प्रतीत होती है। जायसी की तरह ही उसमान ने भी सात-सात चौपाइयों के बाद एक दोहा रखा है। इसमें कथानक रूढ़ियों का खूब प्रयोग हुआ है। इसमें नेपाल के राजा धरनीधर पवार के पुत्र सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रेमकथा का वर्णन है। कथा घटना-प्रधान है, जिसमें लोककथाओं में प्रचलित कथानक रूढ़ियों के द्वारा रोचकता लाई गई है। राजकुमार की प्रेत से दोस्ती, राजकुमारी के चित्रों को देखकर उसके प्रति आसक्त होना, मंदिर में दोनों की मुलाकात, कुटीचर द्वारा राजकुमार को अंधा बनाकर गुफ़ा में कैद करना, अजगर द्वारा निगल जाना, वनमानुष के अंजन से आँखों का लौट आना जैसी अनेक कथानक रूढ़ियों द्वारा कथा का प्रवाह निर्मित किया गया है। इसमें सागरगढ़ की राजकुमारी कँवलावती और सुजान की प्रेम-कथा द्वारा सूफ़ी-काव्य के प्रेम-त्रिकोण की प्रचलित परंपरा का भी अनुसरण किया गया है।

'चित्रावली' में आध्यात्मिक संकेत भी हैं। कवि ने सुजान को शिव के अंश से उत्पन्न एक साधक के रूप में चित्रित किया है। इसमें चित्रावली विद्या, सुजान ज्ञानवान और कँवलावती अविद्या का

प्रतीक है। साधनाकाल में अविद्या को दूर किए बिना विद्या को प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए राजकुमार ने चित्रावली को प्राप्त करने तक कँवलावती के साथ समागम नहीं करने का प्रण किया था। इसमें अनेक स्थलों पर वेदांत और अद्वैतवाद की झलक भी मिलती है- सब वही भीतर वह सब मांही/ सबै आयु दूसर कोउ नाहीं// दूसर जात नाम जिन पावा/ जैसे लहरी उदधि कहावा// जायसी से प्रभावित होने के बावजूद उसमान ने षटऋतु वर्णन में अपनी कल्पना शक्ति और सरस वर्णन शैली के द्वारा बहुत ही रोचक और प्रभावी दृश्यों का संयोजन किया है।

ज्ञानदीप :- आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे सूफ़ी प्रेम-काव्य की परंपरा अंतिम रचना स्वीकार किया है। इसके रचनाकार शेखनबी उत्तर प्रदेश के जौनपुर के मऊ नामक गाँव के निवासी थे। ये बादशाह जहाँगीर के समकालीन थे। 'ज्ञानदीप' का रचना-काल 1614-1619 ई. माना जाता है। इसमें भी मसनवी पद्धति का पालन हुआ है, और कवि ने बेहद ईमानदारी से स्वीकार किया है कि यह कथा उन्होंने किसी से सुनी थी। शेखनबी ने अपनी रचना की सार्थकता पाप के नाश, पुण्य के प्रकाश की स्थापना और आनन्द के निष्पादन में बताया है। इसी कारण यह एक सुखांतक काव्य है। अन्य सूफ़ी काव्यों से अलग ज्ञानदीप में प्रेमोदय पहले नायिका के हृदय में होता है। इसमें नेमिसार के राजा ज्ञानदीप और विद्यापुर की राजकुमारी देवजानी की प्रेम-कथा है। इसमें प्रत्यक्ष-दर्शन-जन्य प्रेम और उसके विकास की कथा है। देवजानी परम-ज्योति-स्वरूपा है और पहले उसके हृदय में ही प्रेमोदय होता है। यह एक श्रृंगार-रस प्रधान रचना है, जिसमें संयोगावस्था के चित्र बेहद कम हैं। देवजानी के विरहावस्था के चित्रण में प्रकृति को उद्दीपक रूप में दिखाया गया है, जिस कारण यह वर्णन ज्यादा आकर्षक हो गया है। इस पर 'पद्मावत' का पर्याप्त प्रभाव है, और उसी की तरह इसका बारहमासा वर्णन भी 'आषाढ़' माह से आरंभ होता है। इसमें प्रेम-त्रिकोण नहीं है, लेकिन कथानक रूढ़ियों का प्रयोग है।

हंस जवाहिर :- उत्तर प्रदेश के बाराबंकी के निवासी कासिम शाह ने इसकी रचना 1736 ई. में की थी। बलख के सुल्तान के पुत्र हंस और चीन के बादशाह आलमशाह की पुत्री जवाहिर की प्रेम-कथा का चित्रण इसमें हुआ है। यह उच्च कोटि की रचना नहीं है। यह एक अत्यंत लोकप्रिय प्रेमाख्यानक

काव्य है। इसकी कथावस्तु काल्पनिक है और प्रचलित कथानक रूढ़ियों का प्रयोग भी हुआ है। हंस के पिता के पश्चात परिवार की करुण दशा, जवाहिर का सौंदर्य-वर्णन, जवाहिर की वियोग दशा जैसे मार्मिक स्थलों का वर्णन बहुत सधा हुआ है। वैसे कासिम शाह पर जायसी का प्रभाव इतना अधिक है कि अनेक स्थानों पर उन्होंने 'पद्मावत' की अनेक पंक्तियों की भद्दी नकल कर ली है। इस रचना में प्रौढ़ता का अभाव है।

इन्द्रावती :- उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले के सबरहद गाँव के निवासी नूर मुहम्मद ने 1744 ई. में इसकी रचना की थी। ये मुहम्मदशाह के समकालीन थे, और सूफ़ी कवियों में सर्वाधिक हिन्दी जानने वाले थे। इसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम-कथा वर्णित है। 'पद्मावत' की तरह कथा पूर्वार्द्ध और उतर्रार्द्ध में विभाजित है। यह कैथी लिपि में लिखी गई थी। जायसी के पहले के कवियों का अनुकरण करते हुए नूर मुहम्मद ने पाँच-पाँच चौपाइयों पर एक दोहे का विधान किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि सूफ़ी आख्यान काव्यों की अखंडित परंपरा को इन्द्रावती के साथ ही समाप्त मान लेना चाहिए। लेकिन इसके बाद भी कुछ उल्लेखनीय सूफ़ी काव्यों की रचना हुई, जिसमें फ़ारसी अक्षरों और संस्कृतगर्भित भाषा में रचित 'अनुराग बाँसुरी' का जिक्र किया जाना चाहिए। हिंदी के अन्य सूफ़ी कवियों में यारी साहब (1668-1723 ई.), बुल्ला साहब (1730 ई. के लगभग), बुल्लेशाह (18वीं सदी के प्रथमार्द्ध में), गुलाल साहब और भीखा साहब (18 वीं सदी के अंतिम चरण में) और मोतीराम (जन्म-1883 ई., ब्रजभाषा में 'माधवानल' की रचना) का उल्लेख मिलता है।

3.4 कठिन शब्द

सूफ़ी: सूफ़ी शब्द की उत्पत्ति 'सूफ़' से हुई है, जिसका अर्थ 'ऊन' होता है। अरब की गर्मी में मोटे सफ़ेद ऊन के कपड़े पहनकर परमात्मा के प्रेम में मगन रहने वाले फ़कीरों को सूफ़ी कहा गया।

ये खुदा की राह पर चलने वाले दीनता और नम्रता के गुणों से परिपूर्ण साधक होते थे। इन्होंने प्रेम को जीवन का मूल-तत्त्व माना, और लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में परिवर्तित कर ईश्वर की उपासना की राह बतायी।

निर्गुण राम: कबीर ने निर्गुण राम की आराधना की है। संसार में अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र राम की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। वे सगुण राम हैं, जिनकी उपासना तुलसीदास ने की है। वे अवतार लेते हैं, और सांसारिक गुणों को धारण करते हैं। कबीर ने राम के इस रूप को स्वीकार नहीं किया है। उनके राम न अवतार लेते हैं, और न ही सांसारिक गुणों को धारण करते हैं। निर्गुण का तात्पर्य है गुणों से परे होना। कबीर के राम समस्त सांसारिक गुणों से परे हैं।

मसनवी पद्धति: फ़ारसी के कथा-काव्यों में प्रचलित काव्य-लेखन की एक पद्धति। इसमें सारा काव्य मसनवी छंद में लिखा जाता है। इसके साथ ही काव्य के आरंभ में अल्लाह की स्तुति, पैगंबर की वंदना और तत्कालीन राजा की प्रशंसा की जाती है। इस पद्धति में कथा अध्यायों में विभाजित नहीं होती है, बल्कि कथा का प्रवाह अबाधित रूप से जारी रहता है।

3.5 सहायक पुस्तकें

कबीर ग्रंथावली: श्यामसुंदर दास

कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर वाणी सुधा: पारसनाथ तिवारी

अकथ कहानी प्रेम की: पुरुषोत्तम अग्रवाल

जायसी ग्रंथावली: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जायसी: परमानन्द श्रीवास्तव

जायसी: विजयदेव नारायण साही

जायसी और उनका काव्य: शिवसहाय पाठक

3.6 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर का सामान्य परिचय दीजिए।

2. कबीर की भक्ति-भावना पर सोदाहरण विचार कीजिए।

3. सूफ़ी काव्य-परंपरा में जायसी के स्थान का निर्धारण कीजिए।

4. जायसी काव्यगत विशेषताएँ बताइए।

इकाई -4

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सूरदास

4.2.1 पाठ्यांश: सूरदास

4.2.2 सूरदास की भक्ति-भावना

4.2.3 सूरदास का वात्सल्य वर्णन

4.3 तुलसीदास

4.3.1 पाठ्यांश: तुलसीदास

4.3.2 तुलसीदास की काव्यगत विशेषताएँ

4.3.3 तुलसीदास की समन्वय भावना

4.4 कठिन शब्द

4.5 सहायक पुस्तकें

4.6 अभ्यास प्रश्न

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई भक्तिकाव्य के सगुण भक्ति धारा के प्रमुख कवियों पर केंद्रित है। इसके अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:-

- इस इकाई के अध्ययन से आप भक्तिकाव्य की सगुण धारा से परिचित हो सकेंगे।
- कृष्णभक्ति धारा के प्रमुख कवि सूरदास के जीवन और काव्य को जान सकेंगे।
- सूरदास की भक्ति-भावना और वात्सल्य-वर्णन का विस्तार से परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- रामभक्ति धारा के प्रमुख कवि तुलसीदास का जीवन-परिचय जान सकेंगे।

- तुलसीदास की काव्यगत विशेषताओं और उनकी समन्वय भावना की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भक्तिकाल की सगुण-धारा का प्रत्यक्ष प्रभाव हिंदी समाज और साहित्य पर बहुत व्यापक है। इस धारा के कवियों ने भारतीय समाज के समक्ष जीवन जीने का आदर्श स्थापित किया। इस धारा को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जाता है- कृष्णभक्ति शाखा और रामभक्ति शाखा। कृष्णभक्ति के कवि वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद से प्रभावित होकर कृष्ण की भक्ति करते हैं, और रामभक्ति शाखा के कवि रामानुज के विशिष्टाद्वैत के मार्ग पर चलकर राम की उपासना करते हैं। वल्लाभाचार्य द्वारा स्थापित और उनके पुत्र विट्ठलनाथ द्वारा विस्तारित 'अष्टछाप' के आठ कवियों द्वारा कृष्णभक्ति को प्रचारित-प्रसारित किया गया, परंतु इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमुख नाम सूरदास का आता है। रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास हैं। ये भक्तिकाल के अंतिम प्रमुख कवि हैं। इनकी रचना 'रामचरितमानस' ने राम को घर-घर तक पहुंचा दिया। तुलसी ने रामराज्य की अवधारणा द्वारा एक आदर्श समाज की परिकल्पना की, जो आज भी भारतीय मन को निर्धारित और नियंत्रित करता है।

4.2 सूरदास: सामान्य परिचय

सूरदास हिन्दी की सगुण भक्ति धारा की कृष्ण भक्ति शाखा के सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य और उनसे उम्र में केवल दस दिन छोटे थे। तमाम अनुसंधानों के पश्चात सूरदास का जन्मकाल 1478 ई. और देहावसान 1583 ई. को नियत गया है।

उनकी मृत्यु पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने दुखी होकर लिखा था: 'पुष्टिमारग को जहाज जात है सो जाको कछु लेना होय सो लेउ'। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार इनका जन्म-स्थान रुनकता या रेणुका-क्षेत्र है लेकिन ये मथुरा और वृन्दावन के बीच स्थित गऊघाट नामक जगह पर रहते थे और भजन गाया करते थे। वैसे हरिरायजी के 'भावप्रकाश' में इनका जन्म-स्थान दिल्ली से चार कोस दूर सीही नामक ग्राम को बताया गया है। वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के पहले ही

इनकी काफ़ी प्रसिद्धि हो गयी थी। वल्लभाचार्य से इनकी मुलाकात 1509-10 ई. में हुई थी। ऐसी जनश्रुति है कि वल्लभाचार्य से मुलाकात के पहले सूरदास केवल भगवान की दास्य-भक्ति में मगन रहते थे और विनय के पद लिखते थे, उन्हें भगवान की लीला का कोई ज्ञान नहीं था। वल्लभाचार्य ने उन्हें भगवान के नाम का स्मरण कराया और 'भागवत' के 'दशमस्कंध' की अनुक्रमणिका सुनाकर उन्हें भगवत-लीला का वर्णन करने का आदेश दिया। आगे चलकर जिस 'वात्सल्य-वर्णन' और 'भ्रमरगीत-सार' के लिए सूरदास की प्रसिद्धि हुई वह इस लीला-वर्णन का ही एक अंग है।

ऐसी प्रसिद्धि है कि सूरदास जन्म से अंधे थे। हरिरायजी के 'भावप्रकाश' तथा श्रीनाथ भट्ट की 'संस्कृतवार्त्ता मणिमाला' में भी सूरदास को जन्मांध बताया गया है। ऐसा भी कहा जाता है कि युवावस्था में किसी तरुणी के प्रेम में पड़कर इन्होंने अपनी आंखें फ़ुड़वा ली थी। सूरदास के साहित्य में प्रस्तुत प्राकृतिक शोभा और रूप-वर्णन देखकर इस बात पर सहज विश्वास करना कठिन है कि वे जन्मांध थे। संभव है कि वे बाद में अंधे हुए हों या आत्मग्लानि की अवस्था में अपनी हीनता को अतिरंजित करने के क्रम में बार-बार अपने आपको अंधा कहते हों। हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्पष्ट मान्यता है कि 'सूरदास का साहित्य कभी जन्मांध व्यक्ति का लिखा साहित्य नहीं हो सकता।'

सूरदास की कुल तीन प्रमाणिक रचनाओं का पता चलता है- सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी। इसमें भी सर्वाधिक प्रामाणिक 'सूरसागर' ही है। वैसे कुछ विद्वानों ने उनकी पच्चीस किताबों का नामोल्लेख किया है। सूरदास की प्रतिष्ठा का आधार-ग्रंथ 'सूरसागर' है। इसकी रचना 'भागवत' की पद्धति पर द्वादश स्कंधों में हुई है। 'भागवत' की पद्धति का अनुसरण करने के कारण कई विद्वान सूरसागर को उसका अनुवाद मान लेने की भूल कर बैठते हैं जबकि 'सूरसागर' में सूर के पदों का क्रम स्वतंत्र है। उन्होंने इसमें कृष्ण के जीवन के उन्हीं अंशों को अपने पदों का विषय बनाया है जिसने उनकी अंतरात्मा के तारों को झंकृत किया है। इसी वजह से 'सूरसागर' में कृष्ण के शैशव और कैशोर वय की विविध लीलाओं और उनके लोकरंजक रूप का ही दर्शन होता है। वृंदावन के कान्हा ने सूरदास के मन को इस कदर मोहा है कि द्वारका का राजा और महाभारत का नायक कृष्ण उनके 'सूरसागर' से बाहर ही हो गया है।

'सूरसारावली' कोई मौलिक ग्रंथ नहीं है। इसे 'सूरसागर' का सूचीपत्र भी कह सकते हैं।

'साहित्यलहरी' सूरदास के सुप्रसिद्ध दृष्टकूट पदों का संग्रह है। यह एक प्रकार का पहेली काव्य है। इसमें अर्थगोपन-शैली में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है और इसके साथ ही इसमें अलंकारों का निरूपण भी किया गया है।

4.2.1 **पाठ्यांश : सूरदास**

आपके पाठ्यक्रम में सूरदास के आठ पदों को शामिल किया गया है। जिनमें से पहले दो पद उनकी भक्ति-भावना और शेष छ: पद भ्रमरगीत प्रसंग से संबंधित हैं। सूरदास के जीवन का आरंभिक हिस्सा कृष्ण की दास्य भक्ति में गुजरा। वल्लभाचार्य से मुलाकात के बाद वे अपने इष्टदेव कृष्ण की लीला की ओर उन्मुख हुए। सूरदास की भक्ति दास्य-भाव की है। इसमें इष्टदेव के प्रति विनय और आत्मनिवेदन किया जाता है। कृष्णभक्ति काव्य में 'भ्रमरगीत प्रसंग' का विशेष महत्व है। यह प्रसंग संप्रदायगत मान्यताओं की प्रतिष्ठा, गोपियों के विरह के द्वारा कृष्ण से अलगाव की पीड़ा और सगुण भक्ति की स्थापना के उद्देश्य से रचा गया है। गोपियों की वाग्वैदग्धता और वचनवक्रता ने आलोचकों को बहुत प्रभावित किया है। यह स्त्री की उन्मुक्तता और उसकी बौद्धिकता के स्वीकार का साहित्य भी है।

1. अबिगत गति कछु कहत न आवै
ज्यों गूँगै मीठे फ़ल कौ रस अंतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौं अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिँ तातैँ सूर सगुन लीला पद गावै।

शब्दार्थ: अबिगत- अविगत, जो विगत न हो, जो जाना न जाए; अंतरगत- मन ही मन; अमित- अत्यधिक, अपरिमित तोष- आनंद, तृप्त होने का भाव, संतोष; अगम- जिस तक पहुँचा न जा सके, दुर्गम; अगोचर- अदृश्य, न दिखाई देने वाला, इंद्रियों से जिसका ज्ञान संभव न हो; जुगति- युक्ति,

उपाय; निरालंब-आश्रयहीन, असहाय, जिसका कोई सहारा न हो; कित- किधर; धावै-दौड़ना; तातैँ- उसके बाद।

सन्दर्भ:- प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी की सगुण भक्ति धारा के प्रमुख कवि सूरदास की रचना 'सूरसागर' से ली गयी है। सूरदास वृंदावन बिहारी कृष्ण के भक्त हैं और उनके प्रति अनन्य निष्ठा रखते हैं। वे कृष्ण के सगुण रूप के आग्रही हैं।

प्रसंग:- प्रस्तुत पद में सूरदास ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार करते हुए, उसके सगुण रूप की महिमा का बखान करते हैं। ईश्वर के निर्गुण रूप की उपासना या ध्यान कठिन है, क्योंकि उसकी कोई स्पष्ट आकृति नहीं होती। बगैर स्वरूप के किसी का ध्यान करना दुष्कर होता है। सूरदास को कृष्ण का सगुण रूप सहजता के कारण आकर्षित करता है।

व्याख्या:- ब्रह्म के अव्यक्त अर्थात निर्गुण स्वरूप के विषय में कुछ भी कहते नहीं बन रहा है। वह गूँगे के गुड़ के समान है। जैसे कोई गूँगा व्यक्ति मीठा फ़ल खाने के बाद उसके स्वाद को मन ही मन महसूस तो करता है लेकिन उस स्वाद के विषय में कुछ भी बता नहीं पाता, वैसे ही निर्गुण ब्रह्म के आस्वाद का आनन्द अत्यंत ही उत्तम कोटि का और निरंतर असीम आनन्द प्रदान करने वाला होता है, लेकिन उस अनुभव को व्यक्त कर पाना संभव नहीं है। ब्रह्म का यह स्वरूप मन और वाणी तथा इंद्रियों द्वारा न जाना जा सकने वाला है, जो इसे प्राप्त करता है वही उसे जान पाता है। तात्पर्य यह कि निर्गुण ब्रह्म के सान्निध्य से प्राप्त आनन्द की अनुभूति को साधक वैसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता, जैसे सगुण ईश्वर के संसर्ग से मिले अनुभव को वह सरलता से व्यक्त कर पाता है। निर्गुण ब्रह्म रूप, आकार, गुण, जाति और तर्क से रहित है, उसको महसूस कर पाने का कोई सहारा नहीं है। ईश्वर की रूप और रेखा के बिना मन बेसहारा होकर किधर-किधर की दौड़ लगाए? यहाँ कवि का कहना है कि निर्गुण ईश्वर की भक्ति और उपासना के लिए भक्त को सगुण ईश्वर की तरह रूप और गुण का सहारा नहीं होता, वह बिना किसी आधार के इधर-उधर भटकने के लिए बाध्य होता है। सूरदास कहते हैं कि भली-भाँति बिचार कर लेने के पश्चात मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि निर्गुण ब्रह्म सब प्रकार से भक्त की पहुँच से बाहर, इसीलिए मैं अपने पदों में ब्रह्म के सगुण रूप का गान करता हूँ।

विशेष:-

1. भक्तिकाल के दौरान संप्रदायगत आग्रहों-दुराग्रहों के कारण सगुण और निर्गुण भक्ति के बीच विवाद की स्थिति बन गई थी। सूरदास और तुलसीदास जैसे कवियों ने खुलकर सगुण भक्ति का पक्ष लिया और निर्गुण भक्ति को आम जन के लिए कठिन और असाध्य बताकर उसकी निंदा की। तुलसी ने लिखा है कि- 'अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लिए तें/ पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें।'

2. मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।

जैसैं उड़ि जहाज को पच्छी फ़िरि जहाज पर आवै।।

कमल नैन कौ छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।

परम गंग कौं छाँड़ि पियासौ दुरमति कूप खनावै।।

जिहि मधुकर अंबुज रस चाख्यौ क्यौं करील फ़ल खावै।

सूरदास प्रभु कामधेनु तजि चेरी कौन दुहावै॥

शब्दार्थ:- अनत:- अन्यत्र, और कहीं; पच्छी:- पक्षी; महातम:- माहात्म्य, महिमा, गौरव; ध्यावै:- ध्यान करना, स्मरण करना; दुरमति:- कुटिल बुद्धि वाला, कठिन बुद्धि वाला; कूप:- कुँआ; खनावै:- खोदवाना; मधुकर:- भौंरा, भ्रमर; अंबुज:- कमल; करील:- झाड़ी के रूप में उगनेवाला एक कँटीला और बिना पत्ते का पेड़; भावै:- पसंद आना; कामधेनु:- स्वर्ग की गाय, जो सब कामनाओं की पूर्ति करने वाली मानी जाती है; छेरी:- बकरी।

सन्दर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- प्रस्तुत पद में सूरदास अपने आराध्य कृष्ण की महत्ता का वर्णन कर रहे हैं। भक्ति में आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण आवश्यक है। प्रत्येक भक्त अपने भगवान के प्रति अनन्य भक्ति की चाहत रखता है, और किसी अन्य देवता के प्रति तनिक भी आकर्षित नहीं होता। अनन्य और अविचल भक्ति के बिना अपने आराध्य को पाना संभव नहीं है।

व्याख्या:- सूरदास जी कहते हैं कि हे प्रभु! मेरा मन आपके चरणों को छोड़कर अन्यत्र कहाँ सुख पा सकता है? तात्पर्य यह कि सूरदास जी के मन में भगवान के चरणों के अलावा अन्य किसी चीज की

चाह नहीं है। अराध्य कृष्ण के प्रति अपनी इस अनन्य चाहत को एक उदाहरण के द्वारा समझाते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार असीम समुद्र के बीच में तैर रहे किसी जहाज पर बैठा हुआ पक्षी यदि उस जहाज को छोड़कर कहीं उड़ जाना भी चाहे तो उड़ कर कहीं जा नहीं सकता, उसे वापस उसी जहाज पर लौटना होगा। ठीक उसी प्रकार यदि मेरा मन किसी और ईश्वर की ओर उन्मुख होना भी चाहे तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि वह जानता है कि इस भवसागर रूपी समुद्र को पार कराने वाला जहाज एकमात्र राधावल्लभ कृष्ण हैं। किसी अन्य देवता में यह सामर्थ्य नहीं है। वे आगे कहते हैं कि कमल नैनों वाले कृष्ण के माहात्म्य यानी श्रेष्ठता को छोड़कर कोई भला अन्य देवता का ध्यान कैसे कर सकता है। उनकी महानता तो स्वयंसिद्ध है। कृष्ण को तज कर किसी अन्य देवता का ध्यान करना तो ऐसा ही है जैसे कोई कठिन बुद्धि या जड़बुद्धि वाला व्यक्ति परम पवित्र गंगा को त्यागकर अपनी प्यास बुझाने के लिए कुआँ खुदवाए। जिस भी व्यक्ति ने एक बार कृष्ण के प्रेम-रस का पान कर लिया है उसे कोई और आनन्द आकर्षित ही नहीं कर सकता, जैसे जिस भँवरे ने एक बार कमल के रस को चख लिया है, उसे भला बेस्वाद करील पौधे का फ़ल कैसे पसंद आ सकता है। अंतिम पंक्ति में सूरदास समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले कृष्ण की महानता को स्थापित करते हुए कहते हैं कि संसार में शायद ही कोई मूर्ख होगा जो कामधेनु को तजकर बकरी के दूध का पान करेगा। मतलब यह कि कृष्ण की भक्ति कामधेनु की तरह फ़लदायी और समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली है, जबकि अन्य देवताओं की भक्ति बकरी की तरह अल्प फ़लदायी होती है।

विशेष:-

गंगा-जल:- गंगा भारतीयों के लिए एक पवित्र नदी है जिसके विषय में यह मान्यता है कि इसमें केवल एक बार स्नान कर लेने से भी मनुष्य के समस्त पाप धुल जाते हैं। गंगा के जल की विशेषता यह है कि इसे यदि किसी पात्र में वर्षों एकत्रित करके रखा जाये तब भी उसमें कीड़े नहीं लगते, संभवत: इसी कारण गंगा-जल को काफ़ी पवित्र माना गया है। भारतीय धर्मों में ऐसा कहा गया है कि यदि किसी मरते हुए आदमी के मुँह में गंगा-जल डाल दिया जाये तो वह स्वर्ग चला जाता है।

कामधेनु:- 'कामधेनु' शब्द 'काम' और 'धेनु' नामक दो शब्दों के मेल से बना है। काम का तात्पर्य है कामनाएँ, और 'धेनु' का अर्थ है गाय। इस शब्द का तात्पर्य एक ऐसी गाय से है, जो समस्त कामनाओं की पूर्ति कर देने में समर्थ हो। भारतीय धर्मशास्त्रों में कामधेनु नामक एक गाय की परिकल्पना है, जो स्वर्ग में रहती है। इस गाय की विशेषता है कि यह मनुष्य की समस्त कामनाओं को पूरा करने का सामर्थ्य रखती है। भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है। गाय कृषि-संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। कृषक-जीवन के समस्त कार्यों को संपन्न करने में गाय की प्रत्यक्ष-परोक्ष भूमिका होती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में गाय को पूज्य भाव से देखा गया है। 'कामधेनु' की कल्पना इसी भाव-भूमि पर आधारित है।

3. जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।

यह ब्यौपार तिहारो ऊधो ऐसोई फ़िरि जैहै॥

जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।

दाख छांड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै।।

मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।

सूरदास प्रभु गुनहिं छाँड़ि कै को निर्गुन निरबैहै॥

शब्दार्थ:- ठगौरी:- ठगमाया,ठगपने का सौदा; मूरी:- मूली; मुक्ताहल:- मोती; दाख:- अंगूर, संस्कृत के द्राक्ष शब्द का तद्भव रूप; कटुक:- कड़वा; निबौरी:- नीम का फ़ल।

संदर्भ:-प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित 'भ्रमरगीत सार' से ली गई हैं। 'भ्रमरगीत' सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' का अंश है। सूरदास ने भ्रमरगीत-प्रसंग की रचना अपनी दार्शनिक विचारधारा शुद्धाद्वैतवाद की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए की थी। इसमें ज्ञानमार्गी उद्धव कृष्ण के वियोग में डूबी गोपियों को निर्गुण ब्रह्म और योग की शिक्षा दे रहे हैं। उद्धव ज्ञान-लोभी और कृष्ण रूप-लोभी हैं, दोनों साँवले और पीताम्बर धारण करते हैं, इसलिए

सादृश्य-संबंध के कारण गोपियाँ उन्हें भ्रमर कहकर संबोधित करती हैं। 'भ्रमरगीत' ज्ञान पर भक्ति की, निर्गुण पर सगुण की, शहरी चतुराई पर ग्रामीण सहजता की विजय का काव्य है।

प्रसंग:- उद्धव गोपियों को योग का ज्ञान दे रहे हैं। वे उनसे कृष्ण के सगुण रूप को तजकर उसके निर्गुण रूप का ध्यान करने की सीख देते हैं। उद्धव की यह सीख गोपियों को जरा भी नहीं भाती। वह उद्धव के प्रति कटु होते हुए व्यंग्यात्मक लहजे में कहती हैं कि योग का आपका यह व्यापार हमारे ब्रज में नहीं चलने वाला है।

व्याख्या:- गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि योग की आपकी यह ठगमाया ब्रज में नहीं बिकने वाली है। यहाँ सब कृष्ण के प्रेम के उपासक हैं, उसको तजकर आपके योग की निरसता कोई भी ग्रहण नहीं करना चाहेगा। इस संसार में ऐसा कौन मूर्ख होगा जो मूली के पत्तों को खरीदने के लिए अपने कीमती मोती देगा। तात्पर्य यह कि कृष्ण की भक्ति मोती की तरह अमूल्य है, जबकि योग मार्ग मूली के पत्ते की तरह हर जगह पसरा पड़ा है। कृष्ण की भक्ति के बदले योग-मार्ग का जो व्यापार करने तुम ब्रज आए हो, वह वैसे-का-वैसा ही धरा रह जाएगा। ब्रज का एक भी व्यक्ति तुम्हारा योग-मार्ग ग्रहण करने वाला नहीं है। इसलिए जिनसे तुम इस योग-मार्ग को लेकर आए हो, यह वापस उन्हीं के पेट में समायेगी। इस संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है जो अंगूर के मीठे रस को तजकर नीम के फ़ल को अपने मुँह में डालेगा? कृष्ण की भक्ति अंगूर की तरह सरस है, जबकि योग-मार्ग नीम के फ़ल की तरह कटु और तिक्त है। सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम तो कृष्ण के गुणों को जानकर ही उनके साँवले रूप पर मोहित हुई हैं, अत: अब भला कैसे निर्गुण के साथ निर्वाह कर सकती हैं, अर्थात कृष्ण को छोड़कर निर्गुण ईश्वर से नाता जोड़ सकती हैं।

विशेष:- 1. सूरदास ने कई पदों में गोपियों के माध्यम से योग को एक व्यापार कहा है। 'आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी' या 'यह गोकुल गोपाल उपासी/ जे गाहक निर्गुन के ऊधौ, ते सब बसत ईस-पुर कासी' जैसी पंक्तियों में भी उद्धव को व्यापारी कहा गया है। मध्यकाल में निर्गुण पंथ के प्रचारकों द्वारा अपने मत के प्रसार और वर्चस्व की आक्रामक कोशिशें की जा रही थीं। ज्ञान के दंभ की वजह से वे अन्य मतों को हीन साबित करने का प्रयास करते थे। भक्ति की भावुक अपील की जगह,

ज्ञानमार्गियों में ज्ञान का व्यापारियों की तरह अहंकार था, इसलिए भी सूरदास ने उन्हें व्यापारी और उनके मार्ग को व्यापार कहा।

2. सगुण भक्ति में ईश्वर के प्रति अनन्य और अविचल प्रेम की बहुत प्रतिष्ठा है। लाभ का ध्यान कर आस्था में परिवर्तन को बहुत ही हेय माना जाता है। ऐसा तो व्यापार में होती है कि जहाँ अधिक लाभ मिला, व्यापारी अपना माल वहीं बेचता है। भक्ति व्यापार नहीं है। भक्ति में हानि-लाभ की चिंता किए बगैर अपने अराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण किया जाता है। गोपियाँ उद्धव को इसी नजरिये से व्यापारी कहती हैं।

4. 'जोग ठगौरी....' में रूपक अलंकार है, 'दाख छांड़ि कै..... खैहै' में अन्योक्ति अलंकार और 'गुनहिं छाँड़ि कै को निर्गुन' पंक्ति में श्लेष अलंकार है।

5. 'केना' बुंदेली भाष का शब्द है। सूरदास की भाषा बहुत ही समृद्ध थी। उनकी भाषा में लोक के मुहावरों और शब्दावलियों का सटीक प्रयोग मिलता है।

4. निर्गुन कौन देस को बासी?

मधुकर! कहि समुझाय, सौंँह दै, बूझति साँच, न हाँसी।।

को है जनक, जननी को कहियत, कौन नारि, को दासी?

कैसौ बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी॥

पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।

सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठग्यौ सो सूर सबै मति नासी॥

शब्दार्थ:- निरगुन:- निर्गुण; बासी:- निवासी; मधुकर:- भौरा; सौंँह:- शपथ, कसम, सौगंध; बूझतिँ:- पूछना; हाँसी:- मजाक; जनक:- जन्म देने वाला, पिता; जननी:- जन्म देने वाली, माता; बरन:-वर्ण,

रंग; भेष-वेशभूषा; अभिलाषी:- अभिलाषा या चाहत; गाँसी:- कपट, चुभने वाली बात; बावरौ:- बावला, पागल; मति:- बुद्धि, विवेक; नासी:- नष्ट होना।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- उद्धव के ज्ञान से परेशान होकर गोपियाँ उनके साथ छेड़छाड़ करने लगती हैं। उनके पास उद्धव की तरह ज्ञान में रचे-बसे तर्क नहीं हैं, इसलिए वे बहुत ही सहज सवालों से उनका सामना करती हैं। गोपियों का वाकचातुर्य बेजोड़ है। जीवन के सहज-सरल अनुभवों से निकले हुए तर्कों से गोपियाँ ज्ञान की गठरी लादकर ब्रज आए ज्ञानी उद्धव का सामना करती हैं, और उन्हें अपने विचारों के अनुकूल बनाने में सफ़ल होती हैं।

व्याख्या:- गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम हमें बताओ कि निर्गुण किस देश का निवासी है? ऐ मधुकर, यह बात हमें सौगंध देकर कहकर समझाओ। गोपियाँ उद्धव की चुटकी लेते हुए कहती हैं कि उद्धव हम यह बातें तुमसे सच में पूछ रही हैं, तुमसे कोई मजाक नहीं कर रही हैं। इस निर्गुण का कौन पिता है, कौन उसकी माता है, कौन उसकी पत्नी है और कौन उसकी दासी है? उसका रंग कैसा है, उसक वेशभूषा क्या है, और किस तरह के रस या आनन्द की चाह रखता है? यदि तुमने इस विषय में हमसे छल-कपट किया अर्थात झूठ बताया तो तुम अपनी करनी का फ़ल पाओगे। तात्पर्य यह कि यदि तुमने हम गोपियों को निर्गुण ब्रह्म के बारे में गलत जानकारी दी तो तुम्हें झूठ बोलने का पाप लगेगा। गोपियों के इन भोले तर्कों को सुनकर उद्धव की बुद्धि नष्ट हो गई, वे ठगे से चुपचाप उनको देखते रह गए।

विशेष:-

1. उपर्युक्त पंक्तियों में गोपियों के माध्यम से सूरदास ने जीवन के सहज अनुभवों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का तार्किक खंडन किया है।
2. गोपियों की वाग्वैदग्धता निखर कर प्रकट हुई है। इसमें सूरदास ने हास्य-व्यंग्य की स्त्रियोचित और ग्रामीण शैली का प्रयोग किया है। गोपियाँ बेहद भोलेपन से निर्गुण के विषय में पूछती हैं।

3. अत्यानुप्रास और छेकानुप्रास का प्रयोग

4. 'सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो' पंक्ति में निर्गुण ब्रह्म को परिभाषित नहीं कर पाने की उद्धव की असमर्थ मनोदशा का सटीक चित्रण हुआ है। वेद और उपनिषद में भी निर्गुण ब्रह्म को 'नेति नेति' कहकर अज्ञेय और अग्राह्य बताया गया है।

5. **ऊधो! जाहु तुम्हैं हम जाने।**

स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिँ पठाए तुम हौ बीच भुलाने।।

ब्रजबासिन सौं जोग कहत हौ, बातहु कहन न जाने।

बड़ लागै न बिबेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने॥

हमसौं कही लई सो सहिकै जिय गुनि लेहु अपाने।

कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर सँमुख करौ, पहिचाने॥

साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।

सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसुकाने ? ॥

शब्दार्थ:- पठाए- भेजना; ब्रजबासिन- ब्रज की स्त्रियाँ; सौं-कसम, सौगंध; बड़- बड़ा; अयाने- अज्ञानी; गुन लेहु-समझ लो; अपाने-अपने; दिगम्बर-साधु, नागा; संमुख-प्रत्यक्ष; निदाने-अंत में, समाधान करते हुए; बूझति-पूछती हैं; नेकहु-थोड़ा सा।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- कृष्ण के प्रति गोपियों की निष्ठा आत्यंतिक है। उद्धव के ज्ञान-योग से उनको चिढ़ हो रही है। उन्हें यह भी लगता है कि कृष्ण ने इन्हें सबक सिखाने के लिए ही हमारे पास भेजा है। भला कृष्ण को गोपियों के प्रेम के विषय में नहीं पता? इस पद में गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य कर रही हैं।

व्याख्या:- गोपियाँ उलाहना देते हुए उद्धव से कहती हैं कि तुम जाओ, हमने अब तुमको अच्छी तरह से जान लिया है। कृष्ण ने तुमको यहाँ नहीं भेजा है, उन्होंने तुमको कहीं और भेजा था, लेकिन तुम बीच में ही रास्ता भटक गए और यहाँ चले आए। तुम ब्रज की नारियों को योग की शिक्षा दे रहे हो, तुम्हें यह भी नहीं पता है कि किससे कौन सी बात करनी चाहिए? तुम्हारी बुद्धि बड़ी नहीं लगती अर्थात तुम बुद्धिमान नहीं लगते, हमें तो यह लगता है कि तुम नए-नए अज्ञानी बने हो।

तात्पर्य यह कि जल्दी ही तुम निर्गुण मत में दीक्षित हुए हो, इसीलिए तुम्हें पता नहीं है कि इस मार्ग का पथिक कौन है और कौन नहीं है। तुमने हमसे जो कुछ भी कहा, उसे तो हमने जैसे-तैसे सहन कर लिया, लेकिन जरा अपने मन में यह विचार करो कि कहाँ स्त्रियों का मर्यादा में बँधा जीवन, और कहाँ योग मार्ग पर चलने वाले दिगम्बर? एक तरफ़ स्त्रियाँ सारे शरीर पर वस्त्र धारण करती हैं, दूसरी ओर दिगम्बर नग्न होकर जीवन व्यतीत करते हैं। भला इन दोनों में किसी प्रकार का मेल है? क्या कोई स्त्री योग मार्ग को अपना कर दिगम्बर की तरह जीवन बिता सकती है? तुम खुद ही इस बात को समझने का प्रयास करो। तत्वज्ञान से परे हटकर जीवन की वास्तविकता के साथ इस बात के मर्म को जानो। खैर छोड़ो इन सब बातों को, अपनी इस जिज्ञासा का, कि कृष्ण ने तुम्हें हमारे पास ही भेजा था, पटाक्षेप करते हुए हम तुमसे यह जानना चाहती हैं कि जब कृष्ण तुम्हें हमारे पास भेज रहे थे, तब क्या वे थोड़ा सा मुस्काए भी थे? तात्पर्य यह है कि गोपियाँ उद्धव को यह बताना चाहती हैं कि कृष्ण ने तुम्हें हमारे पास योग का ज्ञान देने के लिए नहीं भेजा था बल्कि तुम्हारे ज्ञान के अहंकार को समाप्त करने के लिए भेजा था। कृष्ण को यह ठीक तरीके से पता है कि गोपियों के लिए योग-मार्ग उचित नहीं है।

विशेष:-

1. इस पद में वस्तु व्यंग्य ध्वनि के प्रयोग द्वारा उद्धव की मूर्खता का उपहास उड़ाया गया है।

2. अंतिम पंक्ति में काकु व्यंग्य है।

3. अंतिम दो पंक्तियों में पर्यायोक्ति अलंकार है।

4. सूरदास ने निर्गुण के खंडन का तर्क लोक-व्यवहार से ग्रहण किया है।

6. ऊधो ! मन नाहीँ दस बीस ।

एक हुतो सो गयो हरि सँग, को अराध तुव ईस ?

भइँ अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिन सीस ।

स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस ॥

तुम तौ सखा स्यामसुंदर के सकल जोग के ईस ।

सूरदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ॥

शब्दार्थ:- हुतो- होना; अराध-अराधना; ईस-ईश्वर; जथा-जैसे; कोटि-करोड़; बरीस-वर्ष; पुरवौ- परितृप्त होना।

संदर्भ:-उपरोक्त

प्रसंग:- इस पद में कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा एकमात्र मन कृष्ण के साथ ही मथुरा चला गया है, अब हम किसी अन्य देवता में मन लगा सकने में असमर्थ हैं।

व्याख्या:- गोपियाँ उद्धव को संबोधित करते हुए कहती हैं कि हमारे पास दस-बीस मन नहीं है। हमारे पास भी अन्य लोगों की तरह ही एक ही मन है, और वह एक मन स्याम के साथ मथुरा चला गया है, अब आप ही बताओ कि आपके ईश्वर की अराधना कैसे करें? अर्थात, हमारा मन तो कृष्ण के पास है, फ़िर हम किस मन से आपके ईश्वर की अराधना करें। माधव यानी कृष्ण के बिना हम सभी प्रकार से शिथिल और असहाय हो गई हैं, जैसे शरीर के बिना सिर असहाय और शिथिल हो जाता है। किंतु, विरह की इस तीव्र वेदना के बावजूद हमारी साँसे हमारे शरीर में अटकी हुई है, और कृष्ण-मिलन की आशा में करोड़ों वर्षों तक मैं जीवित रहूँगी। तुम तो श्यामसुंदर यानी कृष्ण के मित्र हो और समस्त योग के स्वामी हो, इसलिए यह योग आपके लिए ही उपयुक्त है, इससे हमारा क्या नाता। सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से निवेदन करती हैं कि तुम तो हमारे सामने रसिक-सिरोमणि कृष्ण की ही बातें करो, जिससे हमारा मन परितृप्त हो जाए।

विशेष:-

1. 'भइँ अति सिथिल....' पंक्ति में उपमा अलंकार है। 'स्वासा अटकि रहे आसा.....' पंक्ति में अत्यानुप्रास है।

2. सूरदास ने इस भाव-बोध से संबंधित अनेक पदों की रचना की है, यथा- 'ऊधो! यह मन और न होय' एवं 'मधुकर! मन तो एकै आहि'।

3. गोपियों के द्वारा कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति की व्यंजना।

7. ऊधो! अँखियाँ अति अनुरागी ।

इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी ।।

बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हौ बिदमान ।

अब धौं कहा कियौ चाहत हौ? छाँड़हु नीरस ज्ञान ॥

सुनु प्रिय सखा स्यामसुंदर के जानत सकल सुभाव ।

जैसे मिलैं सूर प्रभु हमकौं सो कछु करहु उपाव ॥

शब्दार्थ:- इकटक-एकटक; मग-मार्ग, राह; जोवति-देखती; पावस- वर्षा का माह ; बिदमान-विद्यमान, प्रत्यक्ष; सुभाव-स्वभाव; उपाव-उपाय।

संदर्भ:-उपरोक्त

प्रसंग:- इन पंक्तियों में गोपियाँ उद्धव से कृष्ण के वियोग में विरह से आकुल अपनी आँखों की दशा का वर्णन कर रही हैं।

व्याख्या:- गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारी आँखें कृष्ण के अनुराग में अत्यंत अनुरक्त हैं। कृष्ण के मथुरा गमन के बाद से ही ये आँखें एकटक कृष्ण के लौटने की राह देख रही हैं, और रो रही हैं। कृष्ण को देखने की तीव्र चाह में भूल से भी इन आँखों की पलक नहीं लगती । वर्षा ऋतु के आए बिना ही वह इन आँखों में आ गयी है। इन आँखों से निरंतर गिरते आँसू वर्षा ऋतु का अहसास करा रहे हैं, तुम इसे प्रत्यक्ष देख रहे हो। हमारी दशा तुम्हारे सामने है, फ़िर भी तुम पता नहीं क्या करना चाहते हो। अब तुम निर्गुण के नीरस ज्ञान को छोड़ दो। तुम तो श्याम सुंदर के प्रिय सखा हो, और उनके समस्त स्वभाव को जानते हो, इसलिए अंतिम पंक्ति में सूरदास कहते हैं कि गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण जिस प्रकार से हमें मिल सकें वैसा कुछ उपाय करो।

विशेष:-

1. `बिन पावस ऋतु.....' पंक्ति में विभावना अलंकार है।
2. गोपियों की अनंत प्रतीक्षा का मार्मिक वर्णन।

8. संदेसो देवकी सौं कहियो ।

हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥

उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते ।

जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिकै न्हाते ॥

तुम तौ टेव जानति ही ह्वैहौ तऊ मोहिँ कहि आवै ।

प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहिं माखन रोटि भावै ॥

आब यह सूर मोहिँ निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच ।

अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वैहैँ करत सँकोच ॥

शब्दार्थ:- धाय-दाई; उबटन- सरसों पीस कर बनाया गया एक घोल; तातो:- गरम; भजि-भागना; क्रम क्रम-कठिनाई ; टेव-आदत; निसि बासर- दिन-रात; अलक लड़ैते- लाड़ले।

संदर्भ:-प्रस्तुत पंक्तियाँ राजदेव सिंह द्वारा संपादित 'प्राचीन काव्य संग्रह' से ली गई हैं। सूरदास वात्सल्य भाव के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। बाल-मन और बालक-प्रेम का ऐसा चितेरा विश्व साहित्य में दुर्लभ है। कृष्ण की बाल-लीला का मार्मिक और सजीव वर्णन इन्होंने किया है। कृष्ण-वियोग में यशोदा की मनोदशा के माध्यम से सूरदास ने इस पद में प्रत्येक भारतीय माँ के हृदय का चित्र प्रस्तुत किया है।

प्रसंग:- कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात उनका पालन करने वाली माँ यशोदा का हृदय चिंतित हो उठता है। मथुरा में कृष्ण को जन्म देने वाली माँ देवकी रहती हैं। यशोदा को विश्वास नहीं होता कि देवकी कृष्ण का ठीक से ख्याल रख पायेंगी। इन पंक्तियों में यशोदा देवकी को कृष्ण की आदतों के बारे में बताती हैं, और उनका ठीक से ख्याल रखने के लिए कहती हैं।

व्याख्या:- यशोदा पथिक से कहती हैं कि जब मथुरा जाना तो मेरा यह संदेश देवकी से कहना कि मैं तो तुम्हारे बेटे कृष्ण की दाई ही हूँ, लेकिन तुम उस पर अपनी कृपा सदा बनाए रखना। उनसे कहना कि कृष्ण उबटन, तेल और गर्म जल देखते ही नहाने के डर से भाग जाता है। जो-जो वे मांगते हैं, वही-वही देकर बहुत ही कठिनाई से मैं उन्हें नहलाती थी। तुम तो उसकी माँ हो, इसलिए उसकी आदतों से परिचित ही हो, फ़िर भी मैं तुम्हें बताना चाहती हूँ कि सुबह उठते ही मेरे लाड़ले को माखन-रोटी खाना पसंद है। सूरदास लिखते हैं कि यशोदा कहती हैं कि दिन-रात

मेरे हृदय में यह सोच बढ़ती जा रही है कि मेरा दुलारा बेटा वहाँ संकोच करता होगा। वह उतना खुलकर अपनी माँग नहीं रखता होगा, जितना मेरे सामने रखता था।

विशेष:-

1. स्वभावोक्ति अलंकार के साथ वात्सल्य रस का सुंदर संयोजन।
2. संदेश भेजने की भारतीय परंपरा का अनुसरण। इसमें नवीनता यह है कि यह संदेश एक माँ द्वारा अपने बेटे को भेजा गया है।
3. माँ के हृदय का बेहद संवेदनशील और भावुक चित्रण।

4.2.2.सूरदास की भक्ति-भावना:

सूरदास की गणना हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ भक्त-कवियों में की जाती है। इनका सम्पूर्ण और श्रेष्ठ लेखन भगवद-भक्ति के क्रम में ही प्रकाश में आया। भक्ति ही उनके काव्य का साधन है और साध्य भी। वल्लभाचार्य से मुलाकात के पहले की इनकी भक्ति में जहां दीनता का स्वर प्रबल है वहीं उसके बाद की भक्ति में कृष्ण के लीलागान का। श्रीकृष्ण सूर के इष्टदेव हैं और उनकी भक्तवत्सलता से वे सर्वाधिक प्रभावित हैं। इसीलिए सूर उन्हें वासुदेव, जगदीश, हरि, यदुनाथ आदि अनेक नामों से पुकारते हैं और उनकी स्वभाव की मुख्य विशेषताएं उदारता, करुणामयता और भक्तवत्सलता बताते हैं। सूरदास की भक्ति में शास्त्रीय मतों का अनुगमन कम श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं का रसमय गान अधिक है। उन्होंने ज्ञान और योग का खंडन कर सगुण कृष्ण की लीला को अपनी भक्ति का आधार बनाया। उनकी भक्ति में श्रेष्ठ दार्शनिक ज्ञान, अवतारवाद, अनुभूत सत्य और अपने समय की चेतना का सुंदर समन्वय है।

सूरदास की भक्ति का आधार वल्लाभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैतवाद का दर्शन है। इस दर्शन की मूल स्थापना यह है कि ब्रह्म माया से रहित है। वास्तव में शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के क्रम में जब केवल ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या घोषित किया तब उन्होंने जगत की सृष्टि का कारण माया को माना। वल्लभ की मूल आपत्ति यही थी कि सर्वशक्तिमान ईश्वर क्या इतना भी समर्थ नहीं है कि वह अकेले जगत की रचना कर सके, और तब उन्होंने कहा कि ब्रह्म कुछ भी करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र है उसे माया के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं। माया से रहित

ब्रह्म के शुद्ध रूप का दर्शन कराने के कारण ही इस दर्शन को 'शुद्धाद्वैतवाद' कहा गया। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म और जीव एक ही हैं दोनों में मूलभूत अंतर यह है कि ब्रह्म जहाँ- सत, चित और आनन्द- तीनों शक्तियों से सम्पन्न है वहीं जीव में केवल दो शक्तियाँ- सत और चित- ही प्रकट रहती हैं, आनन्द नामक तीसरी शक्ति उसके भीतर ही छुपी रहती है। ईश्वर की भक्ति और लीलागान द्वारा भक्त इसी शक्ति को जाग्रत करता है और फ़िर ईश्वरीय लोक में प्रविष्ट हो जाता है। सूरदास के काव्य में श्रीकृष्ण के लीलागान की प्रधानता का यही रहस्य है।

सूरदास की भक्ति की विशेषताएँ निम्न हैं:-

सगुण कृष्ण की अराधना:- सूरदास ने सचेत होकर कृष्ण के सगुण रूप की भक्ति की है। सगुण कृष्ण की भक्ति उन्हें अधिक सरस, सहज और सुगम लगती है। रूप-रेखा-गुनविहिन ब्रह्म को सूर नकारते नहीं हैं पर मन-वाणी से अगम-अगोचर मानकर उसे छोड़ देते हैं। रूप ही मन का अवलंब है इसलिए सूर के कृष्ण सगुण हैं। वे रूपोपासक हैं, लीलागायक हैं, मधुराभक्ति के भावक हैं:

अविगत गति कछु कहत न आवै।

ज्यौं गूंगे मीठे फ़ल को रस अंतरगत ही भावै।

परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।

मन बानी कौ अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।

रूप रेख गुन जाति जुगति विनु निरालंब कित धावै।

सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै।

पुष्टिमार्गीय भक्ति:- सूरदास की भक्ति 'पोषणं तदनुग्रहः' अर्थात भगवान का अनुग्रह (कृपा) ही जीवों का पोषण है, के सिध्दांत के अनुरूप है। यह उनकी भक्ति का मेरुदण्ड है। सूरदास का मानना है कि भगवान की अनुकम्पा ही जीवात्मा की पुष्टि अर्थात पोषण का सर्वोत्तम सहारा है। उसकी कृपा से ही भक्त के हृदय में भक्ति का संचार हो पाता है। इसलिए प्रेमपूर्ण हृदय से भगवान की सेवा करना ही जीव का परम लक्ष्य होना चाहिए। भक्त की सेवा से यदि ब्रह्म प्रसन्न हो जाये तो उसे

जीवदशा से मुक्त कर अपने आप में मिला लेता है। इस मुक्ति को सायुज्यमुक्ति कहते हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति के दो रूप हैं- साधन-रूप और साध्य-रूप। साधन-भक्ति में भक्त को प्रयत्न करना पड़ता है जबकि साध्य-भक्ति में भगवान स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं। भक्त तो भगवान का अनुग्रह प्राप्त कर उसमें मगन हो जाता है। सूरदास ने अपने एक पद में कहा है---------

जा पर दीनानाथ ढरै।

सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै।

सूर पतीत तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै॥

प्रेमलक्षणा भक्ति:- सूरदास की भक्ति का सार है उनकी प्रेमभक्ति। उन्होंने अपने समय में प्रचलित ज्ञान, योग और निर्गुण भक्ति का सचेत प्रत्याख्यान कर प्रेमलक्षणा भक्ति की स्थापना की। सूर की गोपियों ने तार्किक तरीके से निर्गुण भक्ति का खंडन और प्रेममूलक सगुण भक्ति का मंडन किया। उनके लिए प्रेमविहिन जीवन की कोई सार्थकता नहीं है। वे ज्ञानयोग से मिलने वाली कोटि मुक्ति को कृष्ण की एक मधुर मुस्कान पर कुर्बान कर देने के लिए तैयार हैं। सूर की गोपियाँ गोपाल के प्रेम, उनकी आसक्ति और उनकी लीला में ही समस्त प्रकार की मुक्ति का समावेश पाती हैं। यही प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वभाव है कि इसमें मुक्ति सहज-सुलभ होकर भी अनावश्यक हो जाती है। भक्त मुक्ति की जगह भगवान के प्रेम में ही मगन रहना चाहता है। प्रेमलक्षणा भक्ति में प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। प्रेम के वशीभूत होकर ही कृष्ण ब्रज में अवतार लेते हैं। सूरदास लिखते हैं कि- *प्रीतिवश नटवर रूप धरयो।*

कृष्ण की लीलाओं का गान:- पुष्टिमार्गी भक्ति में तीन आसक्तियों का उल्लेख मिलता है- लीलासक्ति, रूपासक्ति एवं भावासक्ति। 'सगुणलीला पद गावै' कहने वाले सूर के काव्य में लीलासक्ति का प्रधान स्थान है। सूर कृष्ण के सगुण रूप की लीलारस के रसिक हैं। इसीकारण उन्हें कृष्ण के शास्त्रसमर्थित रूप की तुलना में लोकपोषित लीलाओं ने अधिक आकर्षित किया। वे मथुरा के राजा कृष्ण की तुलना में वृन्दावनविहारी कृष्ण के लीलागान में अधिक मगन मिलते हैं। सूर के काव्य में इस लीला के अनेक रूप मिलते हैं- वात्सल्य, वियोग श्रृंगार, संयोग श्रृंगार, रूप वर्णन

आदि। यशोदा नंद का वात्सल्य भाव, गोपियों का रास, बालकृष्ण का नटखटपन, ब्रजमंडल का प्रेमभाव जैसे अनेक पारम्परिक प्रसंगों में नवीन उद्भावनाओं को शामिल कर सूर ने कृष्ण की लीला गान को अद्‌भुत विस्तार दिया है।

सख्य-भक्ति:- सूरदास के काव्य में विद्यमान सख्य भाव की भक्ति उन्हें भक्तिकाल का विशिष्ट कवि बनाती है। भक्तिकाल के किसी अन्य प्रसिद्ध कवि में इतनी प्रमुखता से सख्य भाव की भक्ति नहीं मिलती। कबीर में दास्य भाव, तुलसी में सेवक-सेव्य भाव, मीरा में दाम्पत्य भाव तो सूरदास में सखा भाव की प्रधानता है। संभवत: इसी कारण लोक में यह प्रसिद्ध है कि सूरदास श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार थे। सूर-काव्य में सख्य-भक्ति के दो रूप मिलते हैं- गोप व ग्वालों के साथ कृष्ण का सखा रूप में विचरण और गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम-भाव। पहले रूप में ईश्वर का एक ऐसा विश्वसनीय, उदार और आत्मीय रूप उभरता है जो हर प्रकार की मानवीय सीमाओं को लाँघ कर मानव मात्र से प्रेम करता है, और दूसरे रूप में विरहजन्य वेदना से पैदा हुई तल्लीनता, सगुण-निर्गुण विवेचन, ज्ञान और भक्ति के बीच के अंतर का सुंदर चित्रण सूरदास की भक्ति-पद्धति का दार्शनिक और भावुक दोनों रूप सामने लाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "अगर हमसे कोई पूछे कि 'सूरसागर' का 'सेंट्रल थीम' क्या है तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे- 'छबीले मुरली नेकु बजाउ'। नि:संदेह सखाओं के व्याज से सूर ने स्वयं अपने मनोभाव को प्रकट किया है। "

ज्ञान-मार्ग का सचेत विरोध:- हिन्दी के अधिकांश प्रसिद्ध कवियों ने किसी भी सम्प्रदाय से स्पष्ट रूप से जुड़ने में संकोच किया लेकिन सूरदास जाहिर तौर पर 'अष्टछाप' में शामिल हुए। सूरदास के काव्य में कृष्ण के अलावा किसी अन्य देवता की स्तुति न के बराबर है। भक्तिकाल में सगुण-निर्गुण का स्पष्ट विभाजन है लेकिन सूरदास को छोड़कर किसी भी कवि ने इसकी सायास चर्चा नहीं की है। सूरदास द्वारा 'भ्रमरगीत' प्रसंग की रचना का मूल उद्देश्य ही तत्कालीन समाज में प्रचलित ज्ञानमार्गी संतों का सचेत विरोध था। इस मामले में सूरदास एक जागरुक भक्त थे। भ्रमरगीत प्रसंग के माध्यम से सूरदास ने ज्ञानमार्ग की निस्सारता का उद्घाटन किया और भक्ति-मार्ग की सहजता-सरसता की स्थापना की। उद्धव का ज्ञान-दंभ ज्ञानमार्गी संतों के अहंकार का प्रतीक है और गोपियों

की तार्किकता सूर के विचार हैं जो कृष्ण-भक्ति के प्रति उनके अनन्य समर्पण से जन्मे हैं। यह प्रसंग कृष्ण-भक्ति की मधुरता, तन्मयता, सरसता और सुगमता को महसूस कराने और ज्ञानमार्ग की जड़ता को दिखाने के लिए रचा गया था। वैसे यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सूर ज्ञान मात्र के विरोधी न होकर उस ज्ञानमार्ग के विरोधी हैं जो मनुष्य को सहज भक्ति से दूर ले जाकर अहंकारी बनाता है। गोपियाँ कहती हैं कि- '***सुनि है कथा कौन निर्गुण की, रचि रचि बात बनावत/ सगुण सुमेरू प्रगट देखियत, तुम तृन की ओर दुरावत।***'स्पष्ट है कि सगुण भक्ति में ईश्वर जहाँ सुमेरू पर्वत की तरह प्रगट दिखता है उसको त्याग कर उस ज्ञानमार्गी निर्गण भक्ति की ओर कोई क्यों जाना चाहेगा जिसमें उसे छोटे घास की तरह तलाशना होगा। सूरदास ने ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का खण्डन करते हुए सगुण भक्ति का ऐसा रसमय मार्ग प्रस्तुत किया जिसने लोक-चित्त में विद्यमान निराशा को उखाड़ फ़ेंका और जीवन जीने की नयी चाह पैदा की। सूरदास ने भले ही श्रीमदभगवत की कथा को सूरसागर का आधार बनाया हो लेकिन उसमें डाला गया रंग सूर का अपना था।

भक्तवत्सलता और दैन्य-भाव:- पुष्टिमार्गी भक्ति जीव के तीन प्रकार बताता है- १) पुष्टि जीव- जो भगवान के अनुग्रह का भरोसा रखता है, २) मर्यादा जीव- जो वेद विधियों का अनुसरण करता है, ३) प्रवाह-जीव- जो संसार-प्रवाह में पड़कर संसार के सुखों में लिप्त रहता है। पुष्टिमार्ग के अनुसार पुष्टि जीव सर्वोत्तम जीव होता है। यह जीव केवल भगवान की अनुग्रह की कामना करता है, उसके प्रति अपने दैन्य का प्रदर्शन करता है, और उसको अटूट विश्वास होता है कि भक्तवत्सल भगवान एक दिन उस पर जरूर कृपा करेंगे। इसी कारण सूरदास की भक्ति का मुख्य स्वर दीनता का और प्रिय विषय भगवान की भक्तवत्सलता है। सूर ईश्वर के समक्ष आत्म-दैन्यता का प्रदर्शन करते हुए कहते है कि- '***प्रभु हौं सब पतितन को टीको/ और पतित सब द्यौस चारि कैं हौं तो जनमत ही को।***' सूर अपने भगवान के समक्ष कबीर की तरह कुत्ता तो नहीं बनते लेकिन इतने दयनीय तो हो ही जाते हैं कि वल्लभाचार्य को उनको डाँटते हुए कहना पड़ा कि " *सूर ह्वै कें ऐसो घिघियात काहे को है? कछू भगवत्लीला वर्णन करि।"* तात्पर्य यह कि 'तुम सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो? कुछ भगवान की लीला का वर्णन करो।' ईश्वर की लीला के वर्णन के दौरान सूर का ध्यान सबसे पहले उनके उस कृपासिंधु रूप पर ही गया जो अपने भक्तों के दुखों के हरण के लिए पैदल ही दौड़ पड़ता

है। सूर को अटूट विश्वास है कि भगवान एक दिन उनकी आतर पुकार सुनेंगे और अपनी शरण में उन्हें ग्रहण करेंगे।

भक्ति का सहज-सतत विकासशील स्वरूप:- सूरदास की भक्ति किसी एक निश्चित खाँचे में बँधी स्थिर भक्ति नहीं है। उनके पदों के क्रमिक अध्ययन से पता चलता है कि उनकी भक्ति निरंतर विकसनशील रही है। वल्लभाचार्य से मुलाकात के पहले उनकी भक्ति में दैन्य और विनय का स्वर प्रबल था लेकिन उसके बाद प्रेमाभक्ति का प्रभाव अधिक हो गया। सूरदास के काव्य में विनय और हरिलीला के पदों की समान उपस्थिति है। विनय के पदों में धर्म की रसात्मक अनुभूति या आध्यात्मिक साधना के तीन सोपानों- आकांक्षा, अस्वीकृति और आत्मसमर्पण- का क्रमश: विकास दिखाई पड़ता है जबकि हरिलीला के पदों में वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। इस क्रम में दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदन जैसे भक्ति के अनेक रूपों का दर्शन होता है।

प्रो. मैनेजर पांडेय ने रेखांकित किया है कि " सूरदास की भक्तिभावना की एक बड़ी विशेषता है, उसका सहज-सतत विकासशील रूप। सूर की भक्तिभावना दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन की वैधी भक्ति से दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की रागानुगाभक्ति के विविध सोपानों को पार करती हुई प्रेमाभक्ति की सिद्धावस्था में पहुंची है। उसमें भक्ति-भावना के सभी रूप हैं, नारदभक्तिसूत्र की ग्यारहों प्रकार की आसक्तियों का क्रमिक विकास है। सूरसागर केवल रससागर और रागसागर ही नहीं, भक्तिसागर भी है। उसमें भक्ति की सभी भावधाराएं और अनुभूति की लहरियों का विलास है।"

4.2.3 सूरदास का वात्सल्य-वर्णन:

वात्सल्य शब्द 'वत्स' धातु से व्युत्पन्न हुआ है और यह अपने संतान के प्रति माता-पिता की रति का पर्याय है। किसी बालक-बालिका के बालकोचित स्वभाव और चेष्टाओं से अभिभूत उसके माता-पिता या किसी भी अन्य व्यक्ति के हृदय में उमगने वाले नैसर्गिक स्नेह को वात्सल्य कहा जाता है। इसकी गणना मनुष्य के प्रधान एवं मौलिक मनोभावों में होती है। रति के बाद वात्सल्य ही

सर्वाधिक आदिम और सर्वत्र पाया जाने वाला मनोभाव है। प्रेम में जिस प्रकार की घनिष्ठता, लगाव, बलिदान, समर्पण, आत्मीयता, अंतरंगता और उदातता की उपलब्धि होती है उसकी पराकाष्ठा वात्सल्य में प्रकट होती है। इसीलिए संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने देवादिविषयक रति को केवल 'भाव' ठहराया है और वात्सल्य को 'रति' माना है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में जिन आठ रसों की कल्पना की है उसमें वात्सल्य नहीं है लेकिन बाद के कुछ आचार्यों ने 'वत्सल' नामक एक रस की परिकल्पना की है जिसका स्थायी भाव वत्सलता या वात्सल्य को माना है। आचार्य विश्वनाथ ने इस रस को विस्तार में बताते हुए लिखा है कि, "बाल-सुलभ चेष्टाओं के साथ-साथ उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि विशेषताएँ उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगसंस्पर्श, शिर का चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व, आवेग, अनिष्ट की आशंका आदि संचारी माने जाते हैं। इस रस का वर्ण पद्म-गर्भ की छवि जैसा और देवता लोकमाता या जगदम्बा है।"

भारत में प्राचीन काल से ही संयुक्त परिवार की व्यवस्था रही है जिसके केंद्र में बालक-बालिका होते हैं, इस कारण भारतीय जीवन में वात्सल्य की बेहद सहज और स्वाभाविक उपस्थिति रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भारत का आदिकाव्य कहे जाने वाले वाल्मीकि के 'रामायण' के बालकांड के अठारहवें सर्ग में ही राम और उनके भाइयों की बाल-लीलाओं का मनोरम चित्रण हुआ है। अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में गौतम बुद्ध के बाल्यकाल का वर्णन किया है तो कालिदास ने 'रघुवंशम' के तृतीय सर्ग में रघु की बाल-लीलाओं और उनके पिता दिलीप वात्सल्य का मोहक वर्णन किया है। भास के बालचरित नाटक और भवभूति के 'उत्तररामचरित' में भी वात्सल्य की सुंदर प्रस्तुति हुई है। संस्कृत साहित्य में बालकों के साथ-साथ बालिकाओं के प्रति व्यक्त वात्सल्य भाव का दुर्लभ चित्रण भी देखने को मिलता है। कालिदास ने 'कुमारसंभवम' के प्रथम सर्ग में बालिका पार्वती के अंग-सौंदर्य और बाल-क्रीड़ाओं का बहुत ही मनोहर वर्णन किया है। संस्कृत साहित्य की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए अपभ्रंश के कवि पुष्पदंत ने 'उत्तरपुराण' में नारायण की बाललीला का मनमोहक वर्णन किया है।

भारतीय कविता में वाल्मीकि से शुरु हुई वात्सल्य-वर्णन की समृद्ध परंपरा को आत्मसात कर सूरदास ने हिन्दी में न केवल इसका सूत्रपात किया बल्कि सफ़लता के शिखर पर प्रतिष्ठित कर

दिया। जहाँ उनके पूर्ववर्ती कवियों ने वात्सल्य के केवल संयोग पक्ष का वर्णन किया था वहीं सूरदास ने उसके वियोग पक्ष की भी व्यंजना कर उसके रसत्व को पूर्णत: स्थापित कर दिया। सूरदास वात्सल्य-वर्णन के सम्राट कहे जाते हैं। हिन्दी ही नहीं भारतीय साहित्य में सूरदास जैसा वात्सल्य का कोई गायक नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है कि, " जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अन्त:प्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्यभावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है।"

सूरदास के पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों ने बाल्य-लीला का वर्णन कथात्मक विकास के क्रम में केवल संबंध निर्वाह के रूप में किया है जबकि सूरदास ने कृष्ण की बाललीला का स्वतंत्र वर्णन किया है। उन्होंने कृष्ण के बाल्य-काल से संबंधित लगभग छ: सौ पदों की रचना की है जिसमें बालक कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा प्रवास तक की विभिन्न घटनाओं का चित्रण है। इनमें सर्वाधिक पद यशोदा के मनोभावों को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं। सूरदास जानते थे कि पुत्र के स्नेह का सम्पूर्ण संचयन मां के हृदय में ही होता है जो जरा सा अवसर पाकर ही छलक पड़ता है। मंगलविधान, रक्षण और आनंदानुभूति- प्रेम के ये तीनों विधायक तत्त्व वात्सल्य में अपनी उत्कर्षित अवस्था में होते हैं। यशोदा अपने कान्हा की प्रत्येक चाल पर आनंदित होती हैं, उसके सुख के लिए चारो पहर तत्पर और उसकी रक्षा के लिए सदैव चिंतित रहती हैं। वास्तव में कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं का जैसा मनोमुग्धकारी चित्र 'सूरसागर' में उपलब्ध है वैसा हिन्दी ही नहीं विश्व-साहित्य में देखने को नहीं मिलता। सूर के वात्सल्य-वर्णन में मार्मिकता और विविधता के साथ-साथ रमणीयता और स्वाभाविकता भी विद्यमान है, इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि सूर के वात्सल्य वर्णन के सामने हिन्दी के अन्य कवियों की पंक्तियाँ उनकी जूठन सी जान पड़ती हैं। आगे हम सूरदास के वात्सल्य-वर्णन की विशेषताओं पर विस्तार से विचार करेंगे।

संयोग-वर्णन:- कृष्ण के बाल्यकाल के दो स्पष्ट चरण हैं। पहला चरण यशोदा के साथ वृंदावन में बिताये पल हैं और दूसरा अक्रूर द्वारा उन्हें मथुरा ले जाने के बाद वियोगावस्था में बिता कृष्ण और यशोदा का समय है। सूर ने इन दोनों परिस्थितियों की बहुत ही सुंदर व्यंजना की है, वैसे संयोगावस्था के चित्रण में उनका मन ज्यादा रमा है।

कृष्ण-जन्म के आनन्दोत्सव का चित्रण:- बालक का जन्म भारतीय समाज में अद्‌भुत आनन्द का क्षण होता है। सूरदास के वात्सल्य वर्णन का आरंभ बालक कृष्ण के जन्म से ही होता है। बालक के जन्म का समाचार सुनकर लोग नन्द के घर बधाई देने पहुँच रहे हैं। उनके घर पर लोगों का ताँता लगा हुआ है। एक आ रहा है तो एक जा रहा है। माता यशोदा लोगों को बहुत प्रकार की वस्तुएँ देकर विदा कर रही हैं। नन्द के घर सौन्दर्य के सिंधु कृष्ण के जन्म का प्रभाव समस्त वृंदावन में हो रहा है। उसका आनन्द ब्रज की गलियों में फ़ैल रहा है। सूरदास लिखते हैं-

सोभा सिंधु न अन्त रही री।

नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फ़िरति वही री।

देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर-घर बेँचति फ़िरति दही री।

कहँ लगि कहौँ बनाइ बहुत विधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री।

बाल-कृष्ण की रूप माधुरी का वर्णन:- सूरदास के लिए बालक कृष्ण भगवान की लीला का एक रूप हैं इसके बावजूद उन्होंने उनका बेहद सहज, सजीव, जीवंत और नैसर्गिक चित्र खिचा है। कहीं-कहीं उन्होंने बालक कृष्ण को परमात्मा का अवतार मान कर सीधे-सीधे ही उनके सौंदर्य का वर्णन किया है- *'हरिजू की बाल छवि कहौं बरनि/ सकल सूख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि।'* उनके कृष्ण अद्वितीय सौन्दर्य के पुंज हैं। उनके सौन्दर्य वर्णन में सूर ने भारत की सांस्कृतिक चेतना से निर्मित सौन्दर्य-बोध का भरपूर प्रयोग किया है जिससे वह हमारी सौन्दर्यानुभूति को गहराई में जाकर प्रभावित करता है। सूर ने अपने पदों में बालक कृष्ण की रूप-माधुरी का ऐसा बिम्बात्मक चित्र खिंचा है जिसको देखकर कठोर-से-कठोर हृदय का व्यक्ति भी मोहित हुए बिना नहीं रह सकता। बालक कृष्ण के सौन्दर्य का अलंकारिक वर्णन करते हुए सूर लिखते हैं-

ललन हौं या छबि ऊपर वारी।

बाल गोपाल लागौ इन नैननि, रोग-बलाई तुम्हारी।

लट-लटकनि, मोहन, मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।

मनौ कमल-दल सावक पेखत, उड़त मधुप छवि न्यारी।

लोचन ललित, कपोलनि काजर, छवि उपजति अधिकारी।

वैसे उपर्युक्त पद के साथ-साथ अन्य तमाम पदों में सूरदास कृष्ण के सौन्दर्य को यशोदा की आँखों से निरखते हैं-भक्त की आँखों से नहीं। और जहाँ-जहाँ वे ऐसा करते हैं वहाँ-वहाँ बालक कृष्ण के नैसर्गिक सौन्दर्य का वर्णन पाठकों के हृदय में बालक मात्र के प्रति आकर्षण पैदा कर पाने में सफ़ल होता है।

बालक कृष्ण की ललित क्रीड़ाओं और चेष्टाओं का वर्णन:- किसी भी बालक-बालिका की सामान्य क्रियायें और मुद्रायें भी हमारा मन मोह लेती हैं तब ईश्वर के अवतार कृष्ण की अदाओं के क्या कहने! सूरदास ने अंधी आँखों के बावजूद कल्पना की उड़ान से बालक कृष्ण की विविध क्रीड़ाओं और चेष्टाओं का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्र खिंचा है कि उससे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता, बाल स्वभाव की सच्ची पहचान और नवीन प्रसंगों की उद्भावना की उनकी शक्ति का पता चलता है। बालक कृष्ण के घुटनों चलने, मक्खन खाने, तोतली वाणी में बोलने, माँ को पुकारते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़ने, मणिमय आँगन में अपने ही प्रतिबिम्ब को पकड़ने की कोशिश करने जैसे सामान्य, सूक्ष्म और विशिष्ट चित्रों की सूरदास ने ऐसी शृंखला निर्मित की है कि उनके अंधेपन पर ही अविश्वास हो जाता है। मक्खन खा कर घुटनों के बल चलते हुए कृष्ण का एक गतिशील बिंबात्मक चित्र देखिए:-

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तनु मंडित, मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनु मत्तमधुप-गन मादक मधुहिं पिए।

कठुला कंठ ब्रज केहरि नख, राजत रुचिर हिए।

धन्य सूर एको पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए।

बाल स्वभाव और उसकी अंत:प्रकृति का चित्रण:- बालक-बालिकाओं का रूप-लावण्य और स्वभाव जितना हमें आकर्षित करता है उससे कहीं ज्यादा हमें उनका नटखटपन प्रभावित करता है। सूरदास ने बालक कृष्ण के अंत:सौन्दर्य और अंत:प्रकृति का भी रमणीय चित्र निर्मित किया है। बड़ों की तरह बालकों में भी स्पर्धा, ईर्ष्या, प्रतिद्वंद्विता, खीज, हठ, बुद्धि-चातुर्य जैसी मनोवृतियाँ होती हैं लेकिन इस वजह से उनके द्वारा की जाने वाली क्रियायें बाल-बुद्धि के कारण पीड़ा की जगह आनन्द की वस्तु हो जाती है। बच्चों के भीतर दूध पीने की स्वाभाविक अनिच्छा होती है, कृष्ण को भी मक्खन तो प्रिय है लेकिन दूध पीने को लेकर वे आनाकानी करते हैं। माता यशोदा उन्हें फ़ुसलाते हुए कहती हैं कि दूध पीने से तुम्हारी चोटी बढ़कर बलराम की तरह हो जायेगी। कृष्ण एक हाथ में दूध और दूसरे हाथ में अपनी चोटी पकड़कर दूध पीते हैं। कई घूँट दूध पी लेने के बाद भी जब उनकी चोटी नहीं बढ़ती तो माँ से इसकी शिकायत करते हुए कहते हैं-

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी

किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।

तू जो कहती बलि की बैनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।

काँचौ दूध पिवावत पचि-पचि देत न माखन रोटी।

इसी प्रकार '*मैया मोरी मैं नहीं माखन खायौ*' पद में कृष्ण चोरी कर मक्खन खाते हुए जब रंगे हाथों पकड़े जाते हैं तब अपने मुँह में लगे मक्खन के विषय में बाल-सुलभ सफ़ाई देते हुए कहते हैं कि यह तो मेरे दोस्तों ने मुझे बदनाम करने के लिए जबरदस्ती मेरे मुँह में लगा दिया। तुम खुद ही देख लो कि मक्खन कितनी ऊँचाई पर टँगा है और मैं कितना छोटा हूँ। मैं भला वहाँ कैसे पहुँच सकता हूँ? '*मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो*' पद में माँ के प्रेम पर एकाधिपत्य और इसके अभाव में बाल-सुलभ खिझ का सूरदास ने बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है।

विविध संस्कारों का वर्णन:- ब्रज की लोक-संस्कृति का सूरदास को गहरा ज्ञान था। ब्रज में प्रचलित लोक-संस्कारों की उन्हें सूक्ष्म समझ थी। इसी कारण उन्होंने पुत्र जन्म के अवसर पर होने वाले तमाम संस्कारों का विस्तृत चित्रण कृष्ण की बाललीला के वर्णन के क्रम में किया है। इस क्रम में उन्होंने क्षेत्रीय स्तर पर प्रचलित संस्कारों के साथ-साथ शास्त्रीय स्तर पर मान्य संस्कारों का भी उपयोग किया है। नारच्छेदन के अवसर पर होने वाला प्रेममय झगड़ा, छठी का उत्सव, ढाढ़ी और ढाढ़िनी के नृत्य, संगीत एवं बधाई गान, गृहकर्म का उत्सव जैसे ब्रज के समाज में प्रचलित तमाम संस्कारों का सूरदास ने विशद चित्रण किया है। इन पदों की रचना उन्होंने लोकगीतों की तर्ज पर किया है जो इन्हें विशिष्ट बनाता है। बच्चों के जन्मोत्सव पर गाये जाने वाले सोहिलौ या सोहर की रचना भी सूरदास ने की है। नामकरण, उपनयन, अन्न-प्राशन, कर्णबेध जैसे शास्त्रीय संस्कारों का भी वर्णन सूर की लेखनी से हुआ है। इन अवसरों पर माता-पिता के हृदय में उमड़ने वाले उत्साह और आनन्द की सूक्ष्म व्यंजना सूर ने की है। कृष्ण के अन्न-प्राशन के अवसर पर नन्द-यशोदा का उत्साह देखिए-

आजु कान्ह करिहैं अन प्रासन।

मनि कंचन के थार भराए भाँति भाँति के बासन।

नन्द घरनि ब्रजबधू बुलाई जे सब अपनी पाँति।

मातृहृदय का प्रकाशन:- सूरदास के वात्सल्य-वर्णन की केंद्रीय विशेषता है माता यशोदा के हृदयगत मनोभावों की अभिव्यंजना। इस अभिव्यंजना के दो पक्ष हैं- माता यशोदा के हावभाव का प्रकाशन और माता यशोदा की नजरों से कृष्ण की बाल-लीला का दर्शन। यशोदा की इच्छाओं, आशाओं, चिंताओं और कोमलतम मनोदशाओं की जैसी मधुर और विश्वसनीय अभिव्यक्ति सूर ने अपने पदों में की है वह अद्वितीय है। कृष्ण की ललित लीलाओं और बालोचित बदमाशियों को देखकर यशोदा असीम आनंद की अनुभूति करती हैं। आपके पाठ्यक्रम में निर्धारित '*यशोदा हरि पालने झुलावै*' पद में पालने में कृष्ण को सुलाते समय यशोदा के मातृहृदय में चल रहे मनोभावों का सहज ही दर्शन हो जाता है।

वियोग-वर्णन:- सूरदास ने वात्सल्य के संयोग पक्ष के साथ-साथ उसके वियोग पक्ष का भी हृदयद्रावक चित्रण किया है। कृष्ण जब कंस के बुलावे पर अक्रूरजी के साथ मथुरा चले जाते हैं तो माता यशोदा के जीवन में पहाड़ टूट पड़ता है। एक माँ के जीवन की सर्वाधिक भयानक घटना होती है पुत्र के साथ उसका वियोग होना। इसी कारण वात्सल्य के संयोग पक्ष में जहाँ कृष्ण के हाव-भाव और चंचलता केन्द्र में थी वहीं उसके वियोग पक्ष में माता यशोदा की पीड़ा प्रधान हो गयी। इस विषय में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि, "संयोग वात्सल्य में बालक कृष्ण का मनोरंजनकारी रमणीय रूप है, उनकी सहज बाललीलाएं, चेष्टाएं एवं विभिन्न स्वाभाविक मुद्राएं हैं, बालक की मनोवृत्ति और मनोदशाओं का वर्णन है तथा आनंदमग्न ममतामयी मां का वात्सल्यपूरित पावनस्वरूप है। लेकिन वियोग वात्सल्य में करुणामयी त्यागमूर्ति माता का वात्सल्य-विह्वल हृदय अभिव्यक्त हुआ है। संयोग वात्सल्य का वर्णन कालिदास आदि में भी उपलब्ध है, लेकिन वियोग वात्सल्य की रसात्मक अभिव्यंजना सूरदास की कवित्व शक्ति की निजी विशेषता है" (भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, १७८)

कृष्ण के मथुरा गमन का चित्रण:- वियोग-वात्सल्य की सर्वाधिक सुन्दर अभिव्यक्ति कृष्ण के मथुरागमन के दौराना माता यशोदा के भावविह्वल मातृहृदय के कारुणिक चित्र में हुई है। इस वर्णन को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सूर स्वयं यशोदा की जगह रो रहे हों। कृष्ण के प्रस्थान के समय यशोदा की विह्वलता असह्य है। वे समस्त व्रजवासियों से निवेदन करती हैं कि कोई तो जाते हुए कृष्ण को रोक लो। कृष्ण यशोदा के जीवन के एकमात्र आधार हैं, तब कृष्ण का मथुरागमन उनके प्राणों का भी गमन है। इस पद में यशोदा कृष्ण को रोकने की वैसी ही मिन्नत करती हैं जैसे कोई व्यक्ति हत्यारे से अपने जान की भीख माँगता है-

जसोदा बार बार यों भाखै।

है कोई ब्रज में हितू हमारौ चलत गोपालहिं राखै।

कहा करै मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायौ।

सुफ़लक सुत मेरे प्रान हनन कौं काल रूप होइ आयौ।

यशोदा के दुख से सारा ब्रज दुखी है लेकिन वह भी वैसा ही असहाय है जैसा यशोदा। यशोदा की चीख और पीड़ा समस्त ब्रज की पीड़ा है। कृष्ण के जाने से केवल यशोदा ही नहीं सम्पूर्ण ब्रज का वैभव चला गया। सूरदास ने यशोदा के दर्द की ऐसी अभिव्यक्ति की है कि उसने दिक और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर लिया है।

मथुरा से नंद के अकेले वापस आने के बाद का चित्रण:- कृष्ण के चले जाने के बाद भी माता यशोदा के मन में यह उम्मीद बची रहती है कि लौटते समय नंद उसे वापस ले आयेंगे। लेकिन जब नंद मथुरा से अकेले ही लौट आते हैं तो माँ के धीरज का बाँध टूट जाता है। पत्नी की समस्त मर्यादा को त्यागकर वह नंद को धिक्कारने लगती हैं और भाँति-भाँति के व्यंग्य करने लगती हैं। नंद-यशोदा के दांपत्य जीवन का एकमात्र सहारा कृष्ण थे। उनका जाना नंद-यशोदा के दांपत्य जीवन पर भी ग्रहण लगा जाता है। वह नन्द को फ़टकारते हुए कहती हैं- '*जसुदा कान्ह-कान्ह कै बुझै। फ़ूटि न गईं तुम्हारी चारों कैसे मारग सूझै।*' भावावेग में आकर वह यहाँ तक कह देती हैं कि तुम अपने ब्रज में सुख के साथ रहो मैं तो अपने कान्हा के पास मथुरा जा रही हूँ-

नंद ब्रज लीजै ठोकि बजाइ।

देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहां गोकुल के राइ।

नैननि पंथ कहौ क्यों सूझ्यौ, उलटि दियो जब पाइं।

कृष्ण के मथुरा प्रवास का चित्रण:- वियोग में यादों की बड़ी भूमिका होती है। यशोदा के बार-बार के बुलावे पर भी जब कृष्ण वृंदावन नहीं लौटते तब यशोदा के जीवन में कृष्ण की स्मृति ही एकमात्र सहारा रह जाती है। वह उनकी उपभोग की हुई वस्तुओं को देख-देखकर व्याकुल हो उठती हैं और उनकी यादों में खोकर बेसुध हो जाती हैं-

यद्यपि मन समुझावत लोग।

सूल होत नवनीत देखि मेरे, मोहन के मुख जोग।

निसि बासर छतियां लै लाऊं, बालक लीला गाऊं।

वैसे भाग बहुरि कब ह्वै है, मोहन मोद ख्वाऊं।

वियोग के समय प्रेमास्पद के गुणों और उसके साथ की गयी अपनी गलतियों की याद आती है। यशोदा को अक्सर लगता है कि कृष्ण की देखभाल में उनसे चूक हुई है और वे उसका परिहार करना चाहती हैं, लेकिन अब उसका अवसर नहीं है। फ़िर भी यशोदा को लगता है कि कृष्ण की उनसे बेहतर देखभाल कोई और कर ही नहीं सकता। वह अत्यंत विनय और दीनता के साथ देवकी के पास संदेश भेजती हैं कि यद्यपि मैं तो उसकी केवल धाइ हूँ और तुम उसकी माता हो तब भी मैं तुम से कहती हूँ कि उसके प्रति अपनी ममता बनाये रखना- *'संदेसौं देवकी सौं कहियौ/ हौं तो धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।'*

वात्सल्य भक्ति:- सूरदास मूलत: एक भक्त हैं और लीलागान उनकी भक्ति का एक साधन, इसलिए कृष्ण का वात्सल्य वर्णन भी एक प्रकार की भक्ति ही है। वल्लभ संप्रदाय में मान्यता है कि जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य से निर्लिप्त सच्चिदानंद कृष्ण की शिशु मूर्ति ही भक्तिभावना का विषय बनती है। इसमें कृष्ण के बालरूप की आराधना का विशेष महत्त्व है। सूरदास के पदों में एक बात अक्सर खटकती है कि उसमें बालक कृष्ण के सौन्दर्य या लीला में डूबे हुए सूर अचानक ही उन्हें हरि कहकर पुकारने लगते हैं। यह उनकी भक्ति और दार्शनिकता का प्रभाव है। जैसे इस पद में-

खीझत जात माखन खात।

अरुन लोचन, भौंह टेढ़ी, बार बार जंभात।

कहुं रुनझुन चलत घुटुरुनि धूरि धूसर गात।

कबहुं झुकि कै अलख खींचत, नैन जल भरि जात।

कबहु तोतर बोल बोलत, कबहुं बोलत तात।

सूर हरि की निरिखि सोभा, निमिष तजत न मात।

4.3 तुलसीदास : सामान्य परिचय

तुलसीदास सगुणभक्ति काव्यधारा की रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। ये हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। गोस्वामी तुलसीदास के जन्म को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। बेनीमाधवदास प्रणीत 'मूल गोसाईं-चरित' और महात्मा रघुबरदास रचित 'तुलसीचरित' में तुलसीदास का संवत 1554 के श्रावण शुक्ला सप्तमी बताया गया है। जबकि 'शिवसिंहसरोज' में संवत 1583 का उल्लेख है और सर जार्ज ग्रियर्सन ने उनका जन्म संवत 1589 बताया है। तमाम विचार-विमर्श के पश्चात तुलसीदास का जन्म संवत 1589 अर्थात सन 1532 को ही अधिक युक्तिसंगत स्वीकार किया है। तुलसीदास का देहावसान संवत 1680 अर्थात सन 1623 ई. में वाराणसी हुआ था। इस विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। तुलसीदास के जन्मस्थान के रूप में उत्तरप्रदेश के तीन स्थानों- राजापुर, सोरों और सूकरखेत- की चर्चा होती है। आचार्य शुक्ल ने सूकरखेत और सोरों को एक ही माना है जो सरयू के किनारे का एक पवित्र तीर्थ-स्थान है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सोरो को तुलसीदास का मूल जन्मस्थान स्वीकारा है। अब लगभग सभी विद्वानों ने राजापुर को ही तुलसीदास का जन्मस्थान स्वीकार कर लिया है।

जनश्रुतियों के अनुसार तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका बाल्यकाल बेहद विषम परिस्थितियों में व्यतीत हुआ। बचपन में ही माता-पिता द्वारा त्याग दिये जाने के बाद बाबा नरहरिदास ने इनका पालन-पोषण किया और ज्ञान-भक्ति की शिक्षा दी। युवावस्था में उनमें यौवनोचित चंचलता का आवेग बहुत अधिक था जिसका जिक्र उनकी रचना 'विनय-पत्रिका' में बार-बार आता है। संभवत: इसी आधार उनके विषय में एक किंवदंती प्रचलित है कि एक बार जब उनकी पत्नी रत्नावली अपने पिता के घर चली गयी तो उसका वियोग बर्दाश्त नहीं कर पाने के कारण बरसात में उफ़नती गंगा नदी को तैर कर उनसे मिलने उनके घर चले गये। इस पर रत्नावली ने उन्हें फ़टकारते हुए कहा कि 'मेरे ऊपर जितना प्रेम है, उतना यदि राम पर होता, तो तुम्हारा कल्याण हो जाता।' इस कथन से उन्हें इतनी

गहरी चोट लगी कि वे विरक्त हो गये और गृह-त्याग कर नाना तीर्थों में भ्रमण करते हुए भगवत भजन में लीन हो गये।

तुलसीदास के नाम पर पचासों ग्रंथों की चर्चा होती है लेकिन उनके कुल बारह ग्रंथों को ही विद्वानों ने प्रमाणिक माना है, जिनमें छ: छोटे और छ: बड़े हैं। इन ग्रंथों का विवरण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ इसप्रकार दिया है- १) *रामचरित-मानस* (रचनाकाल संवत १६३१); २) *रामलला नहछू* (जो संभवत: जनेऊ के अवसर को मन में रखकर लिखा गया था); ३) *वैराग्य संदीपनी* (संत-महिमा, संत-स्वभाव और शांति का वर्णन करनेवाली दोहा-चौपाइयों में लिखी छोटी-सी पुस्तिका); ४) *बरवै रामायण* (इसमें केवल ६९ बरवै छंदों का संग्रह है जिसमें रामकथा का क्रमबद्ध वर्णन है); ५) *पार्वती-मंगल* (१६४ छंदों में शिव-पार्वती विवाह का वर्णन); ६) *जानकी-मंगल* (२१६ छंदों में राम-जानकी विवाह का प्रसंग है); ७) *रामाज्ञा प्रश्न* (सात-सात दोहे के सात सप्तकोंवाले सात सर्ग हैं, सगुन विचारने के उद्देश्य से लिखा गया है); ८) *दोहावली* (भक्ति, नीति और वैराग्य विषयक ५७३ दोहों का संग्रह) ९) *कवितावली* (कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छंदों का संग्रह, जिसमें छंद रामायणी कथा के कांडों के अनुसार संग्रह कर दिए गए हैं, पर कथा क्रम-बद्ध नहीं है); १०) *गीतावली* (लीला विषयक गीतों का संग्रह); ११) *श्रीकृष्ण गीतावली के पद ;* १२) *विनय-पत्रिका* (विनय संबंधी गेय पदों का संग्रह)। इनमें रामचरित-मानस और अंतिम पाँच ग्रंथ बड़े हैं, बाकी छोटे।

4.3.1 पाठ्यांश : तुलसीदास

1. अवधेश के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकिहौं सोच-विमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै न्वनील सरोरुह से बिकसे॥

शब्दार्थ:- सकारे-प्रात: काल; सुत- पुत्र; गोद कै ले- गोद में लेकर; भूपति-राजा; निकसे-निकलना; अवलोकि-देखकर; सोच-विमोचन- शोक से छुड़ाने वाले; ठगि सी रही- चकित हो गई; मनरंजन- मन को आनन्दित करने वाले; खंजन-जातक- खंजन पक्षी का बच्चा; सजनी-सखी; समसील-बराबर, समान; उभै-दोनों; नव-नवीन, नया; सरोरुह-कमल; विकसे-खिलना।

संदर्भ:- यह पद भक्तिकाल के महत्त्वपूर्ण कवि गोस्वामी तुलसीदास की रचना 'कवितावली' के पहले कांड 'बालकांड' का पहला पद है। गोस्वामी जी की यह रचना उनके यथार्थ वर्णन के लिए जानी जाती है। इसमें तुलसी की भक्ति-भावना का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

प्रसंग:- इस सवैया में दो सखियों का वार्तालाप है। एक सखी सुबह-सुबह राजा दशरथ के महल के द्वार पर गई थी, वहाँ उसने दशरथ की गोद में राम को देख लिया। वह राम के बाल-सौंदर्य से मोहित हो गई। इन पंक्तियों में वह बालक राम के रूप-सौंदर्य का वर्णन कर रही है।

व्याख्या:- एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि आज मैं सुबह-सुबह अवध के नरेश के द्वार पर गई थी। उसी समय अवध-नरेश दशरथ अपने पुत्र रामचन्द्र को गोद में लेकर राजभवन के द्वार पर निकले। समस्त दुखों और चिंताओं का नाश करने वाले राम को देखकर मैं चकित-सी रह गई। इस संसार में जो कोई भी उनके रूप-सौंदर्य को देखकर चकित न हो, उस पर धिक्कार है। तुलसीदास कहते हैं कि उस सखी ने कहा कि मन को आनंदित करने वाली, काजल लगी हुई और खंजन पक्षी के बच्चे की तरह चंचल राम की आंखों को देखकर ऐसा ज्ञात हुआ मानो चंद्रमा में दो बिल्कुल बराबर और नवीन नीले कमल खिले हुए हों। तात्पर्य यह कि रामचंद्र की दोनों नीली-नीली आँखें उनके चंद्रमा रूपी मुख पर दो बराबर नील कमल की तरह सुशोभित हो रहे थे।

विशेष:-

1. इस सवैया में नाम, रूप, लीला और धाम चारों के प्रताप का वर्णन है। इसमें रूप-माधुरी गुण है।
2. यह पद सवैया छंद में रचित है।
3. 'गोद कै लै' बुंदेलखंड में प्रचलित एक मुहावरा है।
4. अंतिम दो पंक्तियों में उत्पेक्षा अलंकार है।

2. पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।

नवनील कलेवर पीत झँगा झलकै, पुलकैं नृप गोद लिये॥

अरबिंद सो आनन, रूप-मरंद अनन्दित लोचन-भृङ्ग पिये।

मन मों न बस्यौ अस बालक जौ 'तुलसी' जग में फ़ल कौन जिये॥

शब्दार्थ:- पग-पैर; नूपुर-घुँघरू; कर-हाथ; कंज-कमल; मंजु-सुंदर; कलेवर-शरीर; पीत-पीला; झँगा-झिगुली, पतले कपड़े का कुर्ता; नृप-राजा; अरबिंद-कमल; आनन-मुँख; मरंद-मकरंद, फूलों का पराग ; भृंग-भौरा।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- यह सवैया राम के रूप-सौंदर्य को प्रस्तुत करता है। अन्नप्राश्न के दिन राम को सजा-धजा कर दशरथ अपने महल के द्वार पर लाते हैं, जहाँ एक स्त्री बालक राम के सौंदर्य को देख कर मोहित हो जाती है। वह अपनी सखी से उनके रूप-सौंदर्य का वर्णन इन शब्दों में करती है।

व्याख्या:- बालक राम के पैरों में घुंघरू बँधा हुआ है, और उनके कमल रूपी हाथों में पहुँचियाँ (हाथों में पहना जाने वाल एक आभूषण) हैं। उनके हृदय पर सुंदर मणियों की माला सुशोभित हो रही है। उनका शरीर नवीन नीले कमल के समान साँवला है और पीले रंग की झिगुली (पतले कपड़े का बच्चों का ढीला कुर्ता) में झलक रहा है। ऐसे सुंदर राम जी को गोद में लेकर राजा दशरथ गर्व और आनन्द से पुलकित हो रहे हैं। राजा दशरथ के नेत्र रूपी भौंरे रामचंद्र जी के मुख रूपी कमल से रूपरूपी मकरंद या पराग का पान करते हुए आनन्दित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि राम के सौंदर्य को निहारते हुए दशरथ आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अंतिम पंक्ति में तुलसीदास कहते हैं कि जिसके मन में राम के ऐसे बालरूप का ध्यान नहीं आता है, उसका इस संसार में जीवित रहने का क्या फल या लाभ है? अर्थात ऐसे मनुष्य का जीवन निरर्थक है।

विशेष:-

1. उत्तर भारत में बच्चे के जन्म के लगभग छ: माह बाद अन्न खिलाने का उत्सव मनाया जाता है, जिसे अन्नप्राशन संस्कार कहते हैं। इस दिन बच्चे को अच्छी तरह तैयार कर, सबके सामने लाया जाता है। यह सवैया उसी संस्कार से संबंधित है।
2. पहले और दूसरे चरण में उपमा अलंकार और तीसरे चरण में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है।
3. रूपासक्ति भगवद्भक्ति का महत्वपूर्ण अंग है। राम के सौंदर्य से आकर्षित न होने वाले मनुष्यों को तुलसी ने रामभक्ति के प्रभाव में धिक्कारा है।

3. एहि घाट तें थोरिक दूर अहै, कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
पर से पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिए मोहि बिना पग धोए हौं नाथ न पाव चढ़ाइहौं जू॥

शब्दार्थ:- एहि-इस; थोरिक-थोड़ा ही; अहै-है; कटि-कमर; लौं-तक; परसे-स्पर्श करने से; पग-पैर; धूरि-धूल; तरनी-नाव; घरनी-पत्नी; क्यों-कैसे; अवलंब-सहारा; लरिका-बाल-बच्चे; बरु-भले ही;

संदर्भ:- यह सवैया तुलसीदास की रचना कवितावली के 'अयोध्याकांड' से लिया गया है। इसमें राम के वनगमन प्रसंग का सजीव वर्णन है। तुलसी ने वनगमन के मार्मिक प्रसंगों का सृजन और सुंदर चित्रण किया है।

प्रसंग:- राजा राम पिता की आज्ञा का पालन करते हुए वनगमन के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। रास्ते में गंगा नदी मिलती हैं। नदी पार करने के लिए राम केवट निषादराज से आग्रह करते हैं। निषादराज राम से उनका पैर धुलने का आग्रह करता है। राम विनम्रतापूर्वक मना कर देते हैं। निषादाराज को पता है कि राम ब्रह्म के अवतार हैं, इनका पैर धो देने मात्र से वह भवसागर पार कर जाएगा। वह किसी भी तरह से राम का पैर धोना चाहता है, इसलिए यह भोला तर्क देता है कि आपके पाँवों की धूल के स्पर्श से पत्थर की अहिल्या स्त्री बन गई थी, तो यह तो लकड़ी की नाव

है। यदि यह नाव आपके पैरों की धूल के स्पर्श से औरत बन जाए, तो मैं अपनी घरवाली को क्या जवाब दूँगा? यह सवैया इसी परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है।

व्याख्या:- रामचन्द्र जी जब केवट से पाँव धुलवाने से मना कर देते हैं तब केवट उनसे कहता है कि इस घाट से थोड़ी दूरी पर गंगा जी उथली हैं, वहाँ कमर भर ही पानी है, मैं आपको उसकी गहराई दिखा देता हूँ, आप स्वयं ही गंगा को पार कर सकते हैं। आपको मेरी नाव की जरुरत नहीं पड़ेगी। यदि आप बिना पैर धुलवाए मेरी नाव पर सवार होंगे तो यह भी आपके पैरों की धूलि के स्पर्श से तर जाएगी, अर्थात अहिल्या की तरह स्त्री बन जाएगी। घर पर बैठी हुई घरवाली जब नाव के बारे में पूछेगी तो मैं उसे कैसे समझाउंगा? इस नाव के अलावा मेरे पास जीविका का कोई और सहारा नहीं है। यदि यह नाव औरत बन जाएगी तो मैं अपने बाल-बच्चों को किस प्रकार जिलाउंगा अर्थात किस प्रकार उनका पालन-पोषण करुंगा? आप भले ही मुझे मार दीजिए, परंतु बिना पैर घोए मैं अपनी नाव पर आपको नहीं चढ़ाऊँगा।

विशेष:-

1. निषादराज के माध्यम से तुलसी एक भक्त की मनोदशा का मार्मिक चित्रण करते हैं।
2. यह प्रसंग तुलसीदास की मौलिक उद्भावना का सुंदर नमूना है।
3. अहिल्या:- अहिल्या गौतम ऋषि की पत्नी थी। एक बार इंद्र ने गौतम ऋषि का रूप धारण कर छल से अहिल्या के साथ संभोग किया। जब यह बात गौतम ऋषि को पता चली तो उन्होंने अहिल्या को पत्थर हो जाने का शाप दे दिया। क्रोध शांत होने पर उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ। उन्होंने अहिल्या को यह वरदान दिया कि जब त्रेता में राम अवतार लेंगे तो उनके पैरों की धूल के स्पर्श से तुम्हें मुक्ति मिलेगी।

4. रावरे दोष न पायँन को, पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है॥
पावन पाँय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे, प्रभु जानकी ओर हहा है॥

शब्दार्थ:- रावरे-आपके; पायँन-पाँव; पाहन-पत्थर; बन-बाहन-नाव; पावन-पवित्र; पखारि-धोना; आयसु-आज्ञा; बैन-वचन।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- यह सवैया केवट-राम संवाद से संबंधित है। केवट किसी भी तरह से राम के पावन पैरों को धोकर समस्त पापों से मुक्ति चाहता है। पिछले सवैये में उसने राम के पावों की धूल की वजह से उन्हें अपनी नाव पर चढ़ाने से मना कर दिया था। केवट को चिंता है कि कहीं इस बात से राम के मन को चोट न लगी हो, इसलिए इस सवैये में वह उनकी पग-धूलि की प्रशंसा करता है।

व्याख्या:- केवट कहता है कि हे रामचन्द्र जी, यह आपके पैरों का दोष नहीं है कि उसके स्पर्श से पत्थर भी स्त्री हो जाता है, यह तो आपके पैरों की धूलि का बहुत भारी प्रभाव है कि इसके स्पर्श मात्र से पत्थर भी तर जाता है। पत्थर की तुलना में तो लकड़ी से बनी मेरी नाव ज्यादा कोमल है। निरंतर पानी में रहने के कारण यह और भी ज्यादा कोमल हो गई है। तात्पर्य यह कि पत्थर की तुलना में यह ज्यादा जल्दी स्त्री में बदल जाएगी। इसलिए आपके पवित्र पैरों को धोकर ही आपको नाव पर चढ़ाऊँगा। इसमें आपकी क्या आज्ञा है? तुलसीदास कहते हैं कि चतुराई से भरे हुए केवट के वचनों को सुनकर रामचन्द्र जी सीता जी की ओर देखकर ठठाकर हँसने लगे।

विशेष:-

1. उपर्युक्त पद में केवट के वाकचातुर्य और मनोविज्ञान का सुंदर चित्रण हुआ है।
2. राम के पैरों को धोने के आग्रह को भक्त के निवेदन के रूप में देखा जाना चाहिए।
3. राम का सीता की ओर देखकर हँसने का कारण यह है कि जानकी आह्लादिनी शक्ति हैं। उनकी अनुमति के बिना कोई भी बद्ध जीव भव सागर पार नहीं कर सकता। राम जी उनकी ओर देखकर उनसे अनुमति प्राप्त करना चाहते हैं।
4. राम के हँसने का दूसरा आशय यह है कि जनकपुर में सीता जी भी राम के पैरों के प्रभाव के कारण उसे स्पर्श नहीं कर रही थीं। राम जी ने हँसकर सीता जी को वह बात याद दिलायी है।
5. **साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैन लियो है।**
   बान कमान निषंग कसे, सिर सोहै जटा, मुनिवेष कियो है॥

संग लिये बिधुबैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है।

पाँयन तो पनही न, पयादेहिं क्यों चलिहैं? सकुचात हियो है॥

शब्दार्थ:- सलोने-सुंदर; सुभाय-स्वभाव; मैन-मदन, कामदेव; निषंग-तरकश, जिसमें तीर रखा जाता है; बिधुबैनी-चंद्रमुखी; रति-कामदेव की पत्नी; रंचक-थोड़ा सा; पनही-जूता, पयादेहि-पैदल ही; हियो-हृदय।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- वनगमन के दौरान राम, लक्ष्मण और सीता गाँवों से होकर गुजरते हैं। राज-पुत्र होने के कारण उनमें अलग ही किस्म का आकर्षण है। गाँवों के लोग उन्हें अचंभे से देख रहे हैं। वे अनुमान नहीं कर पा रहे हैं कि इतने सुकुमार स्त्री-पुरुष किस कारण नंगे पाँव भटक रहे हैं। इस सवैये में ग्रामीणों के आपसी संवाद के द्वारा तीनों के रूप-सौंदर्य का वर्णन है।

व्याख्या:- एक ग्रामीण दूसरे से कहता है कि साँवले और गोरे दोनों राजकुमार स्वभाव से सुंदर हैं। उन्होंने मनोहरता अथवा सुंदरता में तो कामदेव को भी जीत लिया है, अर्थात उनका सौंदर्य कामदेव से भी बढ़कर है। उनके हाथों में धनुष-वाण, और कमर में तरकश बँधा हुआ है। उनके सिर पर जटाएँ शोभायमान हैं और वे मुनियों का वेश धारण किए हुए हैं। उनके साथ एक चंद्रमुखी स्त्री है, जिसको देखकर ऐसा लगता है कि उसने अपने रूप में से थोड़ा सा रूप रति अर्थात कामदेव की स्त्री को दे दिया है। मतलब यह कि सीता के सौदर्य के सामने रति का सौंदर्य भी फीका है। मेरा हृदय यह सोच-सोचकर सकुचा रहा है अर्थात चिंतित हो रहा है कि ये पैदल किस प्रकार चलेंगे, जबकि इनके पैरों में जूते भी नहीं हैं।

विशेष:-

1. तीसरे चरण में प्रतीप अलंकार है।
2. यह मतगयंद सवैये में रचा गया है। मतगयंद सवैया के प्रत्येक चरण में 23 वर्ण होते हैं, जिसमें सात यगण और दो गुरु का मेल होता है। इसे मालती और इन्दव भी कहते हैं।
3. कामदेव और रति को भारतीय परंपरा में सौंदर्य का प्रतिमान माना जाता है। कामदेव और रति पति-पत्नी हैं।

6. रानी मैं जानी अजानी महा, पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।

राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है॥

ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।

आँखिन में, सखि! राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनबास दियो है॥

शब्दार्थ:- अजानी-अज्ञानी; पवि-ब्रज; पाहन-पत्थर; हिय-हृदय; तिय-स्त्री; जोग-योग्य; किमि कै-कैसे, किस कारण।

संदर्भ:- उपरोक्त

प्रसंग:- राम-लक्ष्मण और सीता को वन में जाते हुए देखकर दो स्त्रियाँ आपस में बातें कर रही हैं। उन्हें इनका वन में जाना खल रहा है। वे राजा दशरथ और माता कैकेयी के हृदयहीनता की आलोचना कर रही हैं।

व्याख्या:- एक सखि दूसरी से कहती है कि मुझे लगता है कि रानी महामूर्ख हैं। उसका हृदय वज्र और पत्थर से भी ज्यादा कठोर है, जो ऐसे सुकुमारों को वन में भेजने में भी द्रवित नहीं हुआ। राजा ने भी भले-बुरे का विचार नहीं किया और पत्नी के वचनों पर कान दे दिया, मतलब बिना सोचे-विचारे पत्नी की बात मान ली। मन को हर लेने वाली ऐसी मूर्तियों अथवा मुखड़ों से बिछुड़ने पर इनके आत्मीय लोग कैसे जीते रहे? इनके वियोग में उनके प्राण नहीं निकल गये? हे सखि, ये तो सदा आँखों में बसा कर रखने योग्य हैं, इन्हें कैसे बनवास दिया गया है? अर्थात, इनको वन में भेजने वाले लोग कितने कठोर होंगे।

विशेष:-

1. दो ग्रामीण स्त्रियों के बीच का संवाद होने के कारण इसमें मुहावरों का प्रयोग ज्यादा हुआ है।
2. 'काज अकाज न जान्यो' और 'कह्यो कान कियो है' मुहावरे का प्रयोग हुआ है।
3. मतगयंद सवैये में इसकी रचना हुई है।

7. हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।

जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥

अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहि जाइ गुसाईं।

बिन बाँधे निज हठ सठ परबस परयो कीर की नाई॥

सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।

बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई॥

स्रुति-गुरु-साधु- स्मृति-सम्मत यह दृश्य सदा दुखकारी।

तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी॥

बहु उपाय संसार तरन-कहँ बिमल गिरा स्रुति गावै।

तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु, जिउ सुख कबहुँ न पावै॥

शब्दार्थ:- कस-क्यों; मृषा-असत्य; भासै-अभास, प्रतीत होना; अविद्यमान-नाशवान, क्षणिक; संसृति-संसार; सठ-मूर्ख; कीर-तोता; व्याधि-बीमारी; बैद-वैद्य; पीर-पीड़ा; स्रुति-वेद; संगत-साथ; दृश्य-संसार; तजे-त्याग; टारी-दूर हटाना, समाप्त करना; बिमल-पवित्र; गिरा-वाणी; जिउ-जीव।

संदर्भ:- प्रस्तुत पंक्तियाँ तुलसीदास की प्रसिद्ध रचना 'विनयपत्रिका' से ली गई हैं। तुलसी ने इसकी रचना राम के प्रति अपनी विनय-भावना को प्रकट करने के लिए की थी। इसमें संसार की अनित्यता और मिथ्यापन को उजागर कर राम के प्रति भक्ति और आसक्ति की भावना को प्रस्तुत किया गया है। इसमें संसारिक अहंकार की जगह भगवत-प्रेम से उत्पन्न विनय की प्रतिष्ठा की गई है।

प्रसंग:- इस पद में तुलसीदास ने भगवत-भक्ति की महत्ता को स्थापित किया है। उनका मानना है कि भगवान की कृपा के बिना संसार के मिथ्यापन को जाना नहीं जा सकता। भगवत-कृपा से ही जीव के भीतर के अहं-भाव का नाश होता है, उसके भीतर विवेक पैदा होता है, और वह जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होता है।

व्याख्या:- तुलसीदास परमात्मा से निवेदन करते हुए कहते हैं कि हे हरि! मेरे भीतर संसार को सच मानने के भारी भ्रम को दूर क्यों नहीं करते हो! यह संसार यद्यपि असत्य है, लेकिन आपकी कृपा के बिना यह सभी जीवों को सत्य की भाँति ही प्रतीत होता है। हे स्वामी! यह संसार भ्रम और असत्य है, लेकिन आपकी कृपा के बगैर इसके असत और भ्रमात्मक रूप को जाना नहीं जा सकता। मैं ऐसा मूर्ख हूँ कि बिना किसी के बाँधे ही अपने हठ या जिद के कारण अज्ञानतावश तोते की तरह दूसरे के

नियंत्रण में बँधा हुआ हूँ। जिस प्रकार स्वप्न में अनेकानेक प्रकार की बीमारियों की पीड़ा से मृत्यु को करीब महसूस कर चिकित्सक द्वारा अनेक उपाय करने के बाद भी जगे बिना उस पीड़ा से मुक्ति नहीं मिल सकती, उसी प्रकार माया से ग्रस्त होने के बाद अवास्तविक को वास्तविक समझकर मुक्ति के अनेक उपाय किए जाते हैं, लेकिन आत्मज्ञान के बिना सबकुछ निरर्थक हैं। वेद, गुरु, संत और स्मृतियाँ, सभी एक स्वर में कहती हैं कि दिखाई देने वाला यह संसार सदा दुख का रूप है। इसको छोड़े बिना, और रघुपति राम का भजन किए बिना, इस विपत्ति को टाला नहीं जा सकता अर्थात इसका नाश नहीं किया जा सकता। भाव यह है कि जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होने के लिए भगवान का भजन और संसार से निर्लिप्त रहना ही उपाय है। अंत में तुलसीदास कहते हैं कि वेद निर्मल वाणी से कह रहे हैं कि संसार-सागर से पार करने के अनेक उपाय हैं, किंतु 'मैं और मेरा' अर्थात अहंभाव और ममता को दूर किए बिना जीव कभी सुख नहीं पा सकता।

विशेष:-

1. 'परबस परयो कीर की नाई'- फसलों के बचाव के लिए किसान खेतों में आदमी का एक पुतला गाड देते हैं। उसकी दोनों बाहें फ़ैली होती हैं। तोता जैसे ही उस पुतले पर बैठता है, वह घूम जाती है और बेचारा तोता उलटकर टंग जाता है। तोते को कोई बाँधता नहीं है, पर वह पुतले की दोनों बाहों के बीच उलटा लटका रहता है। उसी प्रकार मनुष्य अपने कारण शुभ-अशुभ कर्मों में बँधा रहता है।
2. इस पद की भाषा ब्रजभाषा है।
3. 'बहुउपाय' से तुलसी जी का तात्पर्य स्नान, पूजा, ध्यान, हवन जैसे कर्मकांडों से है।
4. 'मैं मोर' का तात्पर्य मनुष्य के अहंकार से है। यह माया का एक रूप है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में लिखा है- 'मैं अरु मोर, तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।'
5. अद्वैत वेदांत में ज्ञान को मुक्ति का मार्ग बताया गया है, लेकिन भक्ति के आचार्य भगवत-कृपा को मुक्ति का कारण मानते हैं। तुलसी ने ज्ञान की जगह भक्ति की महत्ता स्थापित की है।

8. ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर रामसरिस कोउ नाहीं॥

जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।

सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥

जो सम्पति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीनहीं।

सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चहसि मन मेरो।

तौ भजु राम, काम सब पूरन करै कृपानिधि तेरो॥

शब्दार्थ:- को-कौन; द्रवै-द्रवित होना, कृपा करना; सरिस-समान; जोग-योग; बिराग-वैराग्य; जतन-यत्न, प्रयास; अरपि-अर्पित करना; पहँ-से; संपदा-संपत्ति; पूरन-पूर्ण।

संदर्भ:- प्रस्तुत पद हमारी पाठ्य-पुस्तक 'काव्य-वैभव' के तुलसीदास शीर्षक से लिया गया है। यह पद तुलसी की प्रसिद्ध रचना 'विनय पत्रिका' में संकलित है। 'विनय पत्रिका' तुलसीदास की प्रौढ़ रचना है, जिसमें उन्होंने भगवान राम के समक्ष अपनी दीनता का प्रदर्शन कर अपनी शरण में लेने का निवेदन किया है। इसमें तुलसी की दास्य भक्ति का मनोहर रूप देखने को मिलता है, इसके साथ ही उनके विशिष्टाद्वैत सिद्धांत की स्थापना का प्रयास भी दिखता है। राम के प्रति अनन्य भक्ति का चित्रण 'विनय पत्रिका' का केंद्रीय भाव है।

प्रसंग:- उपर्युक्त पद में तुलसीदास ने राम की भक्ति की महत्ता बतलायी है। संसार के समस्त सुखों की प्राप्ति और संसार-सागर से मुक्ति का सबसे सरल मार्ग भगवान राम की अनन्य भक्ति है। तुलसीदास ने इस पद में उस राम-भक्ति की प्रतिष्ठा की है।

व्याख्या:- तुलसीदास कहते हैं कि इस संसार में ऐसा कौन उदार है, जो बिना सेवा के ही दीनों अथवा गरीबों पर द्रवित हो जाता हो, ऐसे सिर्फ श्रीराम हैं, उनके समान बिना सेवा के दीन-दुखियों के दुख को हरने वाला और कोई नहीं है। योग और वैराग्य की कठिन साधना के बाद भी जिस पद को मुनि और ज्ञानी लोग प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उस पद को राम ने गीध और शबरी को सहजता से दे दिया, और अपने हृदय में इसे कोई बहुत बड़ी बात नहीं मानी। मतलब यह है कि गीध और शबरी का उद्धार राम के लिए बहुत छोटी बात थी। जिस संपत्ति को अपने दसों सिरों को

अर्पित करने के बाद रावण ने शिव से प्राप्त किया था, उस संपदा को राम ने विभीषण को अत्यंत संकोच के साथ प्रदान किया। तुलसीदास अपने चंचल मन को समझाते हुए कहते हैं कि ऐ मेरे मन! यदि तुम सभी प्रकार के सुखों को प्राप्त करना चाहते हो तो तुम श्रीराम का भजन करो। कृपानिधि राम तुम्हारी समस्त कामनाओं को पूर्ण करेंगे।

विशेष:-

1. राम की उदारता के वर्णन के क्रम में दूसरे और तीसरे चरण में निदर्शन और दृष्टांत अलंकारों का प्रयोग हुआ है।
2. 'सबरी'- 'रामचरितमानस' में वनगमन के समय राम शबरी नामक भीलनी के यहाँ रुकते हैं। उस गरीब स्त्री के पास अन्न नहीं है, तो वह राम को बेर खिलाती है। बेर के मीठेपन को जानने के लिए पहले वह बेर खुद खाती है, फ़िर राम को खिलाती है। सबरी के जूठे बेर खाकर भी राम उससे इतना प्रसन्न होते हैं कि उसे जीवन-मरण के बंधन से मुक्त कर देते हैं।
3. 'गीध'- जब रावण सीता का हरण कर रहा था, तब जटायु नामक गीध ने उनकी रक्षा करने का प्रयास किया था। रावण की तलवार से घायल होकर जटायु जंगल में गिरे हुए थे। सीता को खोजते हुए राम उनके पास पहुंचे और उन्हें मुक्ति दी। तुलसीदास लिखते हैं- 'अबिरल भक्ति माँगि बर, गृद्ध गयो हरि-धाम/ तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्हीं राम।'
4. 'विभीषण'- यह रावण का छोटा भाई था। रावण के विचारों से असहमत रहता था। राम-रावण युद्ध में इसने राम का साथ दिया। लंका की विजय के पश्चात राम ने विभीषण को लंका का राजा बना दिया। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में भी लिखा है-'जो संपदा सिव रावनहिं, दीन्ह दिये दस माथ/ सो संपदा विभीषनहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ।'

4.3.2 तुलसीदास की काव्यगत-विशेषताएँ:-

महाकवि तुलसीदास जैसी काव्यकला की सिद्धि प्रत्येक साहित्यकार का लक्ष्य होती है। उनकी कविताई में जो चारुता है, उसका कारण जहाँ भावों की गहराई है तो वहीं भाषाई बुनावट का आकर्षण भी है। यद्यपि तुलसीदास 'कबित विवेक एक नहिं मोरें' और 'जदपि कबित रस एकौ नाहीं' की भावना से खुद को कविताई के लिए सर्वथा अक्षम बताते हैं, तथापि उनके काव्य की

कलात्मकता से कोई पाठक या आलोचक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। कवि-कर्म की अक्षमता की बार-बार उद्घोषणा तुलसी की भक्ति का एक अन्य तरीका है। उनकी भक्ति का सेवक-भाव स्वामी राम के रूप-सौन्दर्य और महिमा-वर्णन में भाषाई माध्यम को असमर्थ पाता है। 'स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' अर्थात अनुभव किये हुए विराट चरित को व्यक्त करने में भाषा के माध्यम की सीमा है। यह सीमा ही तुलसीदास के असमर्थता बोध का आधार है। किन्तु, तुलसी इस चरित के उद्घाटन में अपनी काव्य कला में जितने सफल हुए हैं, उतना आजतक कोई नहीं हुआ। भाषा, वर्ण्य, शब्द और अर्थ का तालमेल तुलसी काव्य की सार्थकता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है। भगवान राम के चरित के इर्द-गिर्द ही उनका कथ्य और वर्ण्य विस्तार पाता है। कोई भी रचना अनुभति और अभिव्यक्ति, शिल्प और कथ्य के सुंदर समन्वय से ही श्रेष्ठ बन पाती है। तुलसी की काव्यगत विशेषताओं को इन दोनों के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए।

अनुभूति-पक्ष :- तुलसी ने अपनी रचनाओं के कथ्य द्वारा भारतीय समाज के सामने एक ऐसा आदर्श रखा, जो समस्त उत्तर भारतीय समाज का काम्य आचरण हो गया। तुलसी के अनुभूति पक्ष के अंतर्गत उनकी भक्ति-भावना, दार्शनिक चेतना और समाज-चेतना पर विचार किया जाएगा।

भक्ति-भावना :- भगवान के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। इस आधार पर तुलसीदास हिन्दी के सबसे बड़े भक्त कवि हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि, "भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जैसा तुलसीदासजी में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवाश्यक अंग है। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभावों के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकले हैं, जिनमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यंत पवित्र प्रफुल्लता आती है।"

'एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास' कहने वाले तुलसीदास का अपने राम के प्रति अनन्य प्रेम, उत्कट लगाव, असीम श्रद्धा, परम विश्वास और गहन समर्पण है जो उनकी भक्ति को प्रमाणिकता और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। तुलसी की भक्ति का मूलाधार दैन्य है। तुलसी के इष्टदेव राम हैं जो विष्णु के अवतार हैं। वे ब्रह्म होने के साथ-साथ दीनों पर दया करने वाले करुणानिधान भी हैं। इनके राम सगुण एवं शक्ति, शील और सौन्दर्य के समुच्चय हैं। तुलसी ने *'विष्णु कोटि सम*

पालनकर्त्ता। रुद्र कोटि सत सम संहरता' कहकर उनकी शक्ति का, *'जेहि समान अतिशय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई'* कहकर उनके शील का और 'कोटि मनोज लजावन हारे' कहकर उनके सौन्दर्य का वर्णन किया है। भक्तों के दुखों के हरण और संसार को पापियों से मुक्त करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया है। राम के अनुग्रह की आकांक्षा केवल मनुष्यों को ही नहीं बल्कि देवताओं को भी है। राम भक्त-वत्सल हैं और अपने भक्तों पर नि:स्वार्थ भाव से कृपा करते हैं। अत्यंत दीन और दुखी इन्हें बहुत प्यारे हैं और बड़े-से-बड़े पापी की पुकार पर भी एक क्षण में उसके कष्टों का निवारण करते हैं। वे समदर्शी और मंगलकर्त्ता हैं। तुलसी ने राम का मूल निवास 'परमधाम' और क्षीरसागर तथा बैकुण्ठ का निवासी बताया है।

कबीर ने अपने राम के सामर्थ्य, और सूरदास ने अपने कृष्ण के सौन्दर्य को महत्त्व दिया, लेकिन तुलसीदास ने अपनी भक्ति में राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा की, जिससे भक्तों की समस्त भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार का भरपूर मौका मिला। तुलसीदास को पूरा भरोसा है कि राम के शक्ति-सौंदर्य-समन्वित अनन्त शील का आभास पाकर पूरी मनुष्यता का हृदय अवश्य द्रवीभूत होगा-*'सुनि सीतापति शील सुभाउ। मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥'*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने एक निबंध में तुलसीदास की भक्ति की एक प्रमुख विशेषता के रूप में दैन्य या लघुत्व की भावना को रेखांकित किया है। तुलसी ने लिखा है-

"राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो?

राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो?"

राम की अनन्त शक्ति, शील और सौन्दर्य के समक्ष तुलसी को अपनी हीनता और पापों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। तुलसी के पदों में उपलब्ध दीनता का यह भाव उनकी आत्मगत कमजोरी और दोषों का वास्तविक आख्यान न होकर उस आन्तरिक शक्ति का एकत्रीकरण है जिसके सहारे वे भक्ति की राह में आने वाली अनेकानेक मुश्किलों का सामना करते हैं। तुलसी की अदम्य आकांक्षा राम की शरणागति है। *'अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहहूँ निर्वाण/ जनम जनम प्रभु राम पद*

यहु वरदान है आन।' कहने वाले तुलसी के लिए राम की सेवा का मौका निर्वाण से भी ज्यादा आनंददायक है। उनकी भक्ति के आदर्श हनुमानजी हैं जो राम के सबसे बड़े सेवक हैं। शरणागति की चाह तुलसीदास को दास्य भक्ति और सेवक-सेव्य भाव की ओर ले जाता है। तुलसी ने इस भाव को चरम तक पहुँचाया और 'राम ते अधिक राम कर दासा' कहकर राम के दास को राम से भी ज्यादा महत्त्व प्रदान कर दिया। *"सेव्य सेवक भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।/भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धांत विचारि॥"* तुलसी ने अपने इष्टदेव के स्वरूप-चित्रण में उनकी शरणागत-वत्सलता का जितना मार्मिक और सूक्ष्म निर्देश किया है उतना किसी अन्य विशेषता का नहीं। उनके राम स्वयं कहते हैं कि पापी-से-पापी व्यक्ति भी यदि उनकी शरण में आ जाता है तो उसका मैं त्याग नहीं करता-'*कोटि बिप्र अघ लागइ जाही। आये सरन तजउँ नहिं ताहीं।'*

'नवधा भगति कहौं मोही पाहीं' कहकर तुलसीदास ने अपने भक्ति-मार्ग में नवधा भक्ति को स्थान दिया। नवधा भक्ति के नौ प्रकार ये हैं- भगवान के नाम, रूप, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा उनका चरण-सेवन, पूजन, वन्दन करना, उनके प्रति दास्य भाव रखना, सख्य भाव की निष्ठा रखना और अपने आपको उनके समक्ष समर्पित कर देना। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में ही शिव-पार्वती, गरुड़-भुशुण्डि, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य की रामकथा के प्रति जिज्ञासा और लगाव दिखाकर श्रवण, कीर्तन और स्मरण की महिमा की स्थापना कर दी है। शबरी और काकभुशुण्डी के द्वारा उन्होंने पूजन, वन्दन और अर्चन के बड़े ही मनोरम दृश्य निर्मित किये हैं। परंतु प्रार्थना के क्रम में वे किसी भौतिक वस्तु के चढ़ावे की जगह राम के प्रति अनन्य लगाव को ही पर्याप्त मानते हैं- *'सबु करि माँगहिं एक फ़ल राम चरन रति होउ।'* तुलसी ने राम के नाम को राम से बड़ा कहकर उनके नाम को पर्याप्त गौरव दिया है और उनके रूप के वर्णन में तो जगह मिलते ही लीन हो जाते हैं। तुलसी की भक्ति का मूलाधार नामोपासना है जो भगवद-भक्ति का सरलतम और सर्वाधिक प्रभावी रूप है। तुलसी का मानना था कि जो फ़ल अन्य युगों में यज्ञादि कर्मों के कठिन विधि-विधानों से प्राप्त होता था उसे कलियुग में मात्र राम-नाम के जाप से पाया जा सकता है। इस नाम-जप के लिए निष्काम प्रेम के अलावा किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। तुलसी के लिए राम का नाम कलियुग के तमाम दोषों और बाधाओं का हरण करने वाला है। यह

भव के बन्धनों को काटकर संसार सागर को पार कराने वाला सेतु है। गोस्वामीजी की व्यक्तिगत अनुभूति है-

"नाम रामको कल्पतरु कलिकल्यान निवास।

जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास॥"

दार्शनिक चेतना :- तुलसीदास की आध्यात्मिक मान्यताओं अर्थात उनके दर्शन को समझने के लिए उनके द्वारा रचित ग्रंथ ही आधार हैं। तुलसीदास के संबंध में डॉ. माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं कि "तुलसीदास न निरे अद्वैतवादी थे और न निरे विशिष्टाद्वैतवादी और न उन्होंने उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग का कोई असामान्य प्रयास ही अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं के विषय में किया है।" तुलसी के आध्यात्मिक विचार 'अध्यात्म रामायण' के विचारों का ही विस्तार मालूम होते हैं।

तुलसी के राम परब्रह्म हैं, अनंत हैं, अखंड हैं। प्रत्येक जीव में वे ब्रह्म रूप में विद्यमान हैं। संसार के प्रत्येक जड़-चेतन में राम का स्वरूप है- "जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि ।" राम निर्गुण ब्रह्म भी हैं। राम ही हैं, जिनकी साधना सिद्ध और योगी किया करते हैं। वेद, उपनिषदों में अभिव्यक्त ब्रह्म राम ही हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। निर्गुण राम भक्ति के लिए कठिन हैं अतः राम ने माया के द्वारा सगुण रूप धारण किया है– "निर्गुण सगुण विषम सम रूपं ।" मनु-सतरूपा के पुत्र भी यही राम थे और राजा दशरथ के पुत्र रूप में लीला करने वाले भी राम ही हैं- "राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ।/ सकल बिकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ।"

राम भले ही मानव-अवतार में लीला कर रहे हैं, परंतु तुलसीदास यह नहीं भूलते कि राम परब्रह्म हैं। वे बार-बार राम के परमेश्वर रूप की आराधना विभिन्न पात्रों से कराते हैं। जनक, निषाद, जामवंत, जटायु, कागभुशुंडि आदि राम के परब्रह्म रूप के समक्ष नतमस्तक होते रहते हैं। राम माया रूप धरण कर लीला अवश्य कर रहे हैं, परंतु वे माया के वश में नहीं हैं । अगर उन्हें देखकर किसी को राम के मोहपाश में बंधे होने का भ्रम होता है, तो यह उसकी ही बुद्धिहीनता है। राम,

विष्णु के अवतार भी हैं। अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना के लिए राम ने अवतार लिया है। भक्तों को संसारसागर से मुक्ति दिलाने हेतु भी राम ने अवतार लिया है। रावण को शापमुक्त करने के लिए उनका रामावतार हुआ है। राम की शोभा अलौकिक है क्योंकि वे विष्णु के अवतार हैं-"राम बाम दिसि सोभित रमा रूप गुन खानि । देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि ।"

विष्णु का अवतार घोषित करने के बावजूद तुलसी ने राम को ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों से श्रेष्ठ घोषित किया है। उन्होंने इन तीनों ही देवताओं से राम की स्तुति कराई है। राम की लीला पर तीनों मुग्ध हैं- "जगु पेखन तुम्ह देख निहारे । बिधि हरि संभु नचावनि हारे ।" राम की शक्ति और सामर्थ्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश से ज्यादा है। तुलसी जगह-जगह राम की सर्वोच्चता विभिन्न चरित्रों के माध्यम से स्थापित करते चलते हैं। राम अजेय हैं, सर्वशक्तिमान हैं और राम के शत्रु की रक्षा हजारों विष्णु, ब्रह्मा और शिव भी नहीं कर सकते-

"सुनु दसकण्ठ कहउँ पान रोपी । राम बिमुख त्राता नहिं कोपी ।

संकर सहस बिष्नु आज तोही । राखि न सकहिं राम कर द्रोही ।"

लक्ष्मण, शेष अवतार हैं। वे राम के ही एक रूप हैं। वे अनंत है और पृथ्वी को धारण करने वाले हैं। भरत विश्व का पोषण करने वाले हैं, तो शत्रुघ्न, शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। देवता, वानर रूप में राम के साथ हैं। सीता आदिशक्ति हैं। इनसे ही जगत की उत्पत्ति और संहार होता है। वे ब्रह्म की माया हैं। राम, विष्णु के अवतार हैं, तो सीता, लक्ष्मी की अवतार हैं। संसार सियाराममय है। राम और सीता अभिन्न हैं-

"गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।

बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।"

ब्रह्म की माया के द्वारा ही जगत का निर्माण और विनाश होता है। माया अर्थात मूल प्रकृति, आदिशक्ति अर्थात सीता हैं। राम माया के वशीभूत नहीं, बल्कि माया राम के अधीन है। वह राम से भयभीत है। माया राम के आदेश का अनुकरण करती है।

जीव अपने यथार्थ स्वरूप और ब्रह्म से अनभिज्ञ है । जीव जन्म-मरण के चक्र से मुक्त है। जीव और ब्रह्म मूलतः अभिन्न हैं। जगत में जो भेद जीव और ब्रह्म में दिखाई देता है वह इसलिए है कि जीव माया के वशीभूत है। इसी कारण जीव भवसागर में उलझा पड़ा है। माया से विरक्ति ही उसे मुक्ति दिला सकती है। राम की भक्ति ही मोक्ष का द्वार है। भक्ति ही जीव को भवसागर से मुक्त कर सकती है-

"देखो माया सब बिधि गाढ़ी । अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ।

देखा जीव नचावई जाही । देखी भगति मोरि पुरान स्तुति गाई ।"

तुलसी के अनुसार ज्ञान-विज्ञान सभी भक्ति के अधीन है। योग साधना से भी श्रेयस्कर भक्ति है। राम की निष्काम भक्ति ही मुक्ति का सुगम मार्ग है।

सामाजिक चेतना :- तुलसीदास अपने समय और समाज से पूरी तरह परिचित थे । उन्होंने लोकमन को आत्मसात कर मनुष्य के सामान्य मनोभावों, रुचियों, रीतिरिवाजों, संबंधों, मान्यताओं की अभिव्यक्ति अपने समय की जनभाषा में की। अवधी की मिठास और राम के स्वभाव के औदात्य को मनुष्य की सामान्य प्रवित्तियों के अनुकूल रचा। बाहरी तौर पर भक्ति का आवरण समाज निरपेक्ष लगता है, परंतु गहराई से देखने पर तुलसी साहित्य में समय, समाज और सत्ता का स्पष्ट प्रतिबिंब दिखाई देता है। तत्कालीन समाज विशेषकर वर्तमान का उत्तर-भारत तुलसीदास की समाज चेतना के केंद्र में है। तत्कालीन समाज में मुगलकालीन शासन अकबर के संरक्षण में प्रसिद्धि पा रहा था। अकबर की सहिष्णु नीतियों ने हिंदुओं के साथ कट्टरता तो नहीं बरती, परंतु सामान्य जनता की समस्याओं पर अकबर की कीर्ति का कोई खास असर नहीं हुआ। सामान्य जनता विपन्नता, बेरोजगारी और दुर्भिक्ष से पीड़ित थी। समाज में अन्याय, अत्याचार और अमर्यादित आचरण बढ़ रहा था, जिससे तुलसी का संवेदनशील ह्रदय द्रवित था। दरिद्रता, भुखमरी, अकाल और कष्टों के निवारणकर्ता के रूप में उन्होंने गरीबनिवाज़ राम का स्मरण किया। तुलसी के राम भगवान हैं, क्योंकि वे जनता को उनके कष्टों से मुक्त करने की क्षमता रखते हैं। कलियुग के तापों से राहत भगवान राम ही दिला सकते हैं। राम का चरित्र सामान्य लोकानुभाव के अनुकूल है। तुलसी के राम, भगवान राम हैं ही, परंतु व्यवहार में वे सामान्य ग्रामीणों के साथ ही वानरों, पशु-पक्षियों

के भी प्रिय और बंधु हैं, सामान्य भारतीय जनजीवन के बीच के पात्र हैं। राम सामान्य संघर्षशील पुरुष का आभास देते हैं, तो वहीं उनके विरोधी रावण आदि साधन सम्पन्न हैं। "रावण रथी बिरथ रघुबीरा"

तुलसी की सामाजिक चेतना में मुख्यतः दो बिन्दु परिलक्षित होते हैं। समाज में व्यक्तियों का अमर्यादित आचरण और जनता के कष्ट। इन दोनों समस्याओं के कारण और उपाय के छोर पकड़कर ही तुलसी की सामाजिक चेतना समझी जा सकती है। अमर्यादित आचरण और धर्मच्युत व्यवहार का एक बड़ा कारण वे वर्णाश्रम व्यवस्था की उपेक्षा को मानते हैं है। वर्णाश्रम व्यवस्था में तुलसी की अटूट आस्था है। कलियुग आने का एक बड़ा संकेत है कि लोग वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप आचरण नहीं कर रहे हैं।

"वरन धरम नहिं आश्रम चारी । श्रुति विरोध रत सब नर-नारी।।

द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान निगम अनुशासन ।।"

इस आस्था के चलते ही तुलसी अज्ञानी ब्राह्मण को भी पूजनीय ठहराते है। तुलसी साहित्य की यह सीमा है। परंतु सामाजिकता के दवाब में ही तुलसी वर्णाश्रम का समर्थन करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति के निर्वहन में तुलसी वर्णाश्रम की संकीर्णताओं को नहीं अपनाते। उनकी नज़र में भक्ति के मार्ग में सब बराबर हैं।

"नव महुँ एकौ जिन्ह कें होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ।

सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ।।"

वे राम की भक्ति के लिए जाति-पाँति, धन, धर्म, परिवार, समाज सब कुछ बिसराकर निर्मल मन से भक्ति के आग्रही हैं, क्योंकि इन सभी धर्मों से युक्त भक्तिहीन मनुष्य अनुपयोगी है-

"जाति-पाँति धनु धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुण चतुराई ।।

भगति हीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ।।"

उपेक्षित शबरी, पतित्यक्ता अहिल्या, गरीब केवट, पक्षियों में नीच काकभुशुंडि और बनवासी हनुमान राम के स्नेह के भागी हैं। ये सभी हाशिये के समाज से संबंधित हैं। उनका पक्ष ही तुलसी का पक्ष है। इसीलिए थोड़ी बहुत सीमाओं के बावजूद तुलसी को समस्त समाज का स्नेह प्राप्त हुआ।

शासक का धर्मच्युत आचरण और जनता की अनुशासनहीनता कलियुग की पहचान है। तुलसी साहित्य में कलियुग 'रामचरित मानस' और 'कवितावली' में विशेष रूप से चित्रित हुआ है। समाज में कुचाल, अभिमान, चालाकी, कुपंथ, कुतर्क, भ्रष्टाचार, मिथ्या, अन्याय जैसे पापाचरण का ही साम्राज्य है। कलियुग में जनता गरीबी, भुखमरी, अकाल और अन्यान्य कष्टों से बेहाल है-

"कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ।।

नर पीड़ित रोग न भोग कहीं । अभिमान विरोध अकारन ही ।।"

कलियुग के कष्टों के उद्धारक राम हैं। राम की कथा इस क्षुद्रता से मुक्त कराने वाली है- "मुदित छुदित जनु पाइ सुनाजू ।" राम की भक्ति और रामराज्य की स्थापना ही कलियुग से मुक्ति दिला सकती है। राम का मर्यादित चरित्र और पारिवारिक आचरण, तत्कालीन समाज की अराजक व्यवस्था और अनुशासनहीनता के समक्ष आदर्श है। कलियुग, पापयुग का प्रतिनिधि है। रावण इस युग की विषमताओं का प्रतिनिधित्व कर रहा है। राम और रावण का संघर्ष मनुष्य का कलियुगी विषमताओं से संघर्ष है। इसी आदर्श का महाआख्यान 'रामचरितमानस' में रचा गया है। राम का चरित्र लोकमानस के निकट, उनके ही समान संघर्षों से जूझता, सामान्य मनुष्य के कार्यक्षेत्र में रहकर भी, दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से जनता की रक्षा करने वाला है। राम की कथा इन कलियुगी कष्टों से आराम दिलाने वाली है। वह कलियुग के तापों को नष्ट कर देती जिस तरह मोर, सांप को नष्ट कर देता है-

"बुधविश्राम सकलजनरंजनि । रामकथा कलिकलुष बिभंजनि ।।

रामकथा कलिपन्नगभरनी । पुनि बिबेकपावक कहुँ अरनी ।"

रामराज्य में कलियुग से उत्पन्न अव्यवस्था और पापाचार का साम्राज्य नहीं है। वह सुराज के रूप में तुलसी साहित्य में विद्यमान है। यह रामराज्य अयोध्या में है, चित्रकूट में है। रामराज्य में जनता

सुखी और सदाचरण वाली, शासक विवेकवान और संपन्नता चहुँओर है- 'अलिगन गावत नाचत मोरा । जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ।।' तत्कालीन समाज में नारी केवल भोग की वस्तु समझे जाने लगी थी। वेश्यागमन और बहुविवाह आम बात थी। राम का चरित्र इन सीमाओं अतिक्रमण करता है। राम पत्नी के प्रति निष्ठावान हैं, स्त्री की मर्यादा रक्षा के लिए ही राम का सारा पौरुष और तेज़ है। सीता के चरित्र पर लांछन का प्रसंग तुलसी के लिए प्रासंगिक नहीं। उनके द्वारा 'रामचरितमानस' में सीता-परित्याग के प्रसंग को अनायास ही नहीं छोड़ा गया है। तुलसी के लिए सीता का चरित्र सदैव वंदनीय है- "उमा रमा ब्रह्मानि बंदिता । जगदंबा संततमनिंदिता ।" इसके पीछे तुलसी की नारी दृष्टि सक्रिय थी। नारी के दुख से द्रवित तुलसी लिखते हैं, "कत विधि सृजी नारि जगमाहीं । पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ।"

रामकथा के ऐसे ही एक अन्य अप्रिय प्रसंग 'शंबूक-वध' को 'रामचरितमानस' का अंग ना बनाना तुलसी की चेतना का ही प्रतिफल है। सामाजिक मर्यादाओं के प्रति तुलसी सचेत हैं। चाहे पारिवारिक बंधन हों या सामाजिक, मर्यादा का निर्वाह प्रत्येक बंधन का अनिवार्य धर्म है। बेटे, भाई, पति और राजा के रूप में तुलसी के राम का चरित्र, मर्यादा का पर्याय बन गया है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम इन्हीं अर्थों में हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं, जो पति की सहधर्मिणी बनकर उनके संघर्षों में हर पल साथ खड़ी हैं। सीता पातिव्रत्य की प्रतिमूर्ति हैं। राम के अलावा लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं। सिर्फ राम ही नहीं, सीता, लक्ष्मण, भरत, कैकेयी, दशरथ, मंथरा आदि चरित्र समाज के सामान्य मनुष्य की मानसिक वृत्तियों, संबंधों और व्यवहार के अनुकूल हैं। समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई परिवार का ढांचा इन्हीं संबंधों की नींव पर टिका है। लक्ष्मण, राम के अंगरक्षक की तरह उनकी सुरक्षा में तैनात हैं, तो वहीं भरत, राम की अनुपस्थिति में उनके अनुचर के रूप में राज्य-संचालन कर रहे हैं। मध्यकालीन भारतीय समाज में, जहाँ इस्लामी सत्ता के अंतर्गत तमाम पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो गई थीं, वहाँ तुलसी द्वारा रामराज्य की परिकल्पना किसी सामाजिक क्रांति से कम नहीं था।

अभिव्यक्ति पक्ष :- साहित्यकार की वास्तविक योग्यता उसके अभिव्यक्ति कौशल में ही परिलक्षित होती है। तुलसी भाषा, अलंकार, छंद आदि के प्रयोग में बेहद सचेत हैं। आइए उनके अभिव्यक्ति-कौशल पर विचार किया जाए।

भाषागत वैशिष्ट्य :- भाषा द्वारा ही कवि अपनी भावना से पाठकों को अवगत कर सकता है। तुलसीदास संस्कृत में पारंगत थे, किन्तु उन्होंने राम के चरित को घर-घर तक पहुंचाने के लिए अवधी और ब्रज का सहारा लिया। अवधी और ब्रज भाषा पर उनका समान अधिकार था। रामचरितमानस की भाषा अवधी है, तो वहीं विनयपत्रिका, दोहावली, कवितावली आदि ब्रजभाषा में रचित हैं। इन भाषाओं की मानक शब्दावली के अलावा इनकी बोलियों के ठेठ देशज शब्द भी इन्होंने प्रयोग किये हैं। इनके प्रयोग में प्रसंगानुकूलता और देश-काल का विशेष ध्यान रखा गया है। आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्दों का भी सुंदर प्रयोग मिलता है। उन्होंने अपनी भाषा को नदी के प्रवाह-सा बनाने के लिए विभिन्न भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। अरबी-फारसी के शब्दों को हिंदी भाषा की प्रकृति के अनुकूल ढाला है।

मुहावरों और लोकोक्तियों के सुंदर प्रयोग से उनकी भाषा और भी रोचक हो गई है। तुलसीदास को लोकसंस्कृति और लोकमन की गहरी समझ थी, इसीलिय लोक में प्रचलित मुहावरों और लोकमन की अभिव्यक्ति में वह परिपक्व हैं । 'रेख खंचाइ कहउँ बलु भाखी। भामिनि भइहु दूध कई भाखी ।।' में उन्होंने मुहावरे का सुंदर प्रयोग हुआ है। 'जस काछिय तस नाचिय नाचा', 'निजकृत कर्मभोग सब भ्राता', 'मोही तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो' आदि में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ अवध के जन-जीवन से सीधे ग्रहण की गई हैं ।

भाषा के साथ-साथ विभिन्न शैलियों और काव्यरूपों का प्रयोग तुलसी की लोकप्रियता का कारण है। जिस 'विरूद्धों के सामंजस्य' की कला में तुलसी की निपुणता के कायल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं, इसका सबसे सुंदर उदाहरण उनके भाषा प्रयोगों का वैविध्य है। 'शब्द और अर्थ की अभिन्नता' का सौन्दर्य उनकी भक्ति-भावना के सघन स्पर्श से परिपूर्ण हो गया है। तुलसी लिखते हैं, 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी', अर्थात वाणी के पास आँखें नहीं हैं, और आँखों के पास वाणी नहीं है, ऐसी स्थिति में अनुभव किए को अभिव्यक्त कर पाने में भाषा असमर्थ है। तुलसी की कविता में

तनाव ने विशेष आकर्षण पैदा किया है। उनकी कविता में भाव-बोध, इच्छा-क्रिया, रुचि-संयम, वर्ण्य विषय-अभिव्यक्ति, शब्द-अर्थ प्रत्येक स्तर पर द्वन्द्व विद्यमान है।

चरित्र-योजना :- मानव मनोविज्ञान के अनुकूल, युग सापेक्ष मन:स्थितियाँ और मनोवृत्तियाँ, देश काल के अनुकूल प्रतिक्रियाएँ, एक-दूसरे से भिन्न और विभिन्न मानव स्वभावों का परिचय देने वाले तुलसी द्वारा सृजित चरित्र विशिष्ट हैं। तुलसी साहित्य के चरित्र विशिष्ट होते हुए भी साधारण उत्तर भारतीय चरित्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। महाकाव्य के नायक के गुणों, उदात्तता, वीरता, गंभीरता, धैर्य, दयालुता, परदुखकातरता, करुणा, क्षमा, विनय से युक्त तुलसी के राम, साधारण मनुष्य नहीं, परमेश्वर हैं । मर्यादा का निर्वाह राम के चरित्र का विशेष गुण है। राम किन्हीं भी परिस्थितियों में विचलित नहीं होते, सदैव स्थिर रहते हैं। भावुक क्षणों में भी राम का चरित्र औदात्य से तनिक भी डिगता नहीं। परंतु मनुष्य की भूमिका में वे सामान्य भारतीय पुरुष, पति, पुत्र, भाई और राजा की मनोवृत्तियों को भलीभाँति प्रकट करते हैं। उनके जीवन का संघर्ष व्यक्ति को अपने जीवन का संघर्ष मालूम होता है।

भारतीय संयुक्त परिवार व्यवस्था में भरत का चरित्र आदर्श भाई का अद्वितीय उदाहरण हैं। कैकेयी के हठ द्वारा मिले राजपाट को अस्वीकार करना और माता द्वारा किये गए अन्यायपूर्ण कृत्य का प्रायश्चित स्वयं करना उनके चरित्र की विनम्रता का प्रमाण है। अपने अग्रज राम के प्रति भरत का अटूट प्रेम और सम्मान ही उनकी प्रतिष्ठा है। राम के प्रेम के कारण ही भारत अयोध्या में रहते हुए भी बनवासी का जीवन व्यतीत करते हैं- '*लषन राम सिव कानन बसहीं। भरत भवन बसि तपु तनु कसहीं/ दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू।*'

लक्ष्मण का चरित्र भी भरत की तरह अपने भाई के लिए पूर्णतः समर्पित है, परंतु उनमें भरत की तरह धैर्य और गांभीर्य नहीं है। वे दृढ़, निर्भय, क्रोधी, स्पष्टवादी और उत्साही हैं। वे राम के रक्षक और सेवक के गुणों से युक्त हैं। उनका व्यवहार आवेशपूर्ण है। राम की उपेक्षा या अपमान की आशंका होते ही वे राम के मर्यादित चरित्र की ढाल बन जाते हैं और राम की प्रतिक्रिया से पूर्व ही प्रतिक्रिया दे देते हैं।

दशरथ का चरित्र पुत्र-प्रेम और वचनबद्धता के निर्वाह के बीच के द्वन्द्व में ही विकसित हुआ है। दशरथ ने इन दोनों भूमिकाओं को आदर्श की चरमसीमा तक निभाया है। वचन की प्रतिष्ठा के लिए प्राणों से प्रिय पुत्र को वनवास की आज्ञा देना और पुत्र के वनवास की आज्ञा से उत्पन्न पश्चाताप और पुत्रशोक में प्राण त्यागना, उनके चरित्र की इन विशेषताओं की पुष्टि करता है। सीता, पतिव्रता और कोसल की कुलवधू हैं। वे दृढ़ संकल्पी, विदुषी, आज्ञाकारिणी, विनम्र, लज्जाशील, स्नेहमयी हैं। वे पति के पदचिन्हों पर चलने वाली पतिव्रता स्त्री का आदर्श रूप हैं। कैकेयी और मंथरा का चरित्र तुलसी की स्त्री स्वभाव विषयक निपुणता का परिचायक है। तुलसी ने चरित्रों के निर्माण, घटनाओं के चित्रण, संवाद-योजना और वस्तु-वर्णन में नाटकीयता का समावेश कर उसे सरस बना दिया है।

अलंकार-योजना :- तुलसीदास ने रीतिकालीन कवियों की तरह चमत्कार के लिए अलंकारों की योजना नहीं की है। उन्होंने कथा के प्रवाह को बनाए रखने और कल्पना के आवेग को सफ़ल करने के लिए अलंकारों की योजना की है। पात्रों के गुण और स्वभाव के वर्णन के लिए तुलसी ने मुख्य रूप से उत्प्रेक्षा, दृष्टांत और उदाहरण अलंकार का प्रयोग किया है। निम्न कोटि के मनुष्यों को भी आदर देने के राम के गुण को 'दृष्टांत' अलंकार के द्वारा तुलसी ने इस प्रकार वर्णित किया है- 'प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं।' विनपत्रिका में उदाहरण अलंकार का तुलसी ने सर्वाधिक प्रयोग किया है। मन के हठ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं- 'मेरो मन हरि हठ न तजै/ ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै/ ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै।' भाव और मनोवेगों के चित्रण में उन्होंने उत्प्रेक्षा अलंकार का खूब प्रयोग किया है। 'जानकी मंगल' में सीता की लज्जा को इस प्रकार वर्णित किया है-'सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ। सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फ़ेरइ'। तुलसी का एक प्रिय अलंकार रूपक है, जिसका अक्सर प्रयोग वे किसी घटना के चित्रण में करते हैं। छोटे-छोटे रूपकों के अतिरिक्त विस्तृत सांगरूपकों में साधर्म्य और सादृश्य का जैसा निर्वाह तुलसी ने किया है, वैसा हिंदी साहित्य में कोई और नहीं कर पाया है। रूप-सौंदर्य के लिए उन्हें उपमा बहुत अधिक पसंद है। गोस्वामी जी ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का अलग-अलग प्रयोग करने के साथ ही उभयालंकार का भी प्रयोग किया है, जिसमें दोनों की विशेषताएं समाहित होती हैं। एक उदाहरण देखिए- 'सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के/ लोचन नलिन भरे जल सिय के।' इसमें न, ल और भ वर्णों की आवृति से अनुप्रास की योजना की

गई है, साथ ही 'लोचन नलिन' में उपमा और रूपक अलंकारों का सम्मिश्रण है। गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का अध्ययन करने के पश्चात यह साबित होता है वे अलंकार शास्त्र में पारंगत थे।

छंद-योजना :- आधुनिक कविता में छंद प्रयोग की विविधता को मुक्त छंद ने प्रतिस्थापित कर दिया है, परंतु मध्यकालीन कविता में छंदों के प्रयोग से कविता की सुंदरता का निर्धारण होता था। तुलसीदास छंदों की महत्ता को समझते हुए इनके प्रयोग के प्रति सचेत हैं, और चमत्कार से बचते हुए छंदों का स्वाभाविक प्रयोग करते हैं। दोहा, चौपाई, सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, टोटक आदि अपने समय के सभी प्रचलित छंदों का सफ़ल विधान तुलसी ने अपनी कविता में किया है। शास्त्र सम्मत छंदों के अतिरिक्त उन्होंने सोहर जैसे लोक छंदों के आधार पर भी रचना की है। उनकी अलग-अलग रचनाओं का आधार अलग-अलग छंद हैं। 'रामचरितमानस' का प्रधान छंद दोहा-चौपायी है, तो 'कवितावली' का घनाक्षरी, छप्पय और मनहर। 'पार्वती मंगल' तथा 'जानकी मंगल' की रचना हरिगीतिका छंद में हुई है। 'बरबैरामायण' बरवै छंद में, 'रामललानहछू' सोहर छंद में, 'दोहावली' एवं 'वैराग्यसंदीपनी' दोहा और सोरठा छंदों में रचित हैं।

4.3.3 तुलसीदास की समन्वय-भावना :

संसार के विकास के अबतक दो ही मार्ग बताये गये हैं- संघर्ष और समन्वय। भौतिकवादी विचारक द्वंद्व एवं संघर्ष को दुनिया के विकास का मूल कारण मानते हैं और आदर्शवादी चिंतक समन्वय को। कार्ल मार्क्स जैसे पश्चिमी विचारकों ने द्वंद्व को पर्याप्त महत्त्व दिया है। इसके विपरीत भारतीय चिंतकों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' जैसे वाक्यों के माध्यम से दुनिया को अपना घर कहा और आपसी सद्भाव के द्वारा मानवता के विकास की नींव रखी। भारत का मध्यकाल धार्मिक असहिष्णुता, जातिगत भेदभाव, सांप्रदायिक संघर्ष और स्वार्थों की टकराहट का समय था। सत्ताधारी वर्ग में अकबर ने और साहित्य की दुनिया में तुलसीदास ने समन्वय की विराट चेष्टा के द्वारा भारतीय जनजीवन में सहिष्णुता और शांति का प्रसार किया। अकबर द्वारा 'दीन-ए-इलाही' जैसे धर्म के निर्माण का प्रयास भारतीय राजनीति में समन्वय की अभूतपूर्व पहल थी। तुलसी ने भी अपनी लेखनी द्वारा हिन्दू समाज में विद्यमान अनेकानेक भेदभावों को समाप्त करने की कोशिश की और

अकबर की तुलना में ज्यादा सफ़ल रहे। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी समन्वय-बुद्धि की प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' में लिखा है कि, "तुलसीदास के काव्य की सफ़लता का एक रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय-शक्ति में है। उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान प्राप्त था। उनके काव्य-ग्रंथों में जहाँ लोक-विधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वहीं शास्त्र के गंभीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफ़लता दी। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चांडाल का. पंडित और अपंडित का समन्वय। 'रामचरितमानस' के आदि से अंत दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना है। इससे अच्छा चुनाव हो भी नहीं सकता था।"

शैव और वैष्णव का समन्वय:-भारतीय धर्म-साधना में त्रिदेव के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना की गयी है। इसमें ब्रह्मा को सृष्टि का निर्माता, विष्णु को उसका पालक और शिव को उसका संहारक माना जाता है। ब्रह्मा के नाम पर तो किसी संप्रदाय की स्थापना नहीं हुई, लेकिन विष्णु की पूजा करने वाले भारत में 'वैष्णव' कहलाये और शिव के उपासकों को 'शैव' कहलाये। तुलसी के पहले वैष्णवों और शैवों के बीच का विरोध भाव चरम पर था। इनके अनुयायियों के बीच खूनी संघर्ष चल रहा था। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में कथात्मक योजना के साथ-साथ स्पष्ट कथनों द्वारा इनके बीच समन्वय का ऐसा दृढ़ प्रयास किया कि आज यह सहज विश्वास करना भी कठिन है कि शैव और वैष्णव कभी अलग-अलग भी थे। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राम की कथा शिव के मुख से कहलवायी है और कई स्थलों पर स्वयं शिव राम को अपना इष्ट देव बताते हैं। शिव कहते हैं- *'सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।* और *'जपहिं सदा रघुनायक नामा, जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा।'* दूसरी तरफ़ राम शिव को अपना आराध्य मानते हैं और जब सीता की खोज में समुद्र पार करने के लिए रामेश्वरम में सेतु का निर्माण करते हैं तब वहाँ विधिवत शिव की मूर्ति की स्थापना कर उनकी पूजा करते हैं-'लिंग थापि विधिवत करि पूजा'। राम अपने मुख से

भी की स्थलों पर शिव की प्रशंसा करते हैं और एक जगह पर तो शिव के विरोधियों को नरकगामी तक कह दिया है। राम के शब्द हैं-

"सिव द्रोही मम भगत कहावा, सो नर सपनहुँ मोहि न पावा।

संकर विमुख भगति चह मोरी, सो नारकी मूढ़ मति थोरी।

संकर प्रिय मम द्रोही, सिब द्रोही मम दास।

ते नर करहिं कल्पभर, घोर नरक महुँ बास।"

इस पंक्ति के पश्चात किसी भी रामभक्त के लिए शिव या शिव-भक्त की उपेक्षा संभव नहीं थी।

वैष्णव और शाक्त का समन्वय :- देवी अर्थात शक्ति की अराधना करने वाले भक्तों को शाक्त कहा जाता था। तुलसी के पहले 'शाक्त मत' भारत के बेहद शक्तिशाली मतों में से एक था। असम का 'कामाख्या मंदिर' शाक्त मतावलम्बियों का मुख्य केंद्र था। बंगाल और असम प्रांत में आज भी उनका प्रभाव है। शैवों और वैष्णवों के आपसी संघर्ष के अलावा उनकी लड़ाई शाक्तों से भी थी। तुलसी ने सीता और पार्वती को शक्ति का एक रूप कहकर राम और शिव से उनकी अभिन्नता और अधीनता स्थापित कर दी। 'रामचरितमानस' में तुलसी ने सीता को ब्रह्म की शक्ति बताकर उनकी प्रार्थना की और इस तरह शाक्तों के भीतर विद्यमान विद्वेष को समाप्त कर दिया। उन्होंने लिखा-

"नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥

भव-भव विभव पराभव कारिनि। विस्व विमोहनि स्ववस विहारिनि॥"

सगुण और निर्गुण का समन्वय :- तुलसीदास और उनके पूर्ववर्ती निर्गुण कवियों के बीच राम का नाम बेहद लोकप्रिय था। विवाद सिर्फ़ इस बात पर था कि वे 'दशरथ-सूत' हैं या नहीं। निर्गुण कवि राम को ब्रह्म मानते थे और उनके नाम की महिमा का गुणगान करते थे। तुलसी ने अपने अनेक पदों में राम के नाम को ब्रह्म राम से बड़ा बताकर सहज ही सगुण और निर्गुण के विवाद को शांत कर दिया। उन्होंने लिखा है- '*जपहिं नाम जन आरति भारी/ मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी*।' उन्होंने

अपने राम को उन्हीं विशेषणों से नवाजा जिनका आरोपण निर्गुण कवि अपने ब्रह्म पर करते थे। निर्गुण और सगुण के अंतर को निरर्थक बताते हुए उन्होंने स्पष्ट घोषणा की-

"अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥"

तुलसी का कहना है कि वेद, पुराण सबमें लिखा है कि सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है, दोनों समान हैं। निर्गुण ईश्वर ही भक्तों के प्रेम में बंधकर सगुण रूप धारण करता है। इन दोनों का संबंध पानी और बर्फ़ जैसा है। इस तत्व ज्ञान के बाद सगुण और निर्गुण के विवाद के लिए कोई जगह ही नहीं बच पायी।

ज्ञान और भक्ति का समन्वय :- निर्गुण मत को मानने वाले ज्ञान की महत्ता स्थापित करते थे जबकि सगुण मतावलंबी भक्ति की महिमा बखान करते थे। इस वजह से इनके बीच पर्याप्त विवाद था जिसकी मुखर अभिव्यक्ति कृष्णभक्त कवियों ने 'भमरगीत प्रसंग' में किया है। तुलसी का स्वाभाविक झुकाव भक्ति की ओर था लेकिन अपनी समन्वय-बुद्धि की वजह से वे ज्ञान और भक्ति के बीच किसी भी प्रकार का तनाव नहीं चाहते थे। उन्होंने ज्ञान की श्रेष्ठता की घोषणा करते हुए लिखा- *'कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना, नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना'* और भक्ति के विषय में उनकी राय थी कि, *'भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी'*। तुलसी अकेले ज्ञान को कठिन राह मानते थे- *'ग्यान क पन्थ कृपान की धारा'*। वे ज्ञान और भक्ति के मेल में ही भगवान से मिलन की राह संभव देख रहे थे- *'स्रुति सम्मत हरि-भगति पथ संजुत विरति विवेक'*। इसी आधार पर उन्होंने ज्ञान और भक्ति के बीच अभेद की स्थापना की। उन्होंने लिखा कि, '*भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा*'। तात्पर्य यह कि ज्ञान और भक्ति में कोई अंतर नहीं दोनों ही सांसारिक कष्टों के निवारण और भगवान के साथ मेल कराने में सहायक हैं।

जातिगत भेदभाव के बीच समन्वय :- तुलसी पर यह आरोप है कि उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का समर्थन कर जातिगत भेदभाव को बढ़ावा दिया। 'रामचरितमानस' के 'उत्तरकांड' में कलिकाल वर्णन के

दौरान उन्होंने जातिगत असमानता की समाप्ति को कलिकाल के आगमन की वजह बताया और द्विजों की श्रेष्ठता की पुनर्स्थापना की। इस बात में सच्चाई है और इसकी वजह संभवत: सवर्ण समाज का तात्कालिक दबाव हो। इस संबंध में इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि 'रामचरितमानस' में द्विजों की श्रेष्ठता से संबंधित पंक्तियाँ कथा के प्रवाह में न आकर अनायास आती हैं जबकि द्विज और शूद्र की समानता के विचार कथा के मूल में स्थित हैं।अनेक स्थलों पर उन्होंने ब्राह्मणों को लोलुप और कामी तक कहा है- '*बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।*' राम या 'रामचरितमानस' का कोई भी पात्र व्यवहार के स्तर पर निम्न जाति के किसी भी व्यक्ति से भेदभाव नहीं करता। क्षत्रिय राम और ब्राह्मण वशिष्ठ, शूद्र निषादराज को गले लगाते हैं। राम शूद्र शबरी के जूठे बेर खाते हैं। जंगल में रहने वाली तमाम अस्पृश्य जातियों को राम अयोध्यावासियों जैसा सम्मान देते हैं। तात्पर्य यह कि तुलसी का स्वाभाविक विवेक रामकथा में जातिगत असमानता का विरोध करता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तुलसी द्वारा शूद्र शम्बूक के वध को 'रामचरितमानस' से बाहर कर देना है। सैद्धांतिक स्तर पर भी तुलसी इस समस्त सृष्टि को राममय मानते हैं और इसमें स्थित किसी भी जीव के बीच भेदभाव का समर्थन नहीं करते। जगत के समस्त प्राणियों को राममय जानकर उनको नमन करते हुए तुलसी लिखते हैं- *'सियाराम मय सब जगु जानि। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।'*

राजा और प्रजा के बीच समन्वय :- तुलसीस का समय सत्ता का चरित्र जन-विरोधी था। मुस्लिम शासकों ने धार्मिक विद्वेष की वजह से बहुसंख्यक हिन्दू जनता पर अनेक कर लगाकर उनका जीना मुश्किल कर दिया था। राजा को अपने आनन्द के सामने जनता के असंख्य दुखों की कोई फ़िक्र नहीं थी। 'उत्तरकांड' और 'कवितावली' में कलिकाल वर्णन के बहाने तुलसी ने अपने समय के भयानक सच को अभिव्यक्त किया है और 'रामराज्य' के रूप में उसका विकल्प प्रस्तुत किया है। 'कलिकाल' का सच यह है कि राजा पाप परायण है और धर्मविहिन होकर वह नित्य ही प्रजा को दंडित करता है- '*नृप पाप परायन धर्म नहीं। कर दंड विडंब प्रजा तिनहीं*' तुलसी के अनुसार राजा और प्रजा के बीच पिता-पुत्र का संबंध होना चाहिए। 'रामचरितमानस' के 'अयोध्याकांड' में 'चित्रकूट प्रसंग' के दौरान राम-भरत के बीच हुए संवाद में राजा-प्रजा की भूमिका का निर्धारण और उनके बीच समन्वय के सूत्र दिये गये हैं। '*जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी*' के

धमकी भरे सत्य का उद्घाटन करने वाले तुलसी के लिए राजा और प्रजा के बीच मुख और शरीर के अन्य अंगों जैसा संबंध या समन्वय होना चाहिए। श्रम करे कोई, खाये कोई, लेकिन उसका लाभ सबको समान रूप से मिले। तुलसी का कथन है-

"मुखिया मुखु सों चाहिए, खान-पान कहुँ एक।

पालदू पोषदू सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥"

पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय :- परिवार समाज का केन्द्र-बिन्दु होता है। यहां प्राप्त आदर्श और विचार ही मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। तुलसी के 'रामचरितमानस' के केन्द्र में परिवार है। पारिवारिक मूल्य और मर्यादा की जैसी रचना 'रामचरितमानस' में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, मालिक-दास, सास-बहू के बीच किस तरह का संबंध होना चाहिए इसका आदर्श रूप इस रचना में उपलब्ध है। उत्तर भारतीय समाज पर 'रामचरितमानस' का इतना प्रभाव है कि आज भी पारिवारिक संबंधों में जब कभी भी तनाव उत्पन्न होता है तब इसकी चौपाईयाँ उसके समाधान में मदद करती हैं। तुलसी परिवार में मर्यादा के बहुत महत्व देते हैं क्योंकि मध्यकालीन समाज के अनुभवों से उन्होंने जाना था कि इसका अभाव परिवार को ही युद्ध का रक्तरंजित मैदान बना देगा। तुलसी ने पारिवारिक मर्यादा के सूत्रों का सृजन कर भारतीय परिवारों में समन्वय की बेजोड़ कोशिश की। इसके अभाव में भारतीय कुटुम्ब में जुड़ाव शायद कम होता।

लोक और शास्त्र का समन्वय तुलसी संस्कृत और उसमें रचित शास्त्र के बहुत बड़े ज्ञाता थे लेकिन उन्होंने ने अपनी रचना का माध्यम अवधी और ब्रज जैसी लोकभाषाओं को बनाया। तुलसी को पता था कि संस्कृत का ज्ञान समाज के सीमित वर्ग के पास ही है और वे चाहते थे कि शास्त्र का ज्ञान जन-जन तक पहुँचे। तुलसी ने राम की कथा भी केवल संस्कृत परंपरा के आधार पर ही नहीं रची बल्कि उसमें अवध प्रांत की लोककथाओं और लोकशैलियों का भी समन्वय किया। 'रामचरितमानस' में तुलसी ने लिखा कि इसमें प्रस्तुत रामकथा आगम (लोक-परंपरा) और निगम (वैदिक-बौद्धिक परम्परा शास्त्र) दोनों परम्पराओं के मेल से रचित है- 'नाना पुराण निगमागम सम्मत तुलसी रघुनाथ गाथा।' तुलसी ने अपने अनेक रचनाएँ लोक में उपलब्ध काव्य-रूपों में किया

है। 'राम लला नहछू', 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' में अवध प्रांत में प्रचलित लोकशैलियों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है।

संस्कृत एवं लोकभाषाओं का समन्वय :- तुलसी का भाषा पर असमान्य अधिकार था। उनकी कविता को पढ़कर यह तय कर पाना कठिन है कि अवधी और ब्रज जैसी भाषाओं का उन्हें अधिक ज्ञान था या संस्कृत का। 'रामचरितमानस' में संस्कृत मे लिखे श्लोकों को पढ़कर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि इस रचना को संस्कृत में लिख देने की उनके पास योग्यता थी, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि वे राम के चरित को आम जन तक पहुँचाना था। 'रामचरितमानस' के साथ-साथ अपनी अन्य रचनाओं में भी तुलसीदास ने संस्कृत और लोकभाषाओं के बीच समन्वय की अद्‌भुत चेष्टा की है। उनकी रचनाओं में लोकभाषाओं के साथ संस्कृत का बड़ी चतुराई के साथ मिश्रण किया गया है। इस कारण उनकी भाषा में दुर्लभ लचीलापन अवसरानुकूल भाषिक प्रयोग देखने को मिलता है। 'रामचरितमानस' में भगवान की अराधना देववाणी संस्कृत में की गयी है जबकि उनका चरित लोकभाषाओं में गाया गया है। चरित्र के अनुसार भी उनकी भाषा में परिवर्तन होता है। निषाद की भाषा जितनी सरल और अकृत्रिम है, वशिष्ठ की भाषा उनती ही विद्वतापूर्ण और गूढ़।

रामकथा में समन्वय :- तुलसी ने रामकथा का आधार भले ही वाल्मीकि से लिया हो लेकिन अपने समय के अनुकूल बनाने के लिए उसमें पर्याप्त बदलाव किया। वाल्मीकि के राम आम आदमी की तरह व्यवहार करते हैं जबकि तुलसी हर पंक्ति में यह घोषणा करते हैं कि उनके राम आम इंसान न होकर विष्णु के अवतार हैं। भारतीय समाज में राम नाम प्राचीन काल से ही सर्वस्वीकार्य रहा है। हिन्दू, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त आदि तमाम संप्रदायों में राम की कथा का प्रचलन और प्रभाव रहा है। भारत की शायद ही कोई भाषा हो जिसमें किसी-न-किसी प्रकार से रामकथा का प्रचलन न हो। कबीर ने अपने निर्गुण ब्रह्म को इसीलिए राम का नाम दिया। विभिन्न संप्रदायों में विभक्त भारतीय समाज की एकता के लिए ही तुलसी ने रामकथा को अपने दर्शन का आधार बनाया और उसमें तमाम संप्रदायों और दर्शनों का समावेश कर दिया। उन्होंने अपने राम को कई स्थलों पर 'गरीब नवाज' कहा है जो कहीं-न-कहीं हिन्दू और इस्लाम धर्म के बीच की खाई को पाटने की ही कोशिश

लगती है। तुलसी की विशाल लोकप्रियता और सर्वस्वीकार्यता का रहस्य भी यही है। उनके राम में हर भाषा और समुदाय का व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है। तुलसी द्वारा रामराज्य की परिकल्पना समन्वय की उनकी विराट चेष्टा का काल्पनिक मूर्त रूप है। उनके राम के राज्य में किसी प्रकार का द्वेष और अशांति नहीं है। वहाँ कोई भी दुखी नहीं है। रोग और परेशानियों की नाम मात्र की उपस्थिति भी नहीं है। राम-राज्य के विषय में उन्होंने लिखा है- '*राम राज बैठे त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका' और 'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा'।*

4.4 **कठिन शब्द**:-

अद्वैतवाद :- यह शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित एक दार्शनिक सिद्धांत है। इसके अनुसार केवल ब्रह्म सत्य है बाकी सब मिथ्या या झूठ है। शंकराचार्य का मानना था कि यह समस्त संसार मिथ्या है। माया के प्रसार के कारण हम इस मिथ्यात्व को समझ नहीं पाते और भ्रम की स्थिति में रहते हैं। ज्ञान द्वारा जब किसी व्यक्ति को इसका अहसास होता है तब वह माया के भ्रम को तोड़कर ईश्वर से मिल जाता है। 'अद्वैत' का मतलब है जीव और ब्रह्म का एक होना। माया इन दोनों को अलग करता है और ज्ञान इनके पार्थक्य को समाप्त कर देता है।

एकेश्वरवाद :- अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद को एक ही मानने की गलती की जाती है जबकि इन दोनों में मूलभूत अंतर है। एकेश्वरवाद में एक ईश्वर की परिकल्पना की जाती है जिसने इस दुनिया और हम इंसानों को बनाया। इस विचार के अनुसार ईश्वर और जीव अलग-अलग हैं। दोनों कभी एक नहीं हो सकते। जबकि अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ईश्वर में मूलत: कोई अंतर नहीं है। इस्लाम, ईसाइयत और यहूदी एकेश्वरवादी धर्म हैं लेकिन इसके मानने वाले अद्वैतवादी नहीं हैं।

सूफ़ी :- इस्लाम के रहस्यवादी 'सूफ़ी' नाम से जाने जाते हैं। सूफ़ियों के दर्शन को तसव्वुफ़ कहा जाता है। सूफ़ी ऐसे साधक होते थे जो संसार को त्यागकर परमात्मा के प्रेम में लीन रहते थे। ये इस्लाम को मानने वाले होते थे लेकिन इन्होंने इस्लाम की कई मान्यताओं में बदलाव भी किया।

संगीत इनके लिए अल्लाह की आराधना का साधन था। निजामुद्दीन औलिया और मुईदीन चिश्ती भारत के प्रमुख सूफ़ी संत थे।

भवसागर:- भक्त-कवियों ने संसार को भवसागर की उपाधि दी है। उनका मानना है कि जो मनुष्य अच्छे काम करता है और भगवान की सेवा में लगा रहता है, भगवान उस पर प्रसन्न होकर उसे इस भवसागर के पार लगा देते हैं। मतलब जन्म-मरण के बंधन से मुक्त कर देते हैं।

4.5 सहायक **पुस्तकें:-**

सूर-साहित्य- हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य- मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

लोकवादी तुलसीदास- विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

त्रिवेणी- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

4.6 **अभ्यास प्रश्न**:-

1. निम्नलिखित पद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए-

क) **हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।**
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहि जाइ गुसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस परयो कीर की नाई॥
सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई॥

ख) **ऊधो! जाहु तुम्हैं हम जाने।**
स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिँ पठाए तुम हौ बीच भुलाने।।
ब्रजबासिन सौँ जोग कहत हौ, बातहु कहन न जाने।

बड़ लागै न बिबेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने॥

हमसौं कही लई सो सहिकै जिय गुनि लेहु अपाने।

कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर सँमुख करौ, पहिचाने॥

ग) **निर्गुन कौन देस को बासी?**

मधुकर! कहि समुझाय, सौंह दै, बूझति साँच, न हाँसी।।

को है जनक, जननी को कहियत, कौन नारि, को दासी?

कैसौ बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी॥

पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।

सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठग्यौ सो सूर सबै मति नासी॥

घ) **साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैन लियो है।**

बान कमान निषंग कसे, सिर सोहै जटा, मुनिवेष कियो है॥

संग लिये बिधुबैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो है।

पाँयन तो पनही न, पयादेहिं क्यों चलिहैं? सकुचात हियो है॥

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

क) तुलसीदास की भक्ति-भावना के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिये।

ख) 'सूरदास का वात्सल्य वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।' इस पंक्ति के आलोक में सूरदास के वात्सल्य-वर्णन पर विचार कीजिए।

ग) सूरदास का सामान्य परिचय दीजिए।

घ) तुलसीदास की समन्वय भावना पर सोदाहरण विचार कीजिए।